THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

80

PURĀṆAVIMARŚA

[Authentic Solution of the Critical Problems of Purāṇas.]

BY

BALDEVA UPADHYAYA

Head of the Purāṇa-Itihāsa Deptt.

Sanskrit University, Varanasi.
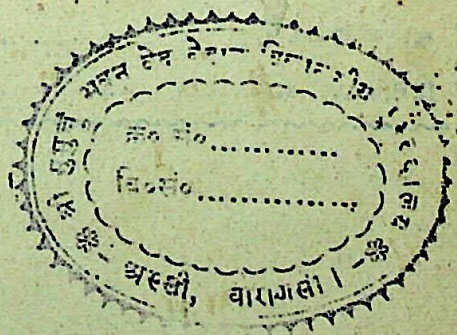
THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1965

Alsocan be had of

THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

Publishers & Antiquarian Book-Sellers

POST BOX 8. VARANASI-1 (India) PHONE : 3145

व्यास प्रशस्ति

(१)

जयति पराशर सूनुः
सत्यवती-हृदय-नन्दनो व्यासः ।
यस्यास्यकमलकोशे
वाङ्मयममृतं जगत् पिबति ॥

—वायु १।२

(२)

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणः ॥

—आदिपर्वणि

(३)

वाग्विस्तरा यस्य बृहत्-तरङ्गा
वेलातटं वस्तुनि तत्त्वबोधः ।
रत्नानि तर्कप्रसरप्रकाराः
पुनात्वसौ व्यासपयोनिधिर्नः ॥

—सर्वज्ञात्ममुनेः संक्षेपशारीरके

(४)

दुस्तर्क-जाल विसकण्टक वृक्षषण्ड-
पाषण्डवाद-बहु गुल्मलतोपरोधम् ।
निर्धूत-मुक्तिपथमुद्धृत-कण्टकं य-
श्चक्रे पराशर-सुताय नमोऽस्तु तस्मै ॥

—ज्ञानघनाचार्यस्य तत्त्वशुद्धौ

(५)

प्रमाणजातैरवबुध्य यस्य
सारं पदं त्यक्तभवा भजन्ते ।
जना निजानन्द-पदेच्छवोऽलं
तं वासवी-सूनुमहं प्रपद्ये ॥

—प्रमादापद्धति भाव विवरणे

पुराण प्रशस्ति

(१)

आत्मनो वेदविद्या च ईश्वरेण विनिर्मिता
शौनकीया च पौराणी धर्मशास्त्रात्मिका तु या ॥
तिस्रो विद्या इमा मुख्याः सर्वशास्त्रविनिर्णये
पुराणं पञ्चमो वेद इति ब्रह्मानुशासनम् ॥
वेदा प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ।
आत्मा पुराणं वेदानां पृथगङ्गानि तानि षट् ।
यन्न दृष्टं हि वेदेषु तद् दृष्टं स्मृतिभिः किल ॥
उभाभ्यां यन्न दृष्टं हि तत् पुराणेषु गीयते
पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ॥

—स्कन्द, रेवाखण्ड १ । १७-१८; २२-२

(२)

यथा पापानि पूयन्ते गङ्गावारिविगाहनात् ।
यथा पुराण-श्रवणाद् दुरितानां विनाशनम् ॥

—वामन ९५।८६

(३)

सर्ववेदार्थसाराणि पुराणानीति भूपते ॥
तर्कस्तु वाद-हेतुः स्यान्नीतिस्त्वैहिकसाधनम्
पुराणानि महाबुद्धे इहामुत्र सुखाय हि ॥
अष्टादश पुराणानि यः शृणोति नरोत्तमः ।
कथयेद्वा विधानेन नेह भूयः स जायते ॥

—नारदीय पु० ११।६१-६२

(४)

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने ।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ॥

—नारदीय पु० २।२४।१७
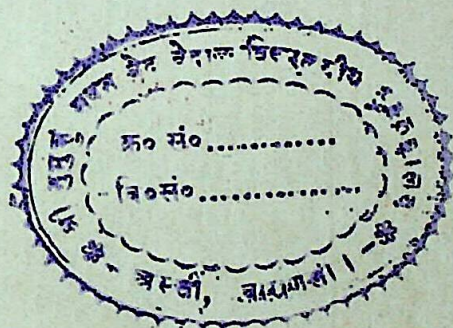
आचार्य बलदेव उपाध्याय
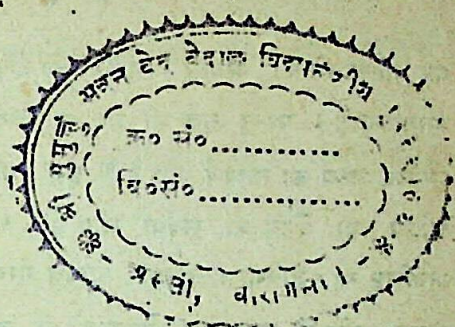
वक्तव्य

आज मुझे 'पुराण विमर्श' नामक यह नवीन पुस्तक वैदिक धर्म तथा साहित्य के तत्त्व जिज्ञासुओं के सामने प्रस्तुत करते समय अपार हर्ष हो रहा है। इसमें पुराण के विषय में उत्पन्न होनेवाली नाना जिज्ञासा तथा समस्या का समाधान पौराणिक अनुशीलन के आधार पर उपस्थित करने का लघु प्रयत्न किया गया है।

पुराण के विषय में इधर प्रकाशित ग्रन्थों से इसका वैलक्षण्य साधारण पाठक को भी प्रतीत हो सकता है। आजकल पुराण के ऐतिहासिक पद्धति से विश्लेषण की प्रथा इतनी जागरूक है कि उससे पुराण एक जीवित शास्त्र न होकर अजायब घर में रखने की एक चीज बन जाता है। उसके अंग-प्रत्यंग का इतना निर्मम विश्लेषण आज किया जाता है कि उसके मूल में कोई तत्त्व ही अवशिष्ट नहीं रह जाता। वर्तमान अध्ययन की दिशा इस ओर एकान्ततः नहीं है। लेखक के एक हाथ में श्रद्धा है, तो दूसरे हाथ में तर्क। वह श्रद्धा-विहीन तर्क का न तो आग्रही है और न तर्कविरहित श्रद्धा का पक्षपाती। इन दोनों के मञ्जुल समन्वय के प्रयोग से ही पुराण का यथार्थ अनुशीलन किया जा सकता है।

ध्यान देने की बात है कि पुराण के तथ्यों में आपाततः यथार्थता आभासित न होने पर भी उनके मूल में, अन्तरंग में यथार्थता विराजती है, परन्तु इसके लिए चाहिये उनके प्रति सहानुभूति, बहिरंग को हटाकर अन्तरंग

को पहिचानने का प्रयास। पुराणों की दृष्टि में इस कलियुग में शूद्र का ही माहात्म्य है। परन्तु आज भी जब चातुर्वर्ण्य का प्रासाद खड़ा ही हैं, तब इस मौलिक तथ्य का तात्पर्य क्या है ? इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का सर्वथा लोप हो जावेगा और शूद्र ही एकमात्र वर्ण अवशिष्ट रह जावेगा। इसका तात्पर्य गम्भीर है। शूद्र का धर्म है सेवा। फलतः कलि में सब लोग सेवक ही हो जावेंगे, कोई भी स्वामी या प्रभु न रह जावेगा; इस कथन का यही अर्थ है जो आज की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में यथार्थ उतरता है। आज की दुनिया में कोई भी स्वामी नहीं, सब ही तो सेवक या दास हैं। 'राजा' का सर्वथा लोप ही हो गया संसार से और जहाँ वह बचा-खुचा भी है, वहाँ वह अपने को प्रजा का सेवक यथार्थतः मानता ही नहीं, प्रत्युत वह सेवक है भी। किसी व्यावसायिक प्रतिष्ठान का करोडपति मालिक भी आर्थिक कठिनाइयों को दूर हटाने के लिए उसका मालिक नहीं होता, प्रत्युत वह नियमतः तनख्वाह लेकर उसका सेवक होता है। किसी स्वतन्त्र देश का प्रधान-मन्त्री (जिसका पद निश्चयरूपेण सर्वापेक्षया समुन्नत है) जनता का 'प्रथम सेवक' मानने में गौरव बोध करता है और वस्तुतः उस जनता का सेवक है ही, जो इस लोकतान्त्रिक युग में दो दिनों में विरुद्ध मत देकर उसे आधिपत्य के पद से हटाने की शक्ति रखती है। संसार के इस वातावरण में शूद्र की सार्वभौम स्थिति नहीं है, तो किसकी है ? फलतः कलियुग में शूद्र की धन्यता तथा महत्ता का पौराणिक कथन सर्वथा सत्य है तथा गम्भीरता-पूर्वक सत्य है।

वर्तमान समय लौहयुग है; क्या इसे प्रमाणों से पुष्ट करने की आवश्यकता है। कल कारखानों के लिए ही लोहे का प्रयोग नहीं है, प्रत्युत वह 'स्टेनलेस स्टील' के रूप में राजा से लेकर रंक तक के घरों में भोजन-पात्र के रूप में आज विराजता है। धर्मशास्त्र के द्वारा निषिद्ध होने पर भी लोहे का पात्र आज सर्वत्र समादृत तथा प्रयुक्त होता है।

पुराण के महात्म्य के प्रसंग में रामकृष्ण परमहंस का एक विशिष्ट कथन उल्लेखनीय है :—

स्वामी विवेकानन्द जी ने रामकृष्ण से एक बार पूछा—क्या पुराणों के कथानक सत्य हैं ?

परमहंस जी ने उत्तर में कहा—क्या पुराणों के तथ्यों में सत्यता है या नहीं ?

विवेकानन्द—हाँ, उन तथ्यों में सत्यता तो निश्चयरूपेण हैं।

रामकृष्ण—तब पुराणों के कथानकों में सत्यता वर्तमान है। परमहंस जी के उत्तर का निष्कर्ष यह है कि पुराणों के बहिरंग पर हमें कभी ध्यान न देना चाहिए। उनका अन्तरंग अर्थात् अन्तः वर्णित तथ्य वेदानुकूल होने से प्रमाण कोटि में निश्चित रूप से आता है, तब हमें उनके बहिरंग की सत्यता के विषय में संशयालु न होना चाहिए।

पुराणों की विशिष्ट शैली से परिचित न होने के कारण अन्तरंग की सत्यता में भी विद्वानों को सन्देह बना हुआ है। संस्कृत भाषा के त्रिविध साहित्य की शैली में नितान्त पार्थक्य है—

वेद की शैली है *रूपकमयी*।
पुराण की शैली है *अतिशयोक्तिमयी*।
ज्योतिष की शैली है *स्वभावोक्तिमयी*।

ज्योतिष वैज्ञानिक साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। विज्ञान स्वभावोक्ति का उपयोग करता है अपने वर्णनों में। वेद की शैली में रूपक का प्राधान्य है, परन्तु इन दोनों से विलक्षण है पुराण की शैली, जिसमें अतिशयोक्ति का साम्राज्य विराजता है। एक दृष्टान्त से इसे समझना चाहिये। वर्षा का वर्णन इन तीनों साहित्यों में विशिष्ट दृष्टि से किया गया है। ज्योतिष वर्षा का वर्णन स्वभावोक्ति में करता है—किस नक्षत्र में कैसी वायु बहती है और किस प्रकार के मेघ उत्पन्न होते हैं, किस प्रकार के मेघों से कितनी वृष्टि होती है, और वृष्टि के अवरोधक कौन है और उनका नाश कैसे होता है आदि आदि वेद इसी तत्व को इन्द्रवृत्र के युद्ध का रूपक प्रदान करता है। वृष्टि को निरोध करने वाला तत्व ही वृत्र है (जिसका अक्षरार्थ ही है सबको घेरनेवाला पदार्थ)।

वृत्र अवर्षण का राक्षस है। इन्द्र वृष्टि का देवता है। दोनों तत्त्वों में उत्पन्न संघर्ष इस इन्द्र-वृत्रयुद्ध के द्वारा संकेतित किया जाता है। पुराण में यही तत्त्व अतिशयोक्ति के लपेट में वर्णित है। इन्द्र है देवों का राजा तथा वृत्र है असुरों का अधिपति। दोनों अपना प्रामुख्य चाहते हैं। वृत्र इन्द्र को परास्त करने के उद्योग में निमग्न रहता है, तो इन्द्र वृत्रको ध्वस्त करने के लिये उद्यमशील है। इन्द्र ऐरावत हाथी के ऊपर चढ़ कर संग्राम में उतरता है, तो वृत्र भी तदनुसार हाथी की सवारी पर आता है। दोनों के सहायक सैन्यों की संख्या गणनातीत है। पुराण इन देवासुर संग्राम का बड़ा ही रोचक तथा पुष्ट वर्णन करता है। ध्यान देने की बात यही है कि यहाँ तीनों ग्रन्थ एक ही अभिन्न तत्त्व का ही वर्णन करते हैं। ज्योतिष के द्वारा स्वभावोक्ति में वर्णित तथा वेद में रूपक-द्वारा उद्भासित तथ्य ही पुराण की अतिशयोक्तियों के द्वारा अपनी अभिव्यञ्जना करता है। *शैलीभेदात् वर्णनभेदः न तु तथ्यभेदः*—यही यथार्थ है। फलतः जो व्यक्ति वेद में आस्था रखता है, परन्तु पुराण में श्रद्धा नहीं रखता, वह वस्तुतः स्वतोविरुद्ध बातें करता है। दोनों में अभिव्यक्त तत्त्व तो एक ही ठहरा। फलतः वेद में श्रद्धा की तथा पुराण में अश्रद्धा की समभावेन स्वीकृति नितान्त विरुद्ध होने से अपना मूल्य नहीं रखती।

पुराणों के कथनों में सचाई है और गहरी सचाई है—यह किसी भी विवेकशील अध्येता के ध्यान में आ सकती है, परन्तु इस अध्ययन के लिए चाहिए अनुसन्धाता में सहानुभूति तथा इमानदारी। विना इनके पुराण का अनुशीलन भारतवर्ष के लोगों के लिए किसी प्रकार भी उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। लेखक ने पुराण के इस सार्वभौम पक्ष की यथासाध्य उपेक्षा नहीं की है। वह चाहता है कि वैदिक धर्म के तत्त्वों का जिज्ञासु पाठक पुराणों का गम्भीर अध्ययन कर उसके परिणाम को अपने जीवन में उतारे; तभी पुराणों का यथार्थ उपयोग हो सकेगा। शुष्क छानबीन करने से मस्तिष्क को कुछ क्षणों के लिए आराम भले ही मिले, परन्तु हृदय को चिर शान्ति नहीं मिल सकती। पुराण के अध्ययन के प्रति लेखक का यह दृष्टिकोण है जिसे उसने इस ग्रन्थ में अपनाने का भरसक प्रयत्न किया है। आशा है ग्रन्थ के समीक्षक इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर इसके कथनों का परीक्षण करेंगे।

काशीनरेश महाराजा डाक्टर विभूतिनारायण सिंह का पुराण का प्रत्येक शोधक चिरऋणी रहेगा जिन्होंने 'अखिल भारतीय काशीराजनिधि' की स्थापना कर पुराणों के विशुद्ध संस्करण प्रकाशित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है और जिनकी पुराण पत्रिका (६ वर्ष) का नियमतः प्रकाशन शोध-दृष्टि से नितान्त उपादेय है। लेखक काशीनरेश का विशेष आभार मानता है। उनके प्रकाशनों का व्यवस्थित उपयोग इस ग्रन्थ में किया गया है।

मैं उन विद्वानों का आभार मानता हूँ जिनके द्वारा उद्भावित तथ्यों का मैंने इस ग्रन्थ में उपयोग किया है। इसका निर्देश पाद-टिप्पणियों में स्थान-स्थान पर सर्वत्र कर दिया गया है। वे सज्जन भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं जिनकी प्रेरणा से यह ग्रन्थ इतनी शीघ्रता से प्रणीत हो सका है। इस ग्रन्थ के प्रणयन के स्रोत हैं संस्कृत विद्या तथा विद्वानों के यथार्थ हितैषी, हमारे संस्कृत विश्वविद्यालय के कर्मठ उपकुलपति, श्री सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी जी, जिनकी प्रेरणा से यह लिखा गया है और जिनके द्वारा उत्पादित विद्वत्तापूर्ण शान्त वातावरण इसकी रचना के निमित्त वरदान सिद्ध हुआ है।

अपने छात्रों—डा० बलराम श्रीवास्तव तथा डा० गंगासागर राय—को मैं आशीर्वाद देता हूँ जिन्होंने नाना प्रकार से मेरी सहायता की है।

इस ग्रंथ में दिये गये पौराणिक भूगोल के प्रदर्शनकारी मानचित्र के लिए लेखक रायकृष्णदास जी का उपकार मानता है। पुराण तथा इतिहास के चित्रों के लिए वह साङ्गवेद विद्यालय, (रामघाट, काशी) के अधिकारियों का आभार स्वीकार करता है। ये चित्र *श्रीतत्त्वनिधि* (पृ० १००–१०१) में उद्धृत 'नृसिंह-प्रसाद' के वचनों के आधार पर बनाये गये हैं। 'श्रीतत्त्व निधि' इस विषय का अपूर्व ग्रंथ है जिसका संकलन मैसूर के महाराज की आज्ञा से हुआ था और जिसका प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ने किया है।

अन्त में, भगवान् विश्वनाथ से मेरी प्रार्थना है कि व्यासवाणी का यह विमर्श भारतवर्ष के निवासियों के घर-घर में पहुँच कर वैदिक धर्म के महनीय

तत्त्वों की अमर ज्योति जगाता रहे जिससे उनकी मानस तमिस्त्राका अवसान होकर मंगलमय प्रभात का जन्म हो। तथास्तु

सज्जनाम्भोरुहपुषे वेदव्यासाभिधा-जुषे।
तमःस्तोममुषे तस्मै परस्मै ज्योतिषे नमः ॥

—(सुमतीन्द्रयतिः गीता-भाष्य-व्याख्या)

वाराणसी
वसन्तपंचमी, सं० २०२१
६–२–६५

बलदेव उपाध्याय

विषयसूची

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

पञ्चम परिच्छेद

परिशिष्ट

षष्ठ परिच्छेद

परिशिष्ट

(नाचिकेतोपाख्यान का क्रम-विकास)

सप्तम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद

नवम परिच्छेद

दशम परिच्छेद

एकादश परिच्छेद

द्वादश परिच्छेद

परिशिष्ट

परिशिष्ट १ : पुराणों का विषयविवेचन

पुराण-विमर्श

पुराणं चम्पकाभासं शुकवक्त्रं च तुन्दिलम् ।
अक्षसूत्राभयं ज्ञेयं नानाभरणभूषितम् ॥

प्रथम परिच्छेद

पुराण की प्राचीनता

भारतीय संस्कृति के स्वरूप की जानकारी के लिए पुराण के अध्ययन की महती आवश्यकता है। पुराण भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है—वह आधार-पीठ है जिस पर आधुनिक भारतीय समाज अपने नियमन को प्रतिष्ठित करता है। इस परिच्छेद में उसकी प्राचीनता का अध्ययन किया जायगा। मन्त्र संहिता, ब्राह्मण, उपनिषदों जैसे वैदिक साहित्य के ग्रन्थों में 'पुराण' की सत्ता है या नहीं? तदनन्तर होने वाले सूत्र ग्रन्थों में उसके श्लोक पाये जाते हैं या नहीं? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देने का यहाँ प्रयत्न है। तात्पर्य यह है कि पुराण की प्राचीनता जानने के लिए इस अध्याय में सामग्री एकत्र की गई है।

पुराण शब्द की व्युत्पत्ति

'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि, यास्क तथा स्वयं पुराणों ने भी दी है। 'पुराभवम्' (प्राचीनकाल में होने वाला) इस अर्थ में 'सायं चिरं प्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' (पाणिनिसूत्र ४।३।२३) इस पाणिनि के सूत्र से 'पुरा' शब्द से 'ट्यु' प्रत्यय करने तथा 'तुट्' के आगमन होने पर 'पुरातन' शब्द निष्पन्न होता है, परन्तु स्वयं पाणिनि ने ही अपने दो सूत्रों—'पूर्वकालैक-सर्व-जरत्-पुराण नव-केवलाः समानाधिकरणेन' (२।१।४९) तथा 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु' (४।३।१०५)—में 'पुराण' शब्द का प्रयोग किया है जिससे तुडागम का अभाव निपातनात् सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि पाणिनि की प्रक्रिया के अनुसार 'पुरा' शब्द से ट्यु प्रत्यय अवश्य होता है, परन्तु नियमप्राप्त 'तुट्' का आगम नहीं होता। 'पुराण' शब्द ऋग्वेद में एक दर्जन से अधिक स्थानों पर मिलता है, यह वहाँ विशेषण है तथा उसका अर्थ है प्राचीन, पूर्व काल में होने वाला। यास्क के निरुक्त (३।१९) के अनुसार 'पुराण' की व्युत्पत्ति है—पुरा नवं भवति (अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नया होता है)। वायुपुराण[1] के अनुसार यह व्युत्पत्ति है—पुरा अनति अर्थात् प्राचीनकाल में जो जीवित था। पद्मपुराण[2] के

---

१. यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

—वायु० १।२०३

२. पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम्॥

—पद्म ५।२।५३

अनुसार यह निरुक्ति इससे किञ्चित् भिन्न है—'पुरा परम्परां वष्टि कामयते' अर्थात् जो प्राचीनता की अर्थात् परम्परा की कामना करता है वह पुराण कहलाता है। ब्रह्माण्डपुराण की इससे भिन्न एक तृतीय व्युत्पत्ति है[1]—'पुरा एतत् अभूत्' अर्थात् 'प्राचीन काल में ऐसा हुआ'।

इन समग्र व्युत्पत्तियों की मीमांसा करने से स्पष्ट है कि 'पुराण' का वर्ण्य विषय प्राचीन काल से सम्बद्ध था। प्राचीन ग्रन्थों में पुराण का सम्बन्ध 'इतिहास' से इतना घनिष्ठ है कि दोनों सम्मिलित रूप से 'इतिहास पुराण' नाम से अनेक स्थानों पर उल्लिखित किये गये हैं। 'इतिहास' के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित होने पर भी लोगों में यह भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि भारतीय लोग ऐतिहासिक कल्पना से भी सर्वथा अपरिचित थे। परन्तु यह धारणा निर्मूल तथा अप्रामाणिक है। यास्क के कथनानुसार ऋग्वेद में ही त्रिविध ब्रह्म के अन्तर्गत 'इतिहास-मिश्र' मन्त्र पाये जाते हैं।[2] छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखने के अवसर पर नारदमुनि ने अपनी अधीत विद्याओं के अन्तर्गत 'इतिहास-पुराण' को पञ्चम वेद बतलाया है। इस संयुक्त नाम से स्पष्ट है कि उपनिषद् युग में दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध की भावना क्रियाशील थी। यास्क ने अपने निरुक्त में ऋचाओं के विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की कथाओं को 'इतिहासमाचक्षते' कहकर उद्धृत किया है। इतना ही नहीं, निरुक्त में वेदार्थ व्याख्या[3] के अवसर पर उद्धृत अनेक विभिन्न सम्प्रदायों में ऐतिहासिकों का भी एक पृथक् स्वतन्त्र सम्प्रदाय था जिसका स्पष्ट परिचय 'इति ऐतिहासिकाः' निरुक्त के इस निर्देश से मिलता है। इस सम्प्रदाय के मन्तव्यानुसार अनेक मन्त्रों की व्याख्या यास्क ने स्थान-स्थान पर की है। 'इतिहास' की व्युत्पत्ति है—इति (इस प्रकार से) ह (निश्चयेन) आस (था, वर्तमान था) अर्थात् प्राचीनकाल में निश्चय रूप से होने वाली घटना 'इतिहास' के द्वारा

---

१. यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

—ब्रह्माण्ड १।१।१७३

२. त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ।
तत्र ब्रह्मेतिहास-मिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति॥

—निरुक्त ४।६

३. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्॥

—छान्दोग्य ७।१

निर्दिष्ट की जाती थी।[1] 'इतिहास' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ प्राचीन काल में वास्तव रूप में घटित होने वाली घटना का द्योतक है। अथर्ववेद तथा ब्राह्मणग्रन्थों में यह शब्द 'पुराण' से भिन्न स्वतन्त्र रूप में इसी अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है। यास्क ने निश्चित रूप से देवापि और शन्तनु की कथा को इतिहास कहा है तथा विश्वामित्र को सुदास् पैजवन के पुरोहित होने की घटना को भी इतिहास कहा है।[2] पुराणों में आगे चलकर 'इतिहास' शब्द का प्रयोग निःसंशय इस 'इतिवृत्त' अर्थ में हम पाते हैं। इससे स्पष्ट है कि काल्पनिक कथा या आख्यान को 'पुराण' नाम से और वास्तविक घटना को 'इतिहास' नाम से पुकारते थे,[3] और यही दोनों के प्राचीन अर्थों में विभेद-सीमा है।

सामान्यतया आलोचक गण महाभारत को ही इतिहास कहते हैं, क्योंकि स्वयं महाभारत[4] भी अपने को इसी अभिधान से पुकारता है, परन्तु रामायण को भी इतिहास के अन्तर्गत मानना प्राचीन शास्त्रीय मर्यादा की सीमा से बाहर नहीं है। राजशेखर के अनुसार 'इतिहास' दो प्रकार का होता है[5]—(१) **परिक्रिया** अर्थात् एकनायक वाली कथा जैसे रामायण तथा (२) **पुराकल्प** अर्थात् बहुनायक वाली कथा जैसे महाभारत। फलतः राजशेखर 'इतिहास' का क्षेत्र संकुचित तथा सीमित नहीं मानते। दोनों महाकाव्यों को इस शब्द के अभिधान के भीतर स्वीकार कर वे अपने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय देते हैं।

इतिहास तथा पुराण का पार्थक्य

इन दोनों का पार्थक्य स्पष्टरीति से प्राचीन ग्रन्थों में नहीं दिया गया है। महाभारत, जो स्वयं अपने को 'इतिहास' ही नहीं प्रत्युत 'इतिहासोत्तम'

---

१. तुलना कीजिए—निदानभूतः 'इति ह एवमासीत्' इति य उच्यते स इतिहासः (निरुक्त २।३।१ पर दुर्गाचार्य की वृत्ति)

२. तत्रेतिहासमाचक्षते–देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः (निरुक्त २।३।१) तथा तत्रेतिहासमाचक्षते–विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव (निरुक्त २।७।२)

३. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। मत्स्य० ७२।६।

४. जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा। उद्योग० १३६। १८
इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः। आदि० २।३८५

५. परिक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा।
स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका ॥

—काव्यमीमांसा

बतलाता है, अपने लिए 'पुराण' नाम का भी व्यवहार करता है[1] (आदि० १।१७)। उधर वायुपुराण पुराण होने पर भी अपने को 'पुरातन इतिहास'[2] बतलाता है। इस विरुद्ध संकेत से स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में इतिहास तथा पुराण की विभाजन रेखा बड़ी धूमिल थी और धीरे-धीरे आगे चल कर दोनों अभिधानों का वैशिष्ट्य निश्चित कर दिया गया। पुराण तथा इतिहास का क्षेत्र विभिन्न तथा स्वतन्त्र है। छान्दोग्य उप० (७।१) के भाष्य में आचार्य शंकर ने इन दोनों अभिधानों का पार्थक्य स्पष्टतः दिखलाया है। उनका कथन है कि इतिहास तथा पुराण दोनों ही वेद में उपलब्ध हैं। उर्वशी तथा पुरूरवा के संवाद को सूचित करने वाला 'उर्वशी हाप्सराः, पुरूरवसमैडं चकमे' आदि शतपथ ब्राह्मण (११।५।१।१) तो इतिहास[3] है, परन्तु 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (आरम्भ में असद् ही वर्तमान था जिससे सृष्टि उत्पन्न हुई) इत्यादि सृष्टि-प्रक्रिया-घटित विवरण पुराण है। शंकराचार्य की सम्मति में दोनों का पार्थक्य स्पष्ट है। प्राचीन आख्यान तथा आख्यायिका का सूचक भाग इतिहास है तथा सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन 'पुराण' है[4]। यह भेद प्राकट्य सप्तम शती में आचार्य शङ्कर ने किया, जब पौराणिक साहित्य वृद्धिगत हो चुका था, जैसा आगे दिखलाया जावेगा। प्राचीनतर ग्रन्थों में दोनों की पार्थक्य रेखा नितान्त पतली

---

१. द्वैपायनेन यत् प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम् ॥ —आदि० १।१७

२. इमं यो ब्राह्मणो विद्वानितिहासं पुरातनम्।
शृणुयाद् श्रावयेद्वापि तथाऽध्यापयतेऽपि च ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वेदैश्च संमतम्
कृष्णद्वैपायनेनोक्तं पुराणं ब्रह्मवादिना ॥

—वायु० १०३।४८, ५१

ये ही श्लोक ब्रह्माण्ड ४।४।४७,५० में भी उपलब्ध होते हैं।

३. इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादिः 'उर्वशी हाप्सरा' इत्यादि ब्राह्मणमेव। पुराणम् 'असद्वा इदमग्र आसीदित्यादि'। —शाङ्करभाष्य

४. सायण ठीक इससे विपरीत बात कहते हैं। वे 'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास' (शत० ११।१।६।१) को इतिहास तथा उर्वशी-पुरूरवा के आख्यान को पुराण मानते हैं। द्रष्टव्य सायणभाष्य— शत० ११।५।६।८।
आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास (शतपथ ११।१।६।१) इत्यादिकं सृष्टि-प्रतिपादकं ब्राह्मणमितिहासः। 'उर्वशी हाप्सराः पुरूरवसमैडं चकमे' शत० ११।५।१।१ इत्यादीनि पुरातनपुरुषवृत्तान्तप्रतिपादकानि पुराणम्।
—सायणभाष्य शत० ११।५।६।८ भाष्ये

है। फलतः जब पञ्चमी शती में अमरकोश ने 'पुराण' की पञ्चलक्षणात्मक व्याख्या की, तब उसने उपलब्ध पुराणों के वर्ण्य विषयों के आधार पर ही ऐसा किया। ये पञ्चलक्षण सर्वसम्मति से सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित ही थे। परन्तु आपस्तम्बधर्मशास्त्र के उल्लेख से पुराण तथा भविष्य पुराण की पूर्वकालिकी सत्ता का अनुमान लगाना युक्तिसंगत है। इस धर्मशास्त्र के द्वारा प्रदत्त निर्देशों की विस्तृत चर्चा इसी परिच्छेद में आगे की जायेगी जिससे स्पष्ट होगा कि प्राचीनतम पुराण में सृष्टि तथा प्रलय के अतिरिक्त धर्मशास्त्र से सम्बद्ध विषयों की भी सत्ता अवश्यमेव थी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पुराण में सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय), वंश (नाना ऋषियों तथा राजाओं की वंशावली), मन्वन्तर (विशिष्ट काल-गणना) तथा वंशानुचरित (प्रसिद्ध राजाओं और ऋषियों का चरित्र) प्रायः उपलब्ध होते हैं; इतने ही नहीं, इनसे इतर भी विषय—जैसे दान, तीर्थ, व्रत तथा अवतार भी वर्णित हैं। इतिहास का क्षेत्र इससे सर्वथा भिन्न है। इतिहास प्राचीन आख्यानों का वर्णन करता है, परन्तु उसका भी क्षेत्र इतना सीमित नहीं है अर्थात् वह केवल तिथिक्रम और घटना का संकलनमात्र नहीं है, प्रत्युत नाना विषयों की शिक्षा देकर तथा लोक-व्यवहार के तत्त्वों को प्रकटित कर वह मानव के हृदय से मोह तथा अज्ञान का भी निवारण करता है—

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना।
लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् संप्रकाशितम्॥

पुराण और इतिहास के प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रयोगों की तुलना कर कुछ परिणाम निकाले जा सकते हैं—

(१) अथर्ववेद तथा कतिपय पुराणों में 'पुराण' शब्द इतिहास को भी गतार्थ करता है। सर्वप्रथम केवल 'पुराण' शब्द का प्रयोग अथर्ववेद (११।७।२४) मे 'उच्छिष्ट' से शास्त्रों की सृष्टि के प्रसंग में व्यवहृत है। व्रात्य के अनुगमन के अवसर पर इतिहास का पृथक् स्वतन्त्र रूप में प्रयोग उपलब्ध होता है (अथर्व० १५।६।१०-१०)

(२) इतिहास और पुराण का पृथक् प्रयोग अनेक अवान्तर कालीन वैदिक ग्रन्थों तथा पुराणों में उपलब्ध होता है।

(३) कभी इतिहास पुराण को गतार्थ करता था। (कौटिल्य ने इतिहास के क्षेत्र में पुराण को ग्रहण किया है पुराणमितिवृत्त-माख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेति इतिहासः। अर्थशास्त्र १।५)

(४) अन्तिम काल में 'पुराण' इतिहास को ही नहीं, प्रत्युत समस्त

वाङ्मय को अपने में गतार्थ करता है जो मानव के कल्याण तथा हित के साधन होते हैं—

शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुराणानां समुच्चयम् ।
यस्मिन् ज्ञाते भवेज्ज्ञातं वाङ्मयं सचराचरम् ॥

—नारदीय पुराण १।९२।२१

इस प्रकार 'पुराण'-'इतिहास' शब्दों की तारतम्य परीक्षा दोनों के स्वरूप तथा विकाश के निर्धारण में सहायक हो सकती है।[1]

पुराणों के प्राचीन उल्लेख

पुराण के विषय में दो दृष्टियाँ प्राचीनकाल में देखी जाती हैं। एक अर्थ में तो यह प्राचीनकाल के वृत्तों के विषय में विद्या के रूप में प्रयुक्त होता था। दूसरे अर्थ में यह एक विशिष्ट साहित्य या ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त किया गया उपलब्ध होता है। इसकी प्राचीनता खोजने के लिए वैदिक साहित्य का आलोडन आवश्यक है—संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषदों का।

ऋग्वेद में 'पुराण' शब्द का प्रयोग अनेक मन्त्रों में उपलब्ध होता है (ऋ० वे० ३।५४।९; ३।५८।६, १०।१३०।६), परन्तु इन स्थलों पर 'पुराण' शब्द केवल प्राचीनता का ही बोधक है। अन्यत्र (९।९९।४) 'पुराणी' शब्द 'गाथा' शब्द के विशेषण रूप में प्रयुक्त मिलता है। इससे अर्थ लगाया जा सकता है कि ऋग्वेद के युग में कुछ गाथायें ऐसी विद्यमान थीं जिनका उदय किसी प्राचीन काल में हुआ था। ऋग्वेद के काल में हम इससे अधिक कुछ नहीं कह सकते। अथर्ववेद में हमें 'पुराण' शब्द इतिहास, गाथा तथा नाराशंसी शब्दों के साथ प्रयुक्त मिलता है जहाँ एक विशिष्ट विद्या के रूप में ही उपलब्ध होता है। पुराण का उदय 'उच्छिष्ट' संज्ञक ब्रह्म से बतलाया गया है। अथर्व (११।७।२४) मंत्र का अर्थ है—ऋक्, साम, छन्द (अथर्व) और यजुर्वेद के साथ ही पुराण भी उस उच्छिष्ट से—यज्ञ के अवशेष से अथवा जगत् पर शासन करने वाले यज्ञमय परमात्मा से—उत्पन्न हुए तथा द्युलोक में निवास करने वाले देव भी उसी उच्छिष्ट से पैदा हुए।

उद्धरण—

(१) ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ॥

—अथर्व ११।७।२४

१ विशेषतः द्रष्टव्य पुराण पत्रिका (भाग षष्ठ, खण्ड २, जुलाई १९६४; पृ. ४५१–४५७)

मन्त्र का अर्थ है कि उच्छिष्ट से ऋचायें, साम, छन्द (अथर्व) तथा पुराण यजुष् के साथ उत्पन्न हुए। इतना ही नहीं, दिव्लोक में निवास करने वाले देव भी उसी उच्छिष्ट से उत्पन्न हुए। 'उच्छिष्ट' शब्द के तात्पर्य के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग इसका अर्थ 'यज्ञ का अवशेष' मानते हैं। सायण की दृष्टि में 'उद् ऊर्ध्वम् अर्थात् सर्वेषां भूतभौतिकानामवसाने शिष्ट उर्वरितः परमात्मा' इस प्रकार की व्युत्पत्ति से सब पदार्थों का अवसान होने पर शेष रहने वाले परमात्मा की द्योतना इस शब्द के द्वारा होती है। उपनिषदों में प्रयुक्त 'नेति-नेति' शब्द का अभिप्राय इससे भिन्न नहीं है[1]।

(२) स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् ॥ १० ॥
तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च
नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ॥ ११ ॥
इतिहासस्य च स वै पुराणस्य च गाथानां च
नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति, य एवं वेद ॥ १२ ॥

—अथर्व, १५ काण्ड, १ अनुवाक, ६ सूक्त

व्रात्यस्तोम के अन्तर्गत पूर्वोक्त मन्त्रों की उपलब्धि होती है। व्रात्यपद से रुद्रावतार परमात्मा की यहाँ विवक्षा है। पैप्पलाद संहिता की 'व्रात्यो वा इदमग्र आसीत्' यह उक्ति तथा विश्वसृष्टि की आद्यावस्था में 'व्रात्य' के सबसे अग्रिम होने का यह निर्देश उसका परमात्म-तत्त्व के साथ ऐक्य स्थापित कर रहे हैं। रुद्राध्याय में 'नमो व्रात्याय' कहकर व्रात्य का रुद्र के साथ ऐक्य प्रतिपादन स्वयम् ऊह्य है। इसी रुद्र के प्रतिनिधि व्रात्य के अनुगमन का विधान इस सूक्त में देवादिकों तथा वेदादिकों के द्वारा बतलाया गया है। फलतः अथर्व की दृष्टि में इतिहास और पुराण ऋग्, साम तथा यजुष् के समान ही अभ्यर्हित हैं तथा पञ्चमवेद का प्रतिनिधित्व करते हैं।

''व्रात्यस्तोम के प्रसंग में इतिहास, पुराण, गाथा तथा नाराशंसी भी उसके पीछे पीछे चलीं। जो व्यक्ति इसे जानता है वह इतिहास का, पुराण का,

---

१ पुराणों में भी परमात्मा इसी प्रकार 'निषेधशेष' विशेषण के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। भागवत की गजेन्द्रस्तुति के अवसर पर यह शब्द प्रयुक्त है—

स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्
न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्
निषेधशेषो जयतादशेषः ॥ —भाग० ८।३।२४

गाथाओं का तथा नाराशंसियों का प्रिय धाम—प्यारा घर—होता है।" यहाँ इतिहास, गाथा तथा नाराशंसी के साथ 'पुराण' शब्द का सहप्रयोग इन सब के साहित्यिक रूप में समान आकार की ओर इंगित करता है। मेरी दृष्टि में ये चारों शब्द वैदिक साहित्य से पृथग्भूत किसी लौकिक साहित्य की सत्ता की ओर स्पष्टतः संकेत करते हैं। वैदिक युग में ही साहित्य की प्रवहमान दो धारायें प्रतीत होती हैं—एक धारा तो विशुद्ध धार्मिक है जिसमें किसी देवता की स्तुति तथा प्रार्थना ही मुख्य लक्ष्य है। दूसरी धारा विशुद्ध लौकिक है जिसमें लोक में प्रख्याति पाने वाले महनीय व्यक्तियों का तथा लोकप्रसिद्ध वृत्त का वर्णन करना ही अभीष्ट तात्पर्य होता है। ऋग्वेद के भीतर ही अनेक दानस्तुति तथा नाराशंसी उपलब्ध होती हैं जिनसे मन्त्रद्रष्टा ऋषि प्रभूत दान देने वाले अपने किसी आश्रयदाता शासक की ऐतिहासिक वृत्त से संवलित स्तुति करता है। 'पुराण' का सम्बन्ध इसी द्वितीय धारा से मानना नितान्त उपयुक्त प्रतीत होता है।

(३) यत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धा तय इद् विदुः
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ।

—अथर्व ११।८।७

तात्पर्य—इस (दीखती हुई भूमि) से पहिले (अर्थात् पहिले कल्पवाली) जो भूमि थी, उस भूमि को सत्य ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं। जो निश्चय करके उस प्रथम कल्पवाली भूमि को नामतः—यथार्थ रूप से—जान लेवे वह पुराणवित् (अर्थात् पुराणों के वृत्तान्त का जानने वाला) माना जाना चाहिए।

इन उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अथर्व वेद के काल में पुराण का तथा पुराणविद् व्यक्तियों का अस्तित्व अवश्यमेव विद्यमान था।

ब्राह्मण-साहित्य में पुराण

ब्राह्मण-साहित्य में भी 'पुराण' का अस्तित्व प्रमाणित होता है। शतपथ तथा गोपथ ब्राह्मणों में 'पुराण' का बहुशः उल्लेख उपलब्ध होता है जिससे इसकी लोकप्रियता प्रमाणित होती है। गोपथ का कथन है कि कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, अन्वाख्यात तथा पुराण के साथ सब वेद निर्मित हुए। यहाँ इतिहास-पुराण का सम्बन्ध वेद से जोड़ा गया है। दूसरे मन्त्र में गोपथ ब्राह्मण पाँच वेदों के निर्माण की बात कहता है और ये वेदपंचक हैं—सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहास वेद तथा पुराणवेद।

(४) एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः ।

— गोपथ, पूर्वभाग २।१०

(५) पञ्चवेदान् निरमिमत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदम्। स खलु प्राच्या एव दिशः सर्पवेदं निरमिमत, दक्षिणस्याः पिशाचवेदं प्रतीच्या असुरवेदमुदीच्या इतिहासवेदं ध्रुवायाश्चोर्ध्वायाश्च पुराणवेदम्। —तत्रैव १।१०

स तान् पञ्चवेदानभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत्। तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः संतप्तेभ्यः पञ्चमहाव्याहृतीर्निरमिमत वृधत् करत् गुहत् महत् तदिति। वृधदिति सर्पवेदात्, करदिति पिशाचवेदात् गुहदित्यसुरवेदात् महदितीतिहासवेदात् तदिति पुराणवेदात्।

—तत्रैव १।१०

इन वेदों के निर्माण के विषय में कहा गया है कि प्राची दिशा से सर्पवेद का निर्माण हुआ, दक्षिण दिशा से पिशाचवेद का, पश्चिम दिशा से असुरवेद का, उत्तरदिशा से इतिहास वेद का तथा ध्रुवा (पैरों से ठीक नीचे होने वाली दिशा) और ऊर्ध्वा (सिर के ठीक ऊपर की दिशा) से पुराण का निर्माण हुआ। ये उस युग में स्वतन्त्र वेद या वेद के समान ही मान्य शास्त्र थे। ये पाँचों ही स्वतन्त्र थे; इसकी सूचना मिलती है व्याहृतियों की उत्पत्ति से। इसी सन्दर्भ में पाँच महाव्याहृतियों—वृधत्, करत्, गुहत्, महत्, तथा तत्—की उत्पत्ति ऊपर निर्दिष्ट पाँचों वेदों से क्रमशः वर्णित है। भिन्न दिशाओं से उत्पन्न होने के कारण तथा भिन्न व्याहृतियों के उद्गमस्थल होने के हेतु गोपथ ब्राह्मण इतिहास और पुराण को विभिन्न विद्याओं के रूप में ग्रहण करता है। उस युग में दोनों का पार्थक्य निश्चित हो चुका था।

शतपथ ब्राह्मण अपने विशाल क्षेत्र में इतिहास पुराण के उदय की बड़ी ही महत्वपूर्ण गाथा सुरक्षित रखे हुए है जिसका अनुशीलन अनेक नवीन उपलब्धियों को प्राप्त कराने में सर्वथा समर्थ है। इस ब्राह्मण के उद्धरण बड़े ही महत्व के हैं जिनके ऊपर विशेष विचार अगले परिच्छेद में किया जावेगा। यहाँ केवल सामान्य सूचना दी जाती है।

(६) मध्वाहुतयो ह वा एता देवानाम्। यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहास पुराणं गाथा नाराशंस्यः। य एवं विद्वान् अनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते॥ मध्वाहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति।

—शतपथ ११।५।६।८

(७) क्षीरौदनमांसौदनाभ्यां ह वा एष देवाँस्तर्पयति य एवं विद्वान् वाकोवाक्यमितिहास-पुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते।

—तत्रैव ११।५।७।९

(८) ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि वाचैव सम्राट् प्रजायते ।

तत्रैव १४।६।१०।६

(९) अथाष्टमेऽहन्'''मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चोपसमेता भवन्ति । तानुपदिशतीतिहासो वेदः सोऽयमिति किञ्चिदितिहासमाचक्षीत । अथ नवमेऽहन्'''तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीत ।

—तत्रैव १३।४।३।१२-१३

इन उद्धरणों का तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिए—

(६) ब्रह्मयज्ञ के प्रसंग से यह सम्बन्ध रखता है। विभिन्न वेदों का स्वाध्याय विभिन्न फल प्रदान करता है। अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास-पुराण, गाथा तथा नाराशंसी के स्वाध्याय करने से देवों को मधु से पूर्ण आहुतियाँ प्राप्त होती हैं। ध्यान देने की बात है कि शतपथ के प्रथम तीनों उद्धरणों में इतिहासपुराण' समस्तपद के रूप में उल्लेख पा रहा है, परन्तु पारिप्लवाख्यान से सम्बद्ध अन्तिम उद्धरण में इतिहास तथा पुराण का पार्थक्य स्पष्टतः निर्दिष्ट किया गया है। इतिहास का प्रवचन होता है अष्टम रात्रि में और पुराण का नवम रात्रि में। इस प्रकार उस युग में दोनों प्रकार की भावनायें क्रियाशील थीं - सम्मिलित भावना तथा पार्थक्य भावना। इस विषय का विवेचन विशदरूप में अगले परिच्छेद में किया गया है।

(७) 'यही जान कर विद्वान् अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास-पुराण, गाथा, नाराशंसी के साथ प्रतिदिन स्वाध्याय (वेद) का अध्ययन करता है'। इस स्वाध्याय के फल का भी यथोचित उल्लेख मिलता है। जो विद्वान् पूर्वोक्त अनुशासन आदि का नित्य स्वाध्याय का अध्ययन करता है, वह देवों को तृप्त करता है।

(८) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास पुराण, विद्या, उपनिषद् , श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान तथा व्याख्यान सब वाङ्मय हैं। वाणी से ही सम्राट् होता है।

(९) शतपथ का कथन है कि यज्ञानुष्ठाता उन्हें उपदेश करे कि पुराण ही वेद है (तान् उपदिशति पुराणं वेदः, शतपथ १३।४।३।१३) तथा पारिप्लव के नवम दिन में कुछ पुराण का पाठ करना चाहिए (अथ नवमेऽहनि किञ्चित् पुराणमाचक्षीत)।

इस प्रकार ब्राह्मणकाल में पुराण की महत्ता का परिचय भलीभाँति मिलता है।

ब्राह्मणग्रन्थों के अनुशीलन से एक विशिष्ट तथ्य का उद्भव होता है। शतपथ ब्राह्मण में 'इतिहासपुराणं' सम्मिलित रूप से एक ही समस्त पद द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। प्रतीत होता है कि दोनों में विषय का सादृश्य था। आगे चल कर दोनों पृथक् ग्रन्थ के रूप में विभक्त हो गये। इसीलिए गोपथ पुराणवेद को इतिहासवेद से पृथक् निर्दिष्ट करता है। ऐसे विकास की सम्पत्ति ब्राह्मणयुग में ही पुराण के गाढ़ अनुशीलन तथा आलोडन का तथ्य द्योतित करती प्रतीत होती है।

आरण्यक तथा उपनिषद् में पुराण

ब्राह्मणों के ही आरण्यक और उपनिषद् अन्तिम भाग हैं। श्रुति के इस अंश में भी पुराण तथा इतिहास की स्थिति पर्याप्तरूपेण सिद्ध होती है—विकसित रूप में अर्थात् ब्राह्मणों में अपनी पूर्व स्थिति से विकसित रूप में इतिहास पुराण का रूप हमें इस साहित्य में उपलब्ध होता है।

(१०) ब्रह्मयज्ञप्रकरणे—यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीर्मेदाहुतयो देवानामभवन्। ताभिः क्षुधं पाप्मानमपाघ्नन्। अपहत-पाप्मानो देवाः स्वर्गं लोकमायन्। ब्रह्मणः सायुज्यमृषयोऽगच्छन्॥

—तैत्तिरीय आरण्यक
२ प्रपाठक, ९ अनुवाक।

(११) स यथार्द्रैन्धनाग्नेरभ्याहितात् पृथग्धूमा विनिश्चरन्ति, एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणम्।

—बृहदा० उप० २।४।११

(१२) ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहास पुराणं पञ्चमम्, वेदानां वेदं, पित्र्यं राशिं……एतद् भगवोऽध्येमि।

—छान्दोग्य ७।१।२

(१३) नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः।

—तत्रैव ७।१।४

(१४) वाग्वा नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमम्।

—तत्रैव ७।२।१

ऊपर उद्धरण (१०) में तैत्तिरीय आरण्यक ब्रह्मयज्ञ के प्रसंग में 'पुराणानि' पद का व्यवहार करता है। इससे बहुत ग्रन्थों की सत्ता मानना उचित नहीं होगा। यहाँ पुराणगत आख्यानों का ही बहुत्व अभीष्ट है। बृहदारण्यक उपनिषद् तो पुराण के उदय को वेद के उदय के समान ही बतलाता है—इतिहास-पुराण उस महाभूत (परमेश्वर, सब स्रष्टा) के निःश्वसित हैं—श्वासरूप हैं।

यहाँ 'निःश्वसित' पद की व्याख्या शंकराचार्य ने यह कह कर की है कि जैसे श्वास विना यत्न के ही पुरुष से प्रकट होता है, वैसे ही वेद आदि उस परमात्मा से विना यत्न के ही प्रकट हुए। शतपथ का यह वचन पुराण को वेद के समकक्ष रखता है तथा वेद के समान पुराण को भी नित्य मानता है। इस आरण्यक के दूसरे मन्त्र (२।४।११) (उद्धरण ११) में इसी तथ्य का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर दृष्टान्त के साथ किया गया है—गीली लकड़ी से जलाई गई आग से धूम के बादल अलग अलग निकलते हैं, उसी प्रकार उस महान् सत्ता का निःश्वसित ही है यह जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस तथा इतिहास-पुराण है। छान्दोग्य उपनिषद् से भी पूर्वोक्त तथ्य की पुष्टि होती है। छान्दोग्य नारदजी के द्वारा अधीत तथा अभ्यस्त शास्त्रों में 'इतिहासपुराण' का उल्लेख करता है तथा उसे पञ्चमवेद के नाम से अभिहित किया है (७।१।२; उद्धरण १२)। यही उपनिषद् अपने दूसरे मन्त्रों (७।१।४ तथा ७।२।१) में 'इतिहासपुराण' को पंचमवेद के रूप में उल्लेख कर ब्रह्मरूप से उपासना करने की शिक्षा देती है (उद्धरण १३ और १४)।

निष्कर्ष—वैदिक साहित्य के अनुशीलन से कई तथ्य अभिव्यक्त होते हैं—(क) महाभूत परब्रह्म (या उच्छिष्ट) से वेद-चतुष्टय के समान ही इतिहास-पुराण की भी उत्पत्ति हुई; (ख) वेद के समान ही पुराण भी नित्य है; (ग) इतिहासपुराण इसीलिए पञ्चमवेद के नाम से अभिहित है; (घ) यह केवल मौखिक तत्त्व का द्योतक न होकर सम्भवतः ग्रन्थ के रूप में सन्निविष्ट था क्योंकि वह अध्ययन का विषय था; (ङ) आरण्यक युग में पुराणों के बहुत्व की कल्पना आरम्भ हो चुकी थी—पुराण एक न होकर अनेक के रूप में वर्तमान था; ग्रन्थरूप में न सही, आख्यानरूप में तो निश्चय ही।

सूत्रग्रन्थ तथा पुराण

(१५) अथ स्वाध्यायमधीयीत ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानि कल्पान्गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीति ॥ १ ॥

(१६) यदृचोऽधीते पय आहुतिभिरेव तद्देवतास्तर्पयति यद्यजूंषि घृताहुतिभिर्यत्सामानि मध्वाहुतिभिर्यदथर्वाङ्गिरसः सोमाहुति-

भिर्यद्ब्राह्मणानि कल्पान्गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीत्यमृताहुतिभिः ।०२ ॥

(१७) यदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन् स्वधा उपक्षरन्ति यद्यजूंषि घृतस्य कुल्या यत्सामानि मध्वः कुल्या यदथर्वाङ्गिरसः सोमस्य कुल्याः यद्ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीत्यमृतस्य कुल्याः ॥ ३ ॥

—आश्वलायन गृह्यसूत्र अ० ३, खण्ड ४

(१८) तं दीपयमाना आसत आ शान्त रात्रादायुष्मतां कथाः कीर्तयन्तो माङ्गल्यानीतिहासपुराणानीत्याख्यापयमानाः ॥ ६ ॥

—तत्रैव, अ० ४, ख० ६

कल्पसूत्रों से पुराण के अस्तित्व का, उनके अध्ययन का तथा उससे उत्पन्न होने वाले पुण्य का पूरा संकेत हमें उपलब्ध होता है :—

(क) आश्वलायन गृह्यसूत्र में पुराण पठन का उल्लेख अनेक बार मिलता है। एक मन्त्र (३।३।१) में इतिहास तथा पुराणों का (इतिहासः पुराणानि) अनुशीलन स्वाध्याय के अध्ययन के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। (उद्धरण १५)। दूसरे मन्त्र (४।६) में इतिहास और पुराणों के स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति के देवों और पितरों को अमृत की कुल्या (नहर) के प्राप्त होने का तथ्य उद्घाटित किया गया है। (उद्धरण १६ और १७)। अन्यस्थल (४।६) पर चिरंजीवी मनुष्यों की कथायें और मांगलिक इतिहास पुराणों का पाठ करते हुए मथित अग्नि को दीप्त करने के समय को बताने का स्पष्ट निर्देश मिलता है (उद्धरण १८)।

यह तो हुआ पुराण का सामान्य निर्देश, परन्तु इसी युग के एक मान्य ग्रन्थ आपस्तम्ब धर्मसूत्र में किसी पुराण से दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं और भविष्यत्पुराण का स्पष्ट ही नाम निर्दिष्ट किया गया है। ये उल्लेख बड़े महत्त्व के हैं।

(ख) आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।२३।३५) में किसी पुराण के दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं जिनका अर्थ यह है—जो अठासी हजार ऋषि सन्तान की कामना करते थे, वे तो अर्यमा के दक्षिण मार्ग से चलकर श्मशान में पहुँचे, परन्तु जो अठासी हजार ऋषि सन्तान की कामना नहीं करते थे, उन्होंने अर्यमा के उत्तर मार्ग से चलकर अमृतत्व को प्राप्त किया। इन श्लोकों का तात्पर्य यही है कि प्रवृत्ति मार्ग में रहने पर संसार के जन्म-मरण के चक्कर में सदा घूमना पड़ता है और निवृत्ति मार्ग का आश्रय करने पर मानव मुक्ति को प्राप्त होता है।

ये महत्त्वपूर्ण श्लोक ये हैं—

(१९) अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजामीषिरर्षयः ।
दक्षिणेनार्यम्णः पन्थानं ते श्मशानानि भेजिरे ॥
अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजां नेषिरर्षयः ।
उत्तरेणार्यम्णः पन्थानं तेऽमृतत्वं हि भेजिरे ॥

इत्यूर्ध्वरेतसां प्रशंसा । आप० धर्म० सू० २।९।२३।३-६

श्री शंकराचार्य ने बृहदारण्यक उप० के अपने भाष्य में (६।२।१५) एक स्मृतिवचन उद्धृत किया है जो पूर्वोक्त अन्तिम श्लोक के साथ समता रखता है। वह श्लोक इस प्रकार है :—

अष्टाशीति सहस्राणामृषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
उत्तरेणार्यम्णः पन्थास्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे ॥

विचारणीय है कि ये दोनों श्लोक कहाँ से उद्धृत किये गये हैं। मूल स्थान बतलाना तो नितान्त कठिन है, परन्तु इन्हीं श्लोकों के समान भावार्थक पद्य पुराणों में अनेक स्थलों पर आज भी उपलब्ध होते हैं। ब्रह्माण्ड पुराण के दो स्थलों पर पितृयान तथा देवयान की चर्चा है। इस पुराण के ६५ अध्याय के १०३-१०४ पद्य तो आपस्तम्बद्वारा उद्धृत श्लोकों से नितान्त साम्य रखते हैं,[1] परन्तु आपस्तम्ब को यही पुराण अभीष्ट था; यह कहना कठिन है। इसी पुराण के अनुषङ्ग पाद, अ० ५४, श्लोक १५९-१६६ में इन्हीं श्लोकों का विशद भाष्य प्रस्तुत किया गया है[2]। विष्णुपुराण (३।८) तथा मत्स्यपुराण

---

१. अष्टाशीतिसहस्राणि प्रोक्तानि गृहमेधिनाम् ।
अर्यम्णो दक्षिणा ये तु पितृयानं समाश्रिताः ॥
गृहमेधिनां तु संख्येयाः श्मशानान्याश्रयन्ति ये ।
अष्टाशीतिसहस्राणि निहिता ह्युत्तरायणे ॥
ये श्रूयन्ते दिवं प्राप्ता ऋषय ऊर्ध्वरेतसः ॥

—ब्रह्माण्डपुराण अ० ६५।१०३-१०४ ।

२. अष्टाशीतिसहस्राणि मुनीनां गृहमेधिनाम् ।
सवितुर्दक्षिणं मार्गं श्रिता ह्याचन्द्रतारकम् ॥
क्रियावतां प्रसंख्यैषा ये श्मशानानि भेजिरे ।
लोकसंव्यवहारेण भूतारम्भकृतेन च ॥
इच्छाद्वेषरताच्चैव मैथुनोपगमाच्च वै ।
तथा कामकृतेनेह सेवनाद्विषयस्य च ॥
इत्येतैः कारणैः सिद्धाः श्मशानानीह भेजिरे ।
प्रजैषिणस्ते मुनयो द्वापरेष्विह जज्ञिरे ॥

(अ० १२४, श्लोक १०२–११०) में इसी प्रकार के श्लोक मिलते हैं। पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड में भी ऐसा ही श्लोक प्राप्त है[1]। प्रतीत होता है कि आपस्तम्ब के समय में कोई पुराण प्रचलित अवश्य था जिससे ये दोनों पद्य यहाँ उद्धृत हैं तथा वहीं से ब्रह्माण्ड तथा मत्स्य ने एतद्–विषयक तत्समान श्लोकों को उद्धृत किया है; ऐसा तर्क करना अनुचित नहीं माना जा सकता।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में पितृगणों के विषय में लिखा है—

(२०) आभूत—संप्लवास्ते स्वर्गजितः, पुनः सर्गे बीजार्था भवन्तीति भविष्यत्पुराणे।

—आप० ध० सू० २।९।२४।६

अर्थात् पितृगण ने प्रलयपर्यन्त स्वर्ग का जय किया है अर्थात् प्रलयपर्यन्त वे लोग स्वर्ग में निवास करते हैं। पुनः सर्ग अर्थात् फिर सृष्टि होने के समय वे स्वर्गादि लोकों के बीजभूत होते हैं; अर्थात् प्रलय के बाद नवीन सृष्टि के वे प्रजापति बनते हैं। यह वचन भविष्यत् पुराण का है।

नागवीथ्युत्तरे यच्च सप्तर्षिभ्यश्च दक्षिणम्।
उत्तरः सवितुः पन्था देवयानस्तु स स्मृतः॥
यत्र ते विशिनः सिद्धाः विमला ब्रह्मचारिणः।
सन्तर्ति ये जुगुप्सन्ते तस्मान्मृत्युर्जितस्तु तैः॥
अष्टाशीतिसहस्राणि तेषामप्यूर्ध्वरेतसाम्।
उदक्पन्थानमर्यम्णः श्रिता ह्याभूतसंप्लवात्॥
इत्येतैः कारणैः शुद्धैस्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे।
आभूतसंप्लवस्थानममृतत्वं विभाव्यते॥

(ब्रह्माण्डपुराण अनुषङ्गपाद अ० ५४ श्लो० १५९-१६६)

ये ही पद्य विष्णु० २।८।८९–९२ में भी उपलब्ध होते हैं।

1. अष्टाशीतिसहस्राणां यतीनामूर्ध्वरेतसाम्।
स्मृतं येषां तु तत् स्थानं तदेव गुरुवासिनाम्॥

—पद्मपुराणः सृष्टिखण्ड

अष्टाशीतिसहस्राणि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्।
उदक् पन्थानमर्यम्णः स्थितान्याभूतसंप्लवम्॥

—विष्णु० २।८।९२

यह वचन श्रीशंकराचार्य द्वारा उद्धृत स्मृतिवचन से नितान्त साम्य रखता है। सम्भव है आचार्य को यही वचन अभीष्ट हो।

आपस्तम्ब के इस महत्त्वपूर्ण उल्लेख से भलीभाँति पता चलता है कि उस काल में 'भविष्यत् पुराण' नामक कोई विशिष्ट पुराण अवश्य वर्तमान था, जिसके श्लोक या श्लोकों का आशय इस गद्यात्मक वाक्य में निर्दिष्ट है। 'भविष्यत् पुराण'–यह अभिधान भी महत्त्व रखता है। पुराण तो नाम्ना ही प्राचीन वृत्तों के संकलन का संकेत करता है, तब भविष्यत् से उसका समन्वय कैसा ? प्रतीत होता है कि इस पुराण में भविष्य में होने वाली घटनाओं का, राजाओं का तथा उनके ऐतिहासिक वृत्तों का वर्णन होना चाहिए। 'भविष्यत् पुराण' कलि में होने वाले राजवंशों का परिचायक होना चाहिए। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र ईस्वी से पाँच सौ या छः सौ वर्ष पूर्व की रचना माना जाता है। फलतः उस युग में, आज से अढ़ाई हजार साल पहिले 'भविष्यत्' नामधारी किसी पुराण की रचना अवश्य हो गई थी जिसके मत का उल्लेख ऊपर उल्लिखित है। आजकल 'भविष्यपुराण' नामक पुराण का अस्तित्व और प्रचलन है। परन्तु आपस्तम्ब के द्वारा उद्धृत भविष्यत् पुराण यही है अथवा इससे भिन्न ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं दिया जा सकता। सम्भवतः वह वर्तमान 'भविष्य पुराण' का सूत्र रूप था जिसमें नूतन आख्यानों के जोड़ने से लोक–प्रचलित यह वर्तमान आकार आज उपलब्ध है। पितृगण के विषय में निर्दिष्ट तथ्य आज अन्य पुराणों में भी उपलब्ध होता है। ब्रह्माण्ड पुराण में इसका विस्तृत प्रसङ्ग आज भी देखा जा सकता है।

यही भाव याज्ञवल्क्य स्मृति के इस पद्य में भी उपलब्ध होता है (३।१८४-१८६) :—

तत्राष्टाशीति-साहस्रा मुनयो गृहमेधिनः।
पुनरावर्तिनो बीजभूता धर्म–प्रवर्तकाः॥

आपस्तम्ब ध० सू० (१।१०।२९।७) में ब्राह्मण के मारने के प्रसंग में विभिन्नमतों का उल्लेख करते हुए कहा गया है :—

(२१) यो हिंसार्थमभिक्रान्तं हन्ति मन्युरेव मन्युं स्पृशति, न तस्मिन् दोष इति पुराणे।

यह प्रसंग मनुस्मृति (८।३५०, ३५१) से समता रखता है जिसका दूसरा श्लोक आपस्तम्ब द्वारा उद्धृत वचन के समान ही है—

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति।

मनु के श्लोक का अन्तिम पाद पूर्व उद्धरण के अन्तिम अंश से अक्षरशः मिलता है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र का रचना काल ईस्वी पूर्व पञ्चम-षष्ठ शतक माना जाता है। उस समय पुराण का रूप आजकल उपलब्ध, पुराण के समान ही धर्मशास्त्रीय विषय से सम्पन्न था। 'पुराण' के सामान्य निर्देश के संग में "भविष्य पुराण' का विशिष्ट निर्देश इस तथ्य का विशद प्रतिपादक है कि उस युग में कम से कम एक पुराण का प्रणयन हो चुका था। इस प्रकार ग्रन्थ रूप में पुराण का यह निर्देश निःसन्देह प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण है। इस कथन में कुछ आलोचकों को सन्देह है। इतने प्राचीन काल में अन्यत्र किसी विशिष्ट पुराण के उल्लेख के अभाव में यह सम्भावना जान पड़ती है कि यहाँ भी किसी विशेष पुराण का नाम निर्देश नहीं है। भविष्यपुराण के नाम से उद्धृत सिद्धान्त भविष्य जन्म से सम्बन्ध रखता है। इस शब्द का संकेत भविष्यकाल की घटना का वर्णन करने वाले सामान्य पुराण से ही है, तन्नामधारी किसी विशिष्ट पुराण से नहीं।

पुराण और महाभारत

महाभारत के तीन संस्करण माने जाते हैं—जय, भारत तथा महाभारत। आजकल का महाभारत भी नवीन ग्रन्थ नहीं है। गुप्तकालीन शिलालेखों में इसके लक्षश्लोकात्मक आकार का परिचय मिलता है। फलतः यह तृतीय शती से अर्वाचीन नहीं हो सकता। इसका मूल तो और भी प्राचीन होना चाहिए। महाभारत में पुराण का सामान्य रूप ही उल्लिखित नहीं है, प्रत्युत उनकी कथाओं के रूप तथा वैशिष्ट्य से तथा अठारह पुराणों से वह परिचय रखता है। इस सामग्री का अनुशीलन आवश्यक है :—

(क) पुराण, मानव धर्म (अर्थात् मनुस्मृति), साङ्गवेद, चिकित्साशास्त्र—ये चारों ईश्वर की आज्ञा से सिद्ध हैं अर्थात् इनका वर्णन यथार्थ और प्रामाणिक है। तर्क का आश्रय लेकर इनका खण्डन करना कथमपि उचित नहीं है—

(२२) पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्
आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥

—अनुशासनपर्व

यह श्लोक पुराणों के प्रति महाभारतीय दृष्टिकोण का पर्याप्त परिचायक है। पुराण के तथ्यों का तर्कशास्त्र के सहारे खण्डन—हनन—कथमपि उचित नहीं है; यही है महाभारत का दृष्टिकोण।

(२३) पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव ॥

—आदिपर्व ५।२

(ख) यह श्लोक पुराण के वर्ण्य विषय का प्रतिपादक है। पुराणों में अनेक दिव्य कथायें होती हैं तथा विशिष्ट बुद्धिमानों के आदिवंशों का वर्णन भी रहता

है। यह श्लोक स्पष्टतः वंशानुचरित को तथा देवसम्बन्धी आख्यान को पुराण का अविभाज्य अंग मानता है।

(२४) माहात्म्यमपि चास्तिक्यं सत्यं शौचं दयार्जवम्
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः ॥
—आदिपर्व १।२४०

पुराणों में आस्तिक्य (=ईश्वर में विश्वास, श्रद्धा), सत्य, शौच, दया तथा आर्जव श्रेष्ठ कवियों के द्वारा वर्णित हैं तथा उन्हीं का आश्रय लेकर विद्वज्जन लोक में इनका वर्णन करते हैं।

(ग) सत्यवती पुत्र व्यास जी ने प्रथमतः १८ पुराणों का प्रणयन किया और तदुपरान्त पुराणों के उपबृंहण रूप से महाभारत की रचना की।

(२५) अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः
पश्चाद् भारतमाख्यानं चक्रे तदुपबृंहितम्
—आदिपर्व

महाभारत की स्पष्ट सम्मति है कि इतिहास और पुराण के द्वारा वेद का उपबृंहण करना चाहिए। इसीलिये वेद अल्पश्रुत—कम शास्त्र पढ़ने वाले—से सदा डरा करता है कि कहीं वह मुझे धोखा देकर ठग न डाले (अथवा मार न डाले):—

(२६) इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

महाभारत के मत में पुराणरूपी पूर्ण चन्द्रमा के द्वारा श्रुतिरूपी चन्द्रिका छिटकी हुई है अर्थात् पुराण श्रुति के अर्थ को ही विस्तार से प्रकाशित करता है—

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्ना प्रकाशिता।
—आदिपर्व १।८६

(घ) यह तो हुआ पुराण का सामान्य परिचय। महाभारत में वायुपुराण, का स्पष्ट उल्लेख किया गया है एक विशिष्ट पुराण के रूप में, जिसमें प्राचीन राजाओं का वर्णन विशेष रूप से निर्दिष्ट किया गया है। कहना व्यर्थ है कि आजकल प्रचलित 'वायुपुराण' में राजाओं की वंशावली दी गई है जिससे दोनों पुराणों की एकता स्वतः सिद्ध हो जाती है—

(२७) एतत् ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषि-संस्तुतम्॥
—वनपर्व, अ० १९१, श्लो० १६

(ङ) वाल्मीकीय रामायण में भी पुराण तथा पुराणवित् का स्पष्ट निर्देश आजभी उपलब्ध होता है। यहां सुमन्त्र पुराण के वेत्ता (पुराणवित्) बतलाये गये हैं। वे सूत थे। फलतः पुराणों से परिचय रखने की बात उनके विषय में स्वभावसिद्ध है। वे राजा दशरथ की सन्तानहीनता तथा उसके निवारण की बात पुराणों से सुन चुके हैं और इसलिए अवसर पाकर उसे सुनाने से पराङ्मुख नहीं होते :—

(२८) (१) इत्युक्त्वान्तः पुरद्वारमाजगाम पुराणवित्

—अयोध्या १५।१८

(२) स तदन्तः पुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम्
प्रविभक्तां ततः कक्षामाससाद पुराणवित् ॥

—अयोध्या १६।१

(३) इत्युक्त्वा तु रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत्
श्रूयतां यत् पुरावृत्तं पुराणेषु यथाश्रुतम्।

—बाल ९।१

फलतः रामायण पुराण से परिचय रखता है तथा महाभारत भी। सामान्य परिचय से अतिरिक्त वह उसके विषय को भलीभांति जानता है। वायुपुराण का आश्रयण लेकर महाभारत में कथा का विस्तार किया गया है। महाभारत का यह स्पष्ट निर्देश है।

पुराण तथा कौटिल्य

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के अनेक स्थलों पर पुराण तथा इतिहास का बहुमूल्य निर्देश किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से कम महत्त्वशाली नहीं हैं :—

(क) वेद के स्वरूप का वर्णन करते हुए कौटिल्य का कथन है कि साम, ऋक् तथा यजुः त्रयी कहलाते हैं। यह त्रयी, अथर्ववेद तथा इतिहासवेद—वेद के अन्तर्गत माने जाते हैं:—

(२९) सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयस्त्रयी अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः।

—अर्थशास्त्र १।३

इससे पता चलता है कि कौटिल्य के युग में वेद के समान 'इतिहास' एक विशिष्ट ग्रन्थ का द्योतक था तथा वह उसी प्रकार पवित्र माना जाता था।

(ख) अन्यत्र उन्मार्ग पर चलने वाले राजा की शिक्षा के अवसर पर कौटिल्य का कथन है कि राजा का हित चाहने वाला अर्थशास्त्र का वेत्ता मन्त्री इतिवृत्त (प्राचीन काल के राजाओं के चरित्र) तथा पुराण के द्वारा राजा को उन्मार्ग में चलने से रोके—

(३०) मुख्यैरवगृहीतं वा राजानं तत्-प्रियाश्रितः ।
इतिवृत्तपुराणाभ्यां बोधयेदर्थशास्त्रवित् ॥
—अर्थशास्त्र ५।६

इससे स्पष्ट है कि कौटिल्य के समय में पुराणों में सदाचार सम्बन्धी विषय अवश्यमेव विद्यमान थे जिनका उपदेश देकर कुमार्ग से राजा को सुमार्ग में लाया जा सकता है।

(ग) राजा की दिनचर्या के प्रसंग में कौटिल्य का कहना है कि राजा दिन के पूर्वार्ध को हस्ती, अश्व, रथ, प्रहरण विद्याओं के ग्रहण में वितावे और उत्तरार्ध को इतिहास के श्रवण में। इस प्रसंग में इतिहास से महाभारत के समान ही कोई ग्रन्थ उन्हें अभीष्ट है जो अपने को अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र बतलाता है।

कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में पुराण की गणना 'इतिहास' के अन्तर्गत की है। कौटिल्य की दृष्टि में इतिहास का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। उनका कथन है कि दिन के पिछले भाग को राजा इतिहास के सुनने में बितावे। इतिहास क्या ? पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र—इन सब की गणना 'इतिहास' के भीतर माननी चाहिए। फलतः पुराण से कौटिल्य परिचय रखते हैं। अपने ग्रन्थ के भीतर पुराणों के वर्ण्य विषय से भी उनका परिचय कम नहीं है—

(३१) पश्चिममितिहासश्रवणे। पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः ॥
—अध्याय ५, १३-१४

(घ) राजा के द्वारा वेतनभोगी अधिकारियों के प्रसंग में कौटिल्य का कथन है कि राजा इन अधिकारियों को एक सहस्र पण का वेतन देकर अपने कार्य के लिए नियुक्त करे—कार्तान्तिक (फलित ज्यौतिषी), नैमित्तिक (उत्पात से परिचय रखने वाला व्यक्ति), मौहूर्तिक (शोभन मुहूर्त बतलाने वाला विद्वान्), पौराणिक (पुराणवेत्ता), सूत, मागध तथा पुरोहित पुरुष :—

(३२) कार्तान्तिक-नैमित्तिक-मौहूर्तिक-पौराणिक-सूतमागधाः पुरोहितपुरुषाः सर्वाध्यक्षाश्च साहस्राः ॥
—अर्थशास्त्र ५।३ (भृत्यभरणीयम्)

इस सूची का अनुशीलन बतलाता है कि ईस्वी पूर्व तृतीय शती में पुराण का वक्ता पौराणिक राजा के द्वारा नियुक्त किया जाता था और उसका वेतन एक हजार पण होता था। उस युग में पौराणिक एक महत्वशाली व्यक्ति माना जाता

था और विशिष्ट वेतन पर उसकी नियुक्ति उसके वैशिष्ट्य का द्योतक है। कौटिल्य का यह उल्लेख पुराण के प्रचार-प्रसार के महत्त्व का विशद द्योतक है।

पुराण तथा धर्मस्मृति

धार्मिक स्मृतियों तथा धर्मसूत्रों में 'पुराण' का उल्लेख बहुशः मिलता है। इनसे पुराण का विशिष्ट महत्त्व प्रतिपादित होता है—साधारण जन के ही लिए नहीं, प्रत्युत शासकवर्ग के लिए भी। 'वेदवित्' के लिए पुराण की जानकारी नितान्त आवश्यक इसलिए है कि पुराण वेद का उपबृंहक साहित्य है। जो वस्तु या तत्त्व वेद में संक्षिप्तरूपेण निर्दिष्ट है, उसी का विस्तार हम 'पुराण' में पाते हैं। कतिपय निर्देश नीचे दिये जाते हैं :—

(३३) (क) स एष बहुश्रुतो भवति लोक-वेद-वेदाङ्गवित् वाकोवाक्येतिहासपुराणकुशलः।

—(गौतमधर्मसूत्र ८।४-६)

यहाँ 'बहुश्रुत' की परिभाषा दी गई है। 'बहुश्रुत' (बहुत सुनने वाला तथा शास्त्र का ज्ञाता) वह व्यक्ति होता है जो लोक (व्यवहार), वेद, वेदाङ्ग को जानता है तथा वाकोवाक्य, इतिहास तथा पुराण में कुशल होता है। तात्पर्य यह है कि 'बहुश्रुतता' की सिद्धि के लिए पुराण की दक्षता एक आवश्यक साधन है।

(३४) (ख) तस्य (प्रजापालक नृपतेः) च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राणि अङ्गानि उपवेदाः पुराणम्।

—(गौतमधर्मसूत्र ११।२१)

प्रजापालक नृपति का व्यवहार—वेद, धर्मशास्त्र, अङ्ग, उपवेद तथा पुराण पर आश्रित रहता है। इतने शास्त्रों का ज्ञान रखने वाला राजा व्यवहार-न्याय-करने की योग्यता से सम्पन्न होता है। फलतः पुराण का उपयोग राजा को व्यवहार की शिक्षा देने के लिए नितान्त आवश्यक है।

(३५) (ग) मीमांसते च यो वेदान् षड्भिरङ्गैः सविस्तरैः।
इतिहासपुराणानि स भवेद् वेदपारगः॥

—(व्यासस्मृति ४। ४५)

इस श्लोक में 'वेदपारग' (वेद के पारंगत व्यक्ति) का लक्षण दिया गया है। वेदपारग होने के निमित्त विस्तारपूर्वक छः अंगों के साथ वेदों की मीमांसा ही आवश्यक नहीं है, प्रत्युत इतिहास-पुराणों की भी मीमांसा—(मनन = अनुशीलन) अपेक्षित है।

(३६) (घ) ब्राह्मणक्षत्रियविशस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तधर्मयोगस्तु नेतराः॥

—(व्यासस्मृति १।५)

इस श्लोक में अधिकारी की चर्चा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य-ये तीनों वर्ण द्विजाति के नाम से विख्यात हैं। श्रुति, स्मृति तथा पुराण में प्रतिपादित धर्म का अधिकार इन्हीं तीनों वर्णों को है; इनसे भिन्न वर्णों को नहीं। यहाँ पुराणोक्त धर्म का स्तर श्रुति तथा स्मृति में प्रतिपादित धर्म के साथ निर्दिष्ट किया गया है। फलतः पुराण-प्रोक्त धर्म उसी प्रकार व्यवहार्य है जिस प्रकार श्रुति-धर्म तथा तदनुयायी स्मृतिधर्म।

(३७) (ङ) वेदं धर्मं पुराणं च तथा तत्त्वानि नित्यशः।
संवत्सरोषिते शिष्ये गुरुर्ज्ञानं विनिर्दिशेत्॥

—(उशनसस्मृति ३।३४)

इस श्लोक में शिष्य को ज्ञान देने की चर्चा है। वेद, धर्म, पुराण तथा तत्त्वों का उपदेश किसी अपरीक्षित तथा अज्ञात कुलशील वाले शिष्य को नहीं देना चाहिए, प्रत्युत गुरु के पास एक साल तक निवास करने वाले (अर्थात् परीक्षण दिये जाने वाले) शिष्य को ही देने का विधान है। निष्कर्ष यह है कि पुराण का उपदेश अपनी गम्भीरता तथा मर्यादा रखता है और वह परीक्षित सुपात्र शिष्य को ही गुरु के द्वारा दिया जाना चाहिए।

(३८) (च) स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च॥

—(मनुस्मृति ३।२३२)

यहाँ पुराण पाठ के समय तथा स्थान का निर्देश है। मनुमहाराज का कथन है कि पितृकर्म—श्राद्ध-के अवसर पर निमन्त्रित ब्राह्मणों को यजमान वेद, धर्मशास्त्र, आख्यात, इतिहास, पुराण तथा खिल (श्रीसूक्त, शिवसंकल्प आदि) सुनावे। फलतः वेदपाठ के सदृश ही पुराण का पाठ तथा श्रवण भी पुण्यकार्य समझा जाता था और वह भी मनु जैसे प्रधान स्मृतिकार की दृष्टि में। मनु के वचन वैदिक ऋषि की दृष्टि में, औषध की भी औषध माने जाते हैं (यद्वै मनुर-वदत् तद् भेषजं भेषजतायाः)

(३९) (छ) पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

—(याज्ञवल्क्यस्मृति उपोद्घात, श्लोक ३)

याज्ञवल्क्य स्मृति के इस उपोद्घात में १४ विद्याओं के स्थान का संकेत है। ये विद्यायें इस प्रकार हैं—(१) पुराण, (२) न्याय, (३) मीमांसा, (४) धर्मशास्त्र, (५-१०) षडङ्ग, (११-१४) वेद। ये ही विद्यायें धर्म के भी स्थान हैं—आधार हैं तथा स्थिति हैं। तात्पर्य यह है कि धर्म को स्वाधार पर रखनेवाली विद्याओं में 'पुराण' अन्यतम है और वह वेदों के सदृश ही उपादेय तथा पवित्र है।

(४०) (ज) वाकोवाक्यं पुराणं च नाराशंसीश्च गाथिकाः।
इतिहासांस्तथा विद्यां योऽधीते शक्तितोऽन्वहम्॥
मांसक्षीरौदनमधु तर्पणं स दिवौकसाम्
करोति तृप्तिं च तथा पितॄणां मधुसर्पिषा॥

—याज्ञ० स्मृ० १।४५.४६

यहाँ याज्ञवल्क्य में पुराण के पाठ से देवों तथा पितरों की विशेष तृप्ति होने का स्पष्ट निर्देश किया है। श्लोकों का स्पष्ट अभिप्राय है कि वाकोवाक्य, पुराण, नाराचंसी गाथा, इतिहास तथा विद्या को जो व्यक्ति अपने शक्ति के अनुसार नित्य पढ़ता है, वह मांस, खीर तथा मधु से देवताओं की तृप्ति करता है और पितरों की मधु, घी से तृप्ति करता है। फलतः देव तथा पितर दोनों की तृप्ति का एकमात्र साधन है—पुराण का दैनंदिन अध्ययन।

(४१) (झ) वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः।
जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत्॥

—या० स्मृ० १।१०१

जप—यज्ञ की उत्कृष्ट सिद्धि के लिए साधक को चाहिए कि वह वेद, अथर्व, पुराण, इतिहास तथा आध्यात्मिकी विद्या (=वेदान्तशास्त्र) का अपनी शक्ति के अनुसार जप करे अर्थात् अध्ययन और मनन करे।

(४२) (ञ) यतो वेदाः पुराणं च विद्योपनिषदस्तथा
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यत् किञ्चिद् वाङ्मयं जगत्

—(या० स्मृ० ३।१८९)

आशय यह है कि जिन मुनियों से वेद, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र तथा भाष्य – अर्थात् समस्त वाङ्मय जगत्—प्रचारित तथा प्रसारित हुआ, वे ही मुनि धर्मप्रवर्तक हैं।

अर्थशास्त्र पर आश्रित शुक्रनीति में भी पुराण का महत्त्व स्वीकार किया गया है। इसमें 'पौराणिक' का जो लक्षण दिया गया है, वह पर्याप्तरूपेण विस्तृत है। 'पौराणिक' को केवल पंचलक्षण का ही ज्ञाता न होकर

साहित्यशास्त्रों में निपुण, संगीत का वेत्ता तथा कोमल स्वर वाला भी होना चाहिए—

(४३) (ट) साहित्यशास्त्रनिपुणः संगीतज्ञश्च सुस्वरः ।
सर्गादिपञ्चज्ञाता च स वै पौराणिकः स्मृतः ॥
—शुक्रनीति २।१७८

मीमांसा, तर्क, सांख्य, वेदान्त, योग, स्मृति के संग में इतिहास पुराण की गणना बत्तीस विद्याओं के अन्तर्गत की गयी है जिसका अध्ययन करना राजा के लिए, शुक्रनीति की दृष्टि में, नितान्त हितकारक होता है—

(४४) (ठ) मीमांसा तर्कसांख्यानि वेदान्तो योग एव च
इतिहासपुराणानि स्मृतयो नास्तिकं मतम् ।
— शुक्रनीति ४।२६९

निष्कर्ष—स्मृतियों से ऊपर उद्धृत कतिपय वाक्य 'पुराण' के समधिक गौरव के विशद द्योतक हैं। वे वेद तथा धर्मशास्त्र के समकक्ष निःसंशय स्वीकृत किये गये हैं। वेद की पारगामिता की योग्यता तब तक किसी व्यक्ति में सिद्ध नहीं मानी जाती, तब तक वह पुराण में भी निष्णात नहीं हो जाता। राजा को अपने व्यवहार के संचालन के निमित्त पुराण का अध्ययन तथा मनन नितान्त अनिवार्य है। प्राचीन राजाओं के चरित का वर्णन प्रस्तुत कर पुराण भारतीय राजनीति के जिज्ञासुओं के लिए एक महनीय विषय प्रस्तुत करता है। इस प्रकार 'पुराण' की महत्ता इस स्मृतियुग में अक्षुण्ण बनी हुई रहती है।

दार्शनिक गण और पुराण

शास्त्रीय ग्रन्थों के टीकाकारों के ग्रन्थों के अनुशीलन से पता चलता है कि ईस्वी सन् के आरम्भिक वर्षों से लेकर अष्टम शती तक के व्याख्याकारों ने पुराण का निर्देश किया है और वे निर्देश आजकल प्रचलित पुराणों में उपलब्ध होते हैं जिससे पुराणों का वर्तमान रूप उस प्राचीनरूप से भिन्न नहीं प्रतीत होता। ऐसे व्याख्याकार हैं—शबरस्वामी (२०० ई०–४०० ई० के मध्य) कुमारिल (सप्तम शती), शंकराचार्य (७०० ई० आसपास) तथा विश्वरूप (८००-८५० ई०)। शबरस्वामी जै० १०।४।२३ के भाष्य में यज्ञ से सम्बद्ध देवता के स्वरूप का निर्णय करते समय लिखते हैं कि इस विषय में इतिहास पुराण में उपलब्ध एक मत यह था कि देवता से तात्पर्य अग्नि आदिकों से है जो स्वर्ग में निवास किया करते हैं। यह मत आज प्रचलित पुराणों में भी उपलब्ध होता ही है।

(४५) का पुनरियं देवता नाम । एकं तावन्मतं या एता इतिहास-पुराणेष्वग्न्याद्याः संकीर्त्यन्ते नाकसदस्ता देवता इति ।...

शबर जै० सू० १०।४।२३

कुमारिल और पुराण

कुमारिलभट्ट ने तन्त्रवार्तिक में पुराणों के स्वरूप तथा विषय के सम्बन्ध में बहुत ही मूल्यवान बातें बतलाई हैं जिनमे से 'पुराण—प्रामाण्य' की चर्चा पृथक् रूप से अन्यत्र की गई है। यहां अन्य संकेत दिये जाते हैं। जैमिनि सूत्र १ । ३ । ७ की व्याख्या में कुमारिल का कथन है कि पुराणों में कलियुग के विषय मे कहा गया है कि शाक्य (गौतम बुद्ध) तथा अन्य लोग पैदा होंगे जो धर्म के विषय में विप्लव उत्पन्न कर देंगे; इन लोगों के वचनों को कौन सुनता है ?" इस वर्णन से दो तथ्य स्पष्ट हैं कि कुमारिलयुगीन पुराणों में कलियुग का वर्णन अवश्यमेव पाया जाता था तथा बुद्ध बड़ी ही निन्दा की दृष्टि से उन पुराणों में देखे जाते थे। यहाँ स्मरणीय है कि जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में बुद्ध को अवतार मान कर दशावतारों के अन्तर्गत स्तुति की है तथा क्षेमेन्द्र ने अपने 'दशावतारचरित' महाकाव्य में बुद्ध के चरित को सम्मिलित किया है (र० का० १०६० ई०)। फलतः बुद्ध की अवतार—कल्पना कुमारिल के अनन्तर तथा क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती काल की घटना है लगभग नवम-दशम शती की। कुमारिल से पूर्ववर्ती किसी न किसी पुराण में बुद्ध की निन्दा अवश्यमेव उपलब्ध थी जिसका संकेत कुमारिल ने अपने इस वाक्य में किया है।

(४६) स्मर्यन्ते च पुराणेषु धर्मविप्लुति-हेतवः ।
कलौ शाक्यादयस्तेषां को वाक्यं श्रोतुमर्हति ॥

—तंत्रवार्तिक जै० १।३।७। पर

(४७) तथा स्वर्ग शब्देनापि नक्षत्रदेशो वा वैदिक-प्रवाद-पौराणिक याज्ञिक-दर्शनेनोच्यते......यदि वेतिहासपुराणोपन्नं मेरुपृष्ठम् अथवाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभक्तं केवलमेव सुखम् ॥

—तंत्रवार्तिक जै सू १।३।३०

'स्वर्ग' शब्द की व्याख्या के अवसर पर कुमारिल पूछते हैं कि 'स्वर्गः' शब्द का अर्थ क्या है ? क्या स्वर्ग ताराओं का कोई देश है अथवा इतिहास-पुराण की मान्यता के अनुसार यह मेरु का पृष्ठ है अथवा केवल सुख का संकेतवाची शब्द है ? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुमारिल के परिचित पुराण आज कल प्रचलित पुराण से भिन्न नहीं थे, क्योंकि प्रचलित पुराणों में स्वर्ग की स्थिति मेरुपर्वत के पृष्ठ पर बतलाई जाती है (मत्स्य ११।३७-३८; पद्म, पातालखण्ड, ८।७२-७३)

(४८) विमानेनागमत् स्वर्गं पत्या सह मुदान्विता।
सावर्णोऽपि मनुर्मेरावद्याप्यास्ते तपोधनः ॥

—मत्स्य ११।३७

शंकराचार्य तथा पुराण

शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य के अनेक स्थलों पर पुराण तथा उसके विषय का निर्देश किया है। पुराण को 'स्मृति' शब्द के द्वारा ही सर्वत्र निर्दिष्ट किया है तथा उनके द्वारा उद्धृत श्लोक प्रचलित पुराणों में उपलब्ध होते हैं जिससे स्पष्ट है कि शंकर प्रचलित पुराणों से परिचय रखते थे। कतिपय निर्देश नीचे दिये जाते हैं। यहां स्मरणीय है कि वे किसी विशिष्ट पुराण का नाम नहीं लेते, यद्यपि उनके उद्धरण विशिष्ट पुराणों में उपलब्ध होते हैं :—

(क) कल्पों की असंख्येयता। कल्पों के विषय के आचार्य का कथन है कि 'पुराणों में स्थापित किया गया है कि बीते हुए और आगे होने वाले कल्पों का कोई परिमाण नहीं है'—

(४९) पुराणे चातीतानागतानां कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम्—वे० सू २।१।३६ पर शाङ्करभाष्य की अन्तिम पंक्ति। इसे मिलाइए ब्रह्माण्ड १।४।३०-३२ से जहां कल्प अनन्त बतलाये गये हैं।

(ख) शब्दपूर्विका सृष्टि के विषय में आचार्य ने स्मृति का वचन उद्धृत किया है जिसका अर्थ है कि स्वयम्भू ब्रह्मा ने अनादि तथा अनन्त, नित्य, दिव्य-रूपा वेदमयी वाणी को सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न किया। उसी से जगत् की समस्त प्रवृत्तियां निकलीं :—

(५०) स्मृतिरपि—
अनादि—निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

शां० भा० १।३।२८

यह वचन कूर्मपुराण में उपलब्ध होता है (१।२।२८) अन्तर इतना ही हैं कि कूर्म० का पाठ है 'आदौ वेदमयी भूतामतः' जो स्पष्टतः अशुद्ध प्रतीत होता है।

(ग) इसी प्रसङ्ग में आचार्य ने एक अन्य श्लोक उद्धृत किया है जिसका अर्थ है कि महेश्वर ने वेद के शब्दों से ही भूतों के नाम तथा रूप को, कर्म की प्रवृत्ति को सृष्टि के आरम्भ में बनाया :—

(५१) नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्।
वेद शब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥

यह श्लोक एक दो शब्दों के परिवर्तन के साथ अनेक पुराणों में उपलब्ध होता है—कूर्म १।७।६६; ब्रह्माण्ड १।८।६५; मार्कण्डेय ४८।४२; वायु ९।६३; विष्णु १।५।६३। विष्णु में इस श्लोक का रूप इस प्रकार है, परन्तु तात्पर्य में विशेष अन्तर नहीं है :—

नाम रूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः॥

— पूर्वोक्त श्लोक मनुस्मृति में भी मिलता है (मनु० १।२१)

(घ) आचार्य शङ्कर ने १।३।३० के भाष्य में प्रतिपादित किया है कि धर्म और अधर्म की फलरूपा उत्तरा सृष्टि उत्पन्न होने के समय पूर्वसृष्टि के समान ही निष्पन्न होती है और इस प्रसङ्ग में स्मृतिवचन के रूप में दो श्लोकों को उद्धृत किया है :—

स्मृतिश्च भवति—

(५२) तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
तद् भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात् तत् तस्य रोचते॥

ये श्लोक पुराणों में मिलते हैं—कूर्म १।७।६३–६४; मार्क० ४८।३९–४०; वायु ८।३२–३३ तथा ९।५७–५८; विष्णु १।५।५९–६०। ये दोनों श्लोक वायुपुराण में दो वार दिये गये हैं। केवल 'हिंस्राहिंस्रे'वाला श्लोकार्ध मनुस्मृति में भी उपलब्ध होता है। (मनु १।२९)। शान्तिपर्व (अ० २३२, श्लोक १६–१७) में ये दोनों ही श्लोक उपलब्ध होते हैं।

(ङ) इसी सूत्र (१।३।३०) के भाष्य के अन्त में आचार्य ने तीन निम्नलिखित पद्यों को उद्धृत किया है—

स्मृतिरपि—

(५३) ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥
यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव, तथा भावा युगादिषु॥
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह।
देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥

इस श्लोकत्रयी के आदिम दोनों श्लोक वायु० (९।६४-६५) में उपलब्ध होते हैं।

(च) देवों के विषय में आचार्य का कथन है कि देवों में सामर्थ्य की भी सम्भावना है, क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास-पुराण से पता चलता है कि देवों को विग्रह (शरीर) होता है—

(५४) तथा सामर्थ्यमपि तेषां (देवादीनां) संभवति, मन्त्रार्थवादेतिहास पुराणलोकेभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यधिगात् ।

—शा० भा० १।३।२६

पुराणेतिहास में देवों के शरीरी होने के प्रचुर निर्देश मिलते हैं ।

(छ) ब्र सू. २।१।१ के भाष्य में आचार्य ने किसी पुराण से जो वचन उद्धृत किया है वह बड़े महत्त्व का है । पहिली बात महत्त्व की यह है कि यह स्पष्टतः 'पुराण' का वचन है किसी स्मृति का नहीं और दूसरी बात यह है कि यह वचन किसी एक विशिष्ट पुराण से सम्बन्ध रखता है । वह पुराण 'वायुपुराण' ही है जिसमें यही श्लोक 'नारायणः' के स्थान पर 'महेश्वरः' पाठ के साथ वहाँ उपलब्ध होता है—

(५५) अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः ।
स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः ॥

इति पुराणे ।

यही श्लोक वायुपुराण में (१।२०५) उपलब्ध होता है । अन्तर इतना ही है कि वायु में 'नारायणः' के स्थान पर 'महेश्वरः' परिवर्तन है ।

(ज) आचार्य विष्णुपुराण से पूरा परिचय रखते थे; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता । सनत्सुजातीय भाष्य (अध्याय २ श्लोक ७) में मूलश्लोक 'निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदाः, तद् विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति' की व्याख्या के अवसर पर शंकराचार्य ने अपने अर्थ के लिए प्रमाण दिया है:—

(५६) न केवलं वेदा अपि तु मुनयोऽपि तत् ब्रह्म
विश्ववैरूप्यं विश्वरूप-विपरीत-स्वरूपमुदाहरन्ति ।
तथा चाह भगवान् पराशर :—
प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसाम् , आत्म संवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसम्मितम् ॥
तच्च विष्णोः परं रूपमरूपाख्यमनुत्तमम् ।
विश्वस्वरूपवैरूप्य-लक्षणं परमात्मनः। ।

ध्यातव्य है कि पराशर विष्णुपुराण के प्रवक्ता हैं और ये दोनों श्लोक विष्णुपुराण के षष्ठ अंश के सप्तम अध्याय के ५३ तथा ५४ श्लोक हैं । आचार्य इस पुराण को प्रमाण कोटि में मानते थे । महाभारत के श्लोक में ब्रह्म

'विश्ववैरूप्य' कहा गया है। आचार्य का भाष्य है—कि ब्रह्म विश्व से विपरीत लक्षण वाला है और इसी तात्पर्य को पराशर मुनि ने द्वितीय पद्य में निर्दिष्ट किया है जिस प्रामाण्य के लिए ये पद्य उद्धृत हैं। इससे शंकर के युग में—सप्तमी शती के अन्त तथा अष्टम शती के आरम्भ मे—विष्णुपुराण नितान्त प्रख्यात तथा प्रमाण माना जाता था जिससे उसके नामोल्लेख की आवश्यकता नहीं समझी गई।

(झ) नरकों के विषय में आचार्य का कथन है कि पौराणिकों का कथन है कि रौरव आदि सात नरक होते हैं जहाँ पाप करने वाले लोग अपने फल को भोगने के लिए जाते हैं—

(५७) अपि च सप्त नरका रौरव प्रमुखा दुष्कृत फलोपभोग-भूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैः।ताननिष्टादिकारिणः प्राप्नुवन्ति।

—३।१।१५ ब्र० सू० भाष्य

यह उद्धरण महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि यह स्पष्टतः विष्णुपुराण के द्वारा निर्दिष्ट नरकों का संकेत करता है। विष्णु ने नरकों की रौरव, तामस आदि नव संख्यायें मानी हैं जहाँ अन्य पुराणों में नरकों की संख्या इससे तिगुनी अर्थात् इक्कीस (२१) मानी गई है। मनु (४।८७-९०), याज्ञवल्क्य (३।२२२–२२४) तथा विष्णुधर्मसूत्र (४३।२-२२) ने ही नरकों की संख्या २१ नहीं मानी है, प्रत्युत पुराणों की महती संख्या इसी संख्या को प्रामाणिक मानती है। देखिए विशेषतः श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध का २६ वाँ अध्याय जहाँ इन २१ प्रकार के नरकों का वर्णन विस्तार से दिया गया है।

निष्कर्ष—आचार्य शंकर प्रचलित पुराण के विषय तथा स्वरूप से भली भाँति परिचित थे। वे दो पुराणों से निश्चितरूप से परिचय रखते हैं—**वायुपुराण** तथा **विष्णुपुराण** से, इसके पोषक प्रमाण ऊपर उद्धृत किये गये हैं। वे पुराण को वेदार्थ-उपबृंहण करने के कारण प्रमाणभूत मानते हैं। इस विषय की चर्चा स्वतन्त्ररूप से पृथक् की गई है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के शारीरिक भाष्य में तथा सनत्सुजातीय भाष्य में जहाँ पूर्वोक्त श्लोक प्रमाणरूप से उपन्यस्त किये गये हैं, किसी भी पुराण का नाम्ना निर्देश नहीं करते, परन्तु उनके निर्दिष्ट श्लोक वायु अथवा विष्णुपुराण में निश्चितरूप से उपलब्ध होते हैं। उद्धरण ५६ में आचार्य ने भगवान् पराशर के श्लोकों का निर्देश किया है। पराशर विष्णुपुराण के वक्ता हैं। अतः आचार्य यहां विष्णुपुराण के पद्य का ही निर्देश कर रहे हैं, परन्तु पुराण का नाम नहीं लेते। यह आश्चर्य की वस्तु है।

आचार्य विश्वरूप—(८००-८५० ई०) ने याज्ञवल्क्यस्मृति की स्वप्रणीत 'बालक्रीडा' टीका में पुराणों के विषय में दो महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति (३।१७०) में विश्व के परिणाम के विषय में सांख्य सिद्धान्त वर्णन किया गया है। इसकी टीका में विश्वरूप का कथन है कि जगत् की सृष्टि तथा प्रलय-विषयक यह सिद्धान्त पुराणों में सर्वत्र पाया जाता है—

(५८) एषा प्रक्रिया सृष्टि प्रलयवर्णनादौ सर्वत्र पुराणादिष्वपि ॥

विश्वरूप का यह कथन पुराणों की समीक्षा से बिल्कुल यथार्थ सिद्ध होता है। पुराणों के ऊपर सांख्यदर्शन का बड़ा गम्भीर तथा व्यापक प्रभाव है। यह किसी भी पुराण के अनुशीलन से सिद्ध किया जा सकता है (द्रष्टव्य कूर्म १. ४. ६. १६. तथा विष्णु १।२। २९-३७) विष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवत ने सांख्य-प्रक्रिया का बहुशः आश्रयण तत्तत् अध्यायों में सृष्टि तथा प्रलय के वर्णन के अवसर पर किया है। अग्निपुराण में भी यही प्रक्रिया वर्णित है (द्रष्टव्य अग्नि० १७।१-७ तथा २०।१-८)

दूसरा प्रसंग पितृयान की स्थिति के विषय में है। याज्ञवल्क्य स्मृति का कथन है कि पितृयान अजवीथि तथा अगस्त्य के बीच में स्थित है। अग्निहोत्र करने वाले, स्वर्ग की कामना करने वाले स्वर्ग के प्रति इसी मार्ग से जाते हैं। स्मृति का यह वचन विष्णुपुराण (२।८।८५-८६) के साथ विलक्षण समता रखता है। दोनों वचनों की समता पर ध्यान दीजिए—

याज्ञवल्क्य (३।१७५)—

पितृयानोऽजवीथ्याश्च, यदगस्त्यस्य चान्तरम् ।
तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥

विष्णुपुराण (२।८।८५-८६)

उत्तरं यदगस्त्यस्य अजवीथ्याश्च दक्षिणम् ।
पितृयानः स. वै. पन्था वैश्वानरपथाद् बहिः ॥

तत्रासते महात्मानो ऋषयो येऽग्निहोत्रिणः ।

विश्वरूप का कथन—

(५९) पुराणे हि भगवतः सवितु-र्बह्वो वीथ्यो-
दिवि पद्धतयः श्रूयन्ते यथाऽगस्त्यस्यानन्तरा अजवीथी

—बालक्रीडा ३।१७५

यह कथन विष्णुपुराण के वचन पर अथवा मत्स्यपुराण १२४।५३-६० तथा वायु० ५०।१३० के वचनों पर आधारित है। मेरी दृष्टि में विश्वरूप ने

ही नहीं, प्रत्युत याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रणेता ने विष्णुपुराण के वचन के आधार पर ही अजवीथी की स्थिति तथा उसका उपयोग करने वाले व्यक्तियों का पूर्वोक्त वर्णन प्रस्तुत किया है। फलतः विष्णुपुराण का रचनाकाल तृतीयशती से नियत रूप से पूर्ववर्ती होना चाहिए।

शवर स्वामी से लेकर विश्वरूप तक अर्थात् द्वितीय शती से लेकर नवम शती तक के व्याख्याकारों ने पुराणों के स्वरूप तथा वर्ण्य विषय का जो कुछ भी संकेत किया है तथा श्लोकों के उद्धरण दिये हैं उससे स्पष्ट है कि उस युग के पुराणों का रूप आजकल प्रचलित पुराणों के कथमपि भिन्न न था। यह तथ्य बड़े महत्त्व का है। यह दिखलाता है कि पुराण के विषयों में एक सातत्य है; इधर-उधर से जोड़े जाने पर भी पुराण का बहुत भाग प्राचीन है तथा इसी रूप में लगभग आठ शताब्दियों के सुदीर्घ काल में वर्तमान था। यह निष्कर्ष पुराण के प्रायः अधिकांश अंशों के विषय में सत्य है। स्फुट परिवर्धन की कल्पना को निश्चित विराम नहीं दिया जा सकता। इतना भी तथ्य कम ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रखता।

बाणभट्ट और पुराण

विक्रम को आरम्भिक आठ शताब्दियों में जन्म लेने वाले कविजनों के काव्यों का यदि अनुशीलन किया जाय, तो पुराण के विषय में पूर्व प्रतिपादित तथ्यों में परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत न होगी। माघ स्वयं वैष्णव कवि थे। उन्होंने शैव भारवि की महिमा को परास्त करने की दृष्टि से अपने 'शिशुपालवध' नामक प्रख्यात वैष्णव काव्य का प्रणयन किया। अपने काव्य की प्रतिष्ठा में उन्होंने स्वयं लिखा है—**लक्ष्मीपतेः चरित कीर्तनमात्रचारु**॥ अर्थात् लक्ष्मीपति के कीर्तन होने के ही कारण उनका काव्य सुन्दर तथा मनोज्ञ है। 'शिशुपालवध' श्रीमद्भागवत के ऊपर ही आधारित महाकाव्य है। इसे महाभारत के ऊपर आधारित मानना विषयों के वैपम्य के कारण निरी विडम्बना है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के उत्तरार्ध (अध्याय ७०-७७) में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का मनोरम प्रसङ्ग है। इसके आरम्भ में नारद जी स्वयं पधारते हैं तथा श्रीकृष्ण के पूछने पर युधिष्ठिर के भावी राजसूय की सूचना वे स्वयं देते हैं (१०।७०।४१) तथा इस विषय में भगवान् की अनुमति चाहते हैं। कृष्ण उद्धव की सम्मति जानना चाहते हैं और उनकी अनुकूल सम्मति पाकर वे युधिष्ठिर के राजसूय में पधारते हैं। मेरी दृष्टि में माघ कवि ने भागवत से यह प्रसङ्ग तथा क्रम अपनाकर इस विशाल वैष्णव महाकाव्य का प्रणयन किया। फलतः भागवत की रचना माघ-काव्य की रचना से प्राचीनतर

माननी चाहिए। माघ का आविर्भावकाल ७००–७५० ई० माना जाता है। फलतः माघ के द्वारा आधार ग्रन्थ के रूप में समादृत होने से श्रीमद्भागवत का रचना-काल अष्टमी शती से पूर्ववर्ती होना चाहिए।

संस्कृत के महान् गद्यकवि बाणभट्ट (सप्तम शती) पुराणों से, विशेषतः वायुपुराण, से विशेषभावेन सुपरिचित थे। उनके दोनों गद्य काव्यों—कादम्बरी तथा हर्षचरित—में पुराण का उल्लेख विशेषरूप से प्राप्त होता है :

(क) कादम्बरी के पूर्वभाग में जाबालि मुनि के आश्रम के वर्णन-प्रसंग में बाणभट्ट ने एक बड़ी ही सुन्दर परिसंख्या प्रयुक्त की है :—

(६०) 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्'।

जिस का तात्पर्य है कि पुराणों में वायु के द्वारा कथन उपलब्ध है। वायु रोग के द्वारा उस आश्रम में प्रलाप नहीं होता था। तारापीड के महल के वर्णन के समय वे कहते हैं कि समग्र भुवन का कोश इकट्ठा करके उचित स्थानों पर रखा हुआ है जिस प्रकार पुराण में भुवनकोश (संसार का भूगोल) विभिन्न विभागों में स्थापित किया गया है।

(६१) पुराणमिव यथाविभागावस्थापित सकलभुवनकोशम्।

(राजकुलम्)

इसी प्रकार उत्तर कादम्बरी में 'आगमभूत पुराण रामायण भारत में अनेक प्रकार की शापवार्ता सुनी जाती है' ऐसा कथन उपलब्ध होता है।

(६२) आगमेषु सर्वेष्वेव पुराणरामायणभारतादिषु सम्यगनेक-प्रकाराः शापवार्ताः श्रूयन्ते।

ये तीनों विषय पुराणों में उपलब्ध हैं। वायु के द्वारा किसी पुराण के कथन का संकेत ब्रह्माण्डपुराण (१।१।३६–३७) ने स्पष्टतः इस श्लोक में किया है—

पुराणं संप्रवक्ष्यामि यदुक्तं मातरिश्वना।
पृष्टेन मुनिभिः पूर्वं नैमिषीयैर्महात्मभिः॥

भुवनकोश का वर्णन प्रायः पुराणों मे आज भी उपलब्ध होता है (वायु० अध्याय ३४ ४१९; भागवत० पंचम स्कन्ध; अग्नि० १०७ अ०, श्लोक १–१२०; विष्णुपुराण, द्वितीय अंश अ० २–४)। शाप–विषयक ग्रन्थों में पुराण का प्रथम उल्लेख इसकी लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है। बाणभट्ट की दृष्टि में रामायण तथा महाभारत की अपेक्षा पुराण विशेष लोकप्रिय था।

(ख) हर्षचरित में पुराण के दो उल्लेख बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। एक स्थान पुराण के पाठ का प्रसंग है कि पुस्तक वाचक सुदृष्टि ने गीत के साथ 'पावमान' (पवन, वायु के द्वारा प्रोक्त) पुराण का पाठ किया—

(६३) पुस्तकवाचकः सुदृष्टि···गीत्या पवमानप्रोक्तं पुराणं पपाठ।
—हर्षचरित, तृतीय परि०, चतुर्थ अनु०

इस कथन से स्पष्ट है कि सप्तम शतक में सर्वसाधारण जनता के सामने पुराणों का पाठ किया जाता था तथा पुस्तकों का बाँचना एक अलग ही व्यवसाय माना जाता था। वायुपुराण की लोकप्रियता सबसे अधिक थी। इसी पुराण के विषय में आगे चलकर बाणभट्ट कहते हैं कि पावन (पवन प्रोक्त) पुराण हर्षचरित से अभिन्न प्रतीत होता है। पुराण मुनि (व्यास) द्वारा गीत है, अत्यन्त विस्तृत है तथा समस्त जगत् में व्यापक है और अत्यन्त पवित्र है। (पुराण का पाठ सदा पवित्र माना जाता है)। 'पावन' शब्द श्लिष्ट है--पवित्र तथा पवन-प्रोक्त। यहां जो विशेषण पुराण के लिए प्रयुक्त हैं वे ही हर्ष के चरित के विषय में भी लगाये जा सकते हैं—

(६४) तदपि मुनिगीतमतिपृथु तदपि जगद्व्यापिपावनं तदपि।
हर्षचरितादभिन्नं प्रतिभाति हि मे पुराणमिदम्।
—हर्षचरित परि० ३,५ अनु०

ये दोनों निर्देश इस तथ्य के स्पष्ट द्योतक हैं कि सप्तम शती में वायु-पुराण का प्रचलन, जनता के सामने पाठ, विशेषरूप से वर्तमान था। प्रचलित वायु० में जितना वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर है, वह सब यहां संक्षेप में निर्दिष्ट किया गया है। इस ऐतिहासिक संदर्भ को ध्यान में रखने से श्रीशङ्कराचार्य द्वारा बिना नाम निर्देश के ही वायुपुराण के श्लोकों का उद्धरण उसकी नितान्त लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि का परिचायक है।

इस परिच्छेद में ऊपर वर्णित कथनों का समीक्षण हमें पुराण के विषय में प्रामाणिक तथ्य से परिचित कराने के लिए पर्याप्त है। 'पुराण' का उदय अथर्ववेद के समय में ही हुआ; परन्तु यह उदय केवल सामान्य मौखिक परम्परा के रूप में माना जा सकता है। ग्रंथ के रूप में पुराण का निर्देश तैत्तिरीय आरण्यक में भी बतलाना कठिन ही है यद्यपि वहां 'पुराणानि' के बहुवचन प्रयोग से कम से कम तीन पुराणों की सत्ता का अनुमान अनेक पण्डितजन लगाते हैं। परन्तु पुराण के वर्ण्यविषय का निश्चित निर्देश इस काल तक नहीं लगाया जा सकता। आपस्तम्ब धर्मसूत्र का प्रामाण्य वर्ण्यविषय की ओर किञ्चित् संकेत करता है। धर्मशास्त्रीय विषयों की सत्ता मूलभूत प्राचीन 'पुराण' में मानना सर्वथा न्याय्य तथा उपयुक्त प्रतीत होता है। आपस्तम्ब (ई० पू० षष्ठ शती) 'भविष्यत् पुराण' से परिचित हैं, परन्तु आज प्रचलित 'भविष्य-पुराण' में उस पुराण का कौन सा भाग सन्निविष्ट है—इसे यथार्थतः बतलाना आज असम्भव है। कौटिल्य (ई० पू० चतुर्थ शती) पुराण से सामान्य परिचय

नहीं रखते, प्रत्युत वे राजा द्वारा वेतनभोगी 'पौराणिक' नामक अधिकारी की नियुक्ति की चर्चा करते हैं। उस काल में 'पुराण' राजा के अध्ययन योग विषयों में अन्यतम माना जाता था। रामायण तथा महाभारत भी पुराण से तथा इसके प्रचारक सूत मागधों की परम्परा से परिचित हैं।

स्मृतियाँ पुराण को विद्यास्थानों में अन्यतम स्थान प्रदान करतीं हैं। श्राद्ध के समय मनुस्मृति पुराण के पाठ को पुण्यवर्धक कार्य मानती है। याज्ञवल्क्य-स्मृति जपयज्ञ की सिद्धि के लिए वेद तथा इतिहास के संग में पुराण के स्वाध्याय को महत्त्व प्रदान करती है। अन्य स्मृतियां भी इस विषय में मौन नहीं हैं। दार्शनिक ग्रंथकार भी पुराण के प्रामाण्य पर आग्रह दिखलाते हैं। वात्स्यायन, शबर स्वामी, कुमारिल, शङ्कराचार्य तथा विश्वरूप—पुराण की वेदानुगामिता को प्रमाण कोटि में मानते हैं तथा पुराणों के उद्धरणों को देकर उनसे अपना स्पष्ट परिचय घोषित करते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि (द्वितीय शती ई० पू०) पुराण के आख्यानों से परिचय रखते हैं तथा बाणभट्ट (सप्तम शती) ने वायु-पुराण के पाठ की चर्चा कर उसके स्वरूप का जो परिचय दिया है वह आज प्रचलित वायुपुराण से सर्वथा भिन्न नहीं है। अलबरूनी नामक अरबी ग्रन्थकार ने अपने भरतविषयक ग्रंथ में पुराण से बहुत सी सामग्री ग्रहण की है जो तत्तत् पुराणों में आज भी उपलब्ध है। इस प्रकार भारतीय साहित्य के इतिहास में 'पुराण' का उदय वैदिक युग में हुआ और उसका अभ्युदय महाभागवत गुप्तों के साम्राज्य काल में सम्पन्न हुआ; सामान्य रीति से इस कथन को तथ्यपूर्ण माना जा सकता है।

द्वितीय परिच्छेद

पुराण का अवतरण

पुराण के अवतरण के विषय में पुराणों तथा इतर ग्रन्थों में अनेक सूत्र यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। उनका एकत्र समीक्षण करने पर अनेक तथ्यों का प्रकटीकरण होता है। पहली वस्तु ध्यान देने की है कि पुराण के विकाश में दो धारायें स्पष्टतः लक्षित होती हैं—(क) व्यासपूर्व धारा तथा (ख) व्यासोत्तर धारा। व्यास का मुख्य कार्य 'पुराण संहिता' का निर्माण था। फलतः पुराणों की सुव्यवस्थित रूप में घटना वेदव्यास का अलोकसामान्य कार्य था, परन्तु पुराण की यह धारा उनसे भी प्राचीनतर युग के साहित्यिक जगत् की एक विशिष्ट महनीय वस्तु है। उस युग में 'पुराण' का अर्थ है लोक-प्रचलित परन्तु अव्यवस्थित, इतस्ततो विकीर्ण लोकवृत्तात्मक विद्याविशेष। इस सिद्धान्त के लिये प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं :—

(क) प्राचीन ग्रन्थों में 'पुराण' शब्द का ही प्रयोग मिलता है, 'पुराण संहिता' का नहीं। फलतः यह मूलतः किसी ग्रंथविशेष का द्योतक न होकर, किसी विद्याविशेष का ही वाचक है।

(ख) पुराण के आविर्भाव का निर्देश वायु १।५४ तथा मत्स्य ३।३–४ में वेद से आविर्भाव से पूर्ववर्ती बतलाया गया है। ब्रह्मा ने सब शास्त्रों में पुराण का ही प्रथम स्मरण किया और अनन्तर उनके मुखों से वेद निःसृत हुए—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटि प्रविस्तरम्
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः ॥

—मत्स्य ३।३–४

'शतकोटिप्रविस्तरम्' शब्द किसी निश्चित रूप का संकेत न कर पुराण के अनिश्चित यथा विप्रकीर्ण रूप का द्योतक माना जा सकता है। किसी ग्रन्थ का संकेत न होने से यह निर्देश पुराणविद्या की ही द्योतना करता है; ऐसा मानना उचित है।

(ग) 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति भी इस विषय में सहायक मानी जा सकती है :—

पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम्

—पद्मपुराण ५।२।५३

अस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।

—वायु १।१०३; १०३।५५

फलतः अपने प्राचीनतम रूप में 'पुराण' किसी विशिष्ट ग्रन्थ का बोधक न होकर विद्याविशेष का ही बोधक है ।

पुराण के अवतरण की एक अन्य कल्पना भी है । स्कन्द[1] (रेवामाहात्म्य) पद्म[2] (सृष्टिखण्ड) तथा मत्स्य[3] समान भाव से इस परम्परा का उल्लेख करते

---

१. पुराणमेकमेवासीदस्मिन् कल्पान्तरे नृप ॥
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥
स्मृत्वा जगाद च मुनीन्प्रति देवश्चतुर्मुखः ॥
प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां पुराणस्याभवत्ततः ॥
कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप ॥
व्यासरूपं विभुं कृत्वा संहरेत्स युगेयुगे ॥
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा ॥
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रभाषते ।
अद्यापि देवलोके तच्छतकोटिप्रविस्तरम् ॥
तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षः संक्षेपेण निवेशितः ॥
पुराणानि दशाष्टौ च साम्प्रतं तदिहोच्यते ॥

(रेवामाहात्म्य १।२३।३०)—स्कन्दपुराण

२. प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां पुराणस्याभवत्तदा ॥
कलिना ग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य तदा विभुः ॥
व्यासरूपी तदा ब्रह्मा संग्रहार्थं युगे युगे ॥
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे विभुः ॥
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते ॥

—पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ० १

३. पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनव ॥
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ४ ॥
निर्दग्धेषु च लोकेषु वाजिरूपेण वै मया ॥
अंगानि चतुरो वेदाः पुराणं न्यायविस्तरम् ॥ ५ ॥
मीमांसा धर्मशास्त्रं च परिगृह्य मया कृतम् ॥
मत्स्यरूपेण च पुनः कल्पादावुदकार्णवे ॥ ६ ॥
अशेषमेतत् कथितमुदकान्तर्गतेन च ॥
श्रुत्वा जगाद च मुनीन् प्रति देवान् चतुर्मुखः ॥७॥

—मत्स्यपुराण, अध्याय ५३

हैं। इस परम्परा का कथन है—कल्पान्तर में पुराण एक ही था। वह त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ तथा काम—का साधन था अर्थात् जिस प्रकार वह अर्थशास्त्र तथा कामशास्त्र के विषयों का प्रतिपादक था, उसी प्रकार वह धर्म का भी प्रकाशक था। उसका क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत था, क्योंकि वह श्लोकों की संख्या में शतकोटि विस्तार रखता था। अनेक पुराणों की मान्यता है कि यह विशाल पुराण-साहित्य देवलोक में प्रतिष्ठित था। समय के परिवर्तन से इतने विशाल पुराण का ग्रहण क्षीणबुद्धि मानवों की परिमित शक्ति के बाहर की बात थी। फलतः विष्णु भगवान् ने मानवों के कल्याण के लिए इस विशालकाय साहित्य को चार लाख श्लोकों के भीतर संक्षिप्त कर दिया व्यास का रूप धारण करके। इसीलिए मर्त्यलोक में पुराण की संख्या चतुर्लक्षात्मक है और इसी का विभाजन १८ महापुराणों में वेदव्यास ने कर दिया जो आजकल प्रचलित तथा लोकप्रिय हैं।

एक मत के अनुसार चतुःसहस्रात्मक पुराण संहिता का विपुलीकरण चतुर्लक्षात्मक अष्टादश पुराणों के रूप में है और द्वितीय मत के अनुसार देवलोक में विद्यमान शतकोटि श्लोकात्मक पुराण का संक्षेपरूप चतुर्लक्षात्मक १८ पुराणों के रूप में किया गया है। उभय तथ्य इस बात पर एकमत हैं कि पुराण के प्रणयन में वेदव्यास की ही मुख्यरूपेण क्रियाशीलता है। इस साहित्य के निर्माण का श्रेय इस वर्तमान युग में कृष्णद्वैपायन मुनि को है।

पुराण लौकिक शास्त्र है। यह वेद से भिन्न, परन्तु तदनुकूल शास्त्र माना जाता है। वेद के समान इसका स्वरूप सदा-सर्वदा के लिए निश्चित नहीं किया गया है, प्रत्युत यह समय परिवर्तन के संग में तथा उसके प्रभाव में आकर स्वयं परिवर्तनशील है। इसीलिए तन्त्रवार्तिक (१।३।२) वेद को अकृत्रिम, परन्तु पुराण को कृत्रिम बतलाता है। निरुक्त में पुराण शब्द की दी गई निरुक्ति भी इसके समय-समय पर परिवर्तन की ओर स्पष्टतः संकेत करती है। वह व्युत्पत्ति है—**पुरापि नवं भवति**। आशय है यह शास्त्र प्राचीनकालिक होने पर भी नया-नया होता है अर्थात् मूलतः प्राचीन होने पर भी कालान्तर में उत्पन्न परिवर्तनों को यह अपने में आत्मसात् कर लेता है। पुराण इस सामयिक परिवर्तन के तथ्य को प्रकट करने से पराङ्मुख नहीं होता। कुमारिकाखण्ड (४०।१९८) का स्पष्ट कथन है—इतिहास और पुराण लोक-गौरव से भिन्न-भिन्न होते हैं :

इतिहासपुराणानि भिद्यन्ते लोकगौरवात्

यह कथन सामयिक परिवर्तन के तथ्य का ही द्योतक है। न्यायभाष्य (४।१।६१) में महर्षि वात्स्यायन लोकवृत्त को ही इतिहास पुराण का विषय अंगीकार करते हैं—

लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य विषयः।

इस कथन की महत्ता वेद तथा धर्मशास्त्र की तुलना से भली भाँति समझी जा सकती है। वात्स्यायन ने साहित्य को तीन अंगों में विषय की दृष्टि से विभक्त किया है—यज्ञ मन्त्रब्राह्मण का अर्थात् वेद का विषय है; लोक का चरित इतिहास पुराण का विषय है तथा लोकव्यवहार का व्यवस्थापन—लोक में पुण्य-पाप आदि का निर्धारण धर्मशास्त्र का विषय है (४।१।६२ पर वात्स्यायन भाष्य)। इस महत्त्वपूर्ण मन्तव्य का तात्पर्य यह है कि द्रष्टा तथा प्रवक्ता की दृष्टि से तो इनमें भेद नहीं है क्योंकि जो द्रष्टा तथा प्रवक्ता मन्त्र—ब्राह्मण के हैं, वे ही इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र के भी हैं। फलतः प्रवक्ता की दृष्टि से इनमें पार्थक्य नहीं है। तब पार्थक्य कहां है? विषय के विवेचन के क्षेत्र को लेकर ही इन तीनों में भेद तथा पार्थक्य माना जाता है।

निष्कर्ष यह है कि प्राचीन परम्परा लोकवृत्त के वर्णन को ही पुराण का मुख्य विषय स्वीकार करती है; धर्मशास्त्र के साथ उसका सम्बन्ध नहीं मानती। इससे यह परिणाम निकलता है कि पुराण का प्राचीनतम रूप लोकवृत्तात्मक ही था और उस प्राचीन काल में उसका धर्मशास्त्र से कोई सम्बन्ध स्थापित न हो सका था। धर्मशास्त्रीय विषयों का पुराण में निवेश तो पञ्चम-षष्ठ शती की घटना मानी जाती है।

वेदकालीन द्विविध धारा

वैदिक युग में विचार की दो धारायें दृष्टिगोचर होती हैं—एक वेदधारा और दूसरी पुराणधारा। वेदधारा तो आरम्भ से ही धार्मिक है तथा यज्ञों में विशिष्ट देवता को उद्दिष्ट कर हविर्त्याग की विधि को वह महत्त्व देती है। पुराण-धारा का लक्ष्य लोकवृत्त का अनुशीलन तथा समीक्षण कर विपुल विवरण देना है। इन दोनों धाराओं में किञ्चित् पार्थक्य की कल्पना करना अनुचित प्रतीत नहीं होता। पुराणधारा आरम्भ में वैदिक मार्ग से उतनी संस्पृष्ट तथा संश्लिष्ट सम्भवतः नहीं थी और वेदानुसारिता पुराण की, बहुत सम्भव है, उतने प्राचीन काल से अनुमित नहीं की जा सकती।

द्विविध धारा की सत्ता पुराण के प्रामाण्य पर भी हम सिद्ध कर सकते हैं। मार्कण्डेय (४५।२३) के कथन से द्विविध धारा का अनुमान लगाना अप्रमाणिक नहीं माना जा सकता। मार्कण्डेय का यह कथन इस प्रकार है :—

उत्पन्नमात्रस्य पुरा ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः।
पुराणमेतद् वेदाश्च मुखेभ्योऽनुविनिःसृताः॥ २०॥

वेदान् सप्तर्षयस्तस्माज्जगृहुस्तस्य मानसाः।
पुराणं जगृहुश्चाद्या मुनयस्तस्य मानसाः ॥ २३ ॥

—मार्कं०, अ०४५

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन युग में ऋषिधारा तथा मुनिधारा पृथक्-पृथक् थीं। ऋषियों ने तो वेद का ग्रहण किया और मुनियों ने पुराण का, जब ये दोनों ब्रह्माजी के मुख से निकले। मार्कण्डेय पुराण की सृष्टि को प्राक्कालीन मानता है और वेद की सृष्टि को उत्तरकालीन। इस प्रकार ऋषियों ने तो वेदों को ग्रहण किया तथा उसके विपुलीकरण और प्रचार-प्रसार में प्रवृत्त हुए। विपरीत इसके, मुनियों ने पुराण को ग्रहण किया और उसके प्रचार-प्रसार के महनीय कार्य में उन्होंने अपने को व्यावृत किया।

ऋषि तथा मुनि के इस पार्थक्य की पुष्टि शंकराचार्य के सनत्सुजातीय-भाष्य की एक महनीय उक्ति से भी होती है। सनत्सुजातीय के द्वितीय अध्याय (श्लोक १२) में ब्रह्म विश्व से विलक्षण तथा विपरीत बतलाया गया है—

निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदाः
तद् विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति।

इस श्लोक के भाष्य में आचार्य ने उपनिषदों का प्रचुर उदाहरण देकर ब्रह्म तथा विश्व के वैलक्षण्य का प्रतिपादन किया है। अनन्तर वे पुराणस्थ प्रमाण की ओर निर्देश करते कह रहे हैं—

न केवलं वेदा, अपि तु मुनयोऽपि तद् ब्रह्म विश्ववैरूप्यं विश्वरूपविपरीतस्वरूपमुदाहरन्ति । तथा चाह भगवान् **पराशरः** 'प्रत्यस्तमितभेदं यत्'····'तच्च विष्णोः परं रूपम्'। ये दोनों श्लोक विष्णुपुराण के षष्ठ अंश, सप्तम अध्याय के ५३ तथा ५४ श्लोक हैं। आचार्य के पूर्वोक्त कथन का समीक्षण यही बतलाता है कि वे वेद तथा पुराणकार मुनियों के वचन को द्विप्रकारक मानते हैं। इस कथन से भी पूर्वोक्त ऋषिधारा तथा मुनिधारा के पार्थक्य के लिए आधारभूमि स्थिर मानी जा सकती है।

ऋषि तथा मुनि

'ऋषि' शब्द की व्युत्पत्ति ऋषी गतौ धातु (संख्या १२८७ सिद्धान्तकौमुदी) से मानी जाती है। गति को सामान्य गमन के अर्थ में न लेकर विशिष्ट गति या ज्ञान के अर्थ में लेना ही उचित प्रतीत होता है।

ऋषति प्राप्नोति सर्वान् मन्त्रान्, ज्ञानेन पश्यति संसारपारं वा।
ऋष् + इगुपधात् कित् (४।११९) इति उणादिसूत्रेण इन् किच्च।

इस व्युत्पत्ति का संकेत वायु ७।७५, मत्स्य १४५।८३ तथा ब्रह्माण्ड १।३२।८७ में समभावेन किया गया है। ब्रह्माण्ड की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नाम निर्वृत्तिरादितः।
यस्मादेव स्वयंभूतस्तस्माच्चाप्यृषिता स्मृता॥

वायु (५९।७९) में 'ऋषि' शब्द के अनेक अर्थ बतलाये गये हैं—

ऋषीत्येव गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ।
एतत् संनियतस्तस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः॥

इस श्लोक के अनुसार ऋषी धातु के चार अर्थ होते हैं—गति, श्रुति, सत्य तथा तपस्। ब्रह्माजी के द्वारा जिस व्यक्ति में ये चारों वस्तुएँ नियत कर दी जाँय, वही होता है ऋषि[1]। वायु का यही श्लोक मत्स्य (अ० १४५, श्लो० ८१) में किंचित् पाठभेद के साथ उपलब्ध होता है। दुर्गाचार्य की निरुक्ति है— ऋषिर्दर्शनात् (नि० २।११) इस निरुक्ति से 'ऋषि' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है— दर्शन करने वाला, तत्त्वों की साक्षात् अपरोक्ष अनुभूति रखने वाला विशिष्ट पुरुष। 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः' यास्क का यह कथन इस निरुक्ति का प्रतिफलितार्थ है। दुर्गाचार्य का कथन है कि किसी मन्त्रविशेष की सहायता से किये जाने पर किसी कर्म से किस प्रकार का फल परिणत होता है; ऋषि को इस तथ्य का पूर्ण ज्ञान होता हैं। तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार इस शब्द की व्याख्या यह है—

सृष्टि के आरम्भ में तपस्या करने वाले अयोनिसम्भव व्यक्तियों के पास स्वयंभू ब्रह्म—वेद ब्रह्म—स्वयं प्राप्त हो गया (आनर्ष)। वेद का इस स्वतः

---

१. प्रत्येक मन्वन्तर में सप्तर्षियों के नाम भिन्न-भिन्न होते हैं। द्रष्टव्य विष्णु (अंश ३, अ० १ तथा २) रत्नकोष में ऋषियों के ७ भेद किये गये है—

सप्त ब्रह्मर्षि-देवर्षि-महर्षि-परमर्षयः ।
काण्डर्षिश्च श्रुतर्षिश्च राजर्षिश्च क्रमावराः ।

ब्रह्मर्षि, देवर्षि, महर्षि, परमर्षि, काण्डर्षि, श्रुतर्षि तथा राजर्षि—ये क्रम से अवर होते हैं। अर्थात् ब्रह्मर्षि होता है सर्वश्रेष्ठ तथा राजर्षि होता है सब से अवर। मत्स्य में पाँच ऋषिजातियों का वर्णन मिलता है ऋषियों के विशिष्ट नामों की निरुक्ति भी पुराणों में की गई है (हरिवंश अ० ७; विष्णु अंश ३; मार्कण्डेय ६७।४)

प्राप्ति के कारण—स्वयमेव आविर्भाव होने के हेतु—ही 'ऋषि' का 'ऋषित्व' है[1]। इस व्याख्या में 'ऋषि' शब्द की निरुक्ति तुदादिगणीय ऋष् गतौ धातु से मानी गई है। वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों से ऊपर दी गई निरुक्ति इसी परम्परा के अन्तर्मुक्त है। अपौरुषेय वेद ऋषियों के ही माध्यम से विश्व में आविर्भूत हुआ और ऋषियों ने वेद के वर्णमय विग्रह को अपने दिव्य श्रोत्र से श्रवण किया और इसीलिए वेद की 'श्रुति' संज्ञा सार्थक है। आद्य ऋषियों की वाणी के पीछे अर्थ दौड़ता फिरता है। वे अर्थ के पीछे कभी नहीं दौड़ते (ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनु धावति : उत्तररामचरित, प्रथम अंक)। निष्कर्ष यह है कि तपस्या से पूत अन्तर्ज्योतिःसम्पन्न मन्त्रद्रष्टा व्यक्तियों की ही संज्ञा 'ऋषि' है।

मुनि—

मनुते जानाति यः स मुनिः। मन् धातोः 'मनेरुच्च' इति (४।१२२) उणादिसूत्रेण इन् प्रत्ययः। अकारस्य उच्चेति मुनिः।

मुनि का साक्षात् सम्बन्ध तीव्र तपश्चरण के साथ है। जो व्यक्ति शून्यागार में निवास करता है और जो चलते-चलते सायंकाल हो जाने वाले स्थान पर ही टिक जाय (सायंगृहः) वही 'मुनि' नाम से अभिहित किया जाता है। शंखस्मृति (७।६) का यह वचन 'मुनि' के स्वरूप का पर्याप्त परिचायक है—

शून्यागारनिकेतः स्याद् यत्र सायंगृहो मुनिः।

वनपर्व के १२ वें अध्याय में मुनि के स्वरूप का विस्तृतरूपेण निर्देश किया गया है। अर्जुन ने कौरवों के दुष्कृत्यों से क्षुब्ध होने वाले श्रीकृष्ण को शान्त करते समय उनकी पूर्वजन्म की घोर तपस्या का वर्णन विस्तार से किया। गन्धमादन पर्वत पर दश हजार वर्षों तक श्रीकृष्ण ने किसी प्राचीन काल में व्यचरण किया था (१२।११) एकादश सहस्र वर्षों तक पुष्करक्षेत्र में केवल जल का भक्षण करते हुए श्रीकृष्ण ने तपस्या की थी (१२।१२)। ऊपर बाहु उठाकर (ऊर्ध्वबाहु) और एक पैर पर खड़े होकर बदरीक्षेत्र में श्रीकृष्ण ने केवल वायु का भक्षण कर सौ वर्षों तक तपस्या की (१२।१३)। इसी प्रकार के घोर तप करने का यहाँ वर्णन है (११–१६ श्लो०)। यहाँ 'सायंगृहो मुनिः' शब्द का प्रयोग मुनि के वैशिष्ट्य का द्योतक है। इस शब्द की नीलकण्ठी व्याख्या[2] बतलाती है कि जहाँ सायंकाल हो जाय, वहीं घर जिसका हो जाय,

---

१. अजान् ह वै पृश्नीस्तप्यमानान् ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानार्षत ऋषयोऽभवन्, तद् ऋषीणामृषित्वम्। —तैत्तिरीय आरण्यक, २ प्रपाठक, ९ अनुवाक

२. तत्र तपस्विनां क्षमैवोचितेति दर्शयितुं भगवतः कोपोपशमनाय तदीयं जन्मान्तरीयं तप एव तावदुदाहरति।······यत्र सायंकाल स्तत्रैव गृहं यस्य स यत्र 'सायंगृह' इत्येकं पदम्। नीलकण्ठी, वनपर्व १२।११ श्लोक पर।

वही 'सायंगृहो मुनिः' होता है। फलतः 'मुनि' के साथ तीव्र तपस्या तथा क्षमा का भाव अविनाभावेन सम्बद्ध माने गये हैं। इसीलिए नैषध में मुनि की वृत्ति जल में उगने वाली लताओं के फल तथा मूल से निष्पन्न बताई गई है :—

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां
मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः ॥

—नैषध १।१३३

गीता बतलाती है कि दुःखों मे उद्विग्न न होने वाला, सुखों में स्पृहा से विरहित, राग, भय तथा क्रोध से उन्मुक्त होने वाला तथा स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति 'मुनि' कहलाता है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

इस प्रकार ऋषि की अपेक्षा मुनि[1] स्वतो विशिष्ट तथा भिन्न होता है, साधारणतः वे अभिन्न भले ही माने जाँय। दोनों के पन्थों में वैभिन्य होना स्वाभाविक है।

अथर्ववेद की परम्परा

अथर्ववेद की परम्परा मूलतः वेदत्रयी से पृथक् और भिन्न मानी गई है। इस वेद में ऐहिक कामनाओं की पूर्ति के लिए विशिष्ट मन्त्रों का संकलन मिलता है। अथर्व में शान्तिक तथा पौष्टिक, आयुष्य तथा कल्याणसाधक मन्त्र विशेषरूप से उपलब्ध होते हैं, परन्तु इनके संग साथ में अभिचार, मोहन तथा मारण के भी मन्त्र प्राप्त होते हैं। अथर्व का पूरा नाम 'अथर्वाङ्गिरस' है। अथर्व मन्त्र तो पौष्टिक तथा आयुष्यवर्धक होने से मानवों के कल्याण पक्ष का ही आश्रय करते हैं, परन्तु अङ्गिरस मन्त्र का यथार्थ सम्बन्ध अभिचार जैसी घोर कृत्या—विधि के साथ है और इन दोनों धाराओं के सम्मिश्रण का परिणाम है वर्तमान अथर्ववेद जिसका पूरा अभिधान 'अथर्वाङ्गिरस' है। पुराण अथर्व के इस द्विविध स्वरूप से पूरा परिचय रखता है। वायुपुराण का यह श्लोक (६५।२७) इस विषय का यथार्थ संकेत करता है :—

ब्रह्मवेदस्तथा घोरैः कृत्याविधिभिरन्वितः
प्रत्यङ्गिरसयोगैश्च द्विशरीरशिरोऽभवत् ॥

---

१. मुनियों की उत्पत्ति के लिए द्रष्टव्य ब्रह्मवैवर्त (ब्रह्मखण्ड, ८ अ०)
तथा वायु का गया माहात्म्य; नामों की व्युत्पत्ति " " २२ अ०)
मुनिधर्म—गरुड २२७ अ० में देखिए।

अथर्ववेद में दो प्रकार के मन्त्रों का सम्मिश्रण है—

अंगिरा मन्त्र = आंगिरस = अभिचार (घोर कृत्या विधि)। प्रत्यङ्गिरा[1] मन्त्र = आथर्वण = शान्ति-पौष्टिक-आयुष्य मन्त्र। अथर्व तथा अङ्गिरस का एकत्र उल्लेख पुराणों में मिलता है। द्रष्टव्य भागवत ६।६।१९ तथा लिङ्ग १।२६।२६। मत्स्य ५१।१० के अनुसार भृगु के पुत्र थे अथर्वा और अथर्वा के पुत्र थे अङ्गिरा (भृगोः प्रजायताथर्वा, ह्यङ्गिराऽथर्वणः स्मृतः)। इस प्रकार भृगु के भी इसी परम्परा में अनुस्यूत होने से यह वेद 'भृग्वङ्गिरस' के अभिधान से भी पुकारा जाता है। भृगु तथा उनके अनुयायी भार्गवों का सम्बन्ध आख्यान साहित्य की अभिवृद्धि के साथ नितान्त अविच्छिन्न है। डा० सुखठणकर ने अपने अनेक निबन्धों में भार्गवों को महाभारत के विस्तार का प्रयोजक हेतु माना है। इतना ही नहीं, रामायण के प्रणेता महर्षि वाल्मीकि भी भृगुवंशी ही थे, अश्वघोष के 'बुद्धचरित' के अनुसार वाल्मीकि च्यवन के पुत्र थे और यह च्यवन भृगु के पुत्र थे। इसीलिए वाल्मीकि का 'भार्गव' नाम से उल्लेख महाभारत में उपलब्ध होता है।[2] विष्णुपुराण भी 'भार्गव = वाल्मीकि' का उल्लेख व्यासों की सूची में स्पष्टतः करता है।[3] इस प्रकार आख्यान साहित्य के प्रचार-प्रसार में, रामायण के प्रणयन में तथा महाभारत के परिबृंहण में भार्गववंशी मुनियों का विशेष सहयोग था--यह तथ्य भुलाया नहीं जा सकता। भृगु की नितान्त गौरवमयी गाथा की जानकारी के लिए कतिपय संक्षिप्त निर्देश यहाँ किये जा रहे हैं।

भृगु का परिचय

वैदिक संस्कृति के प्रचार मे भृगुवंशीय ऋषियों का विशेष योग रहा है। भारत के पश्चिमी तथा मध्यप्रदेश में इन्हीं लोगों ने आर्यावर्त से लाकर वैदिक धर्म का प्रचुर प्रचार किया। जिस प्रकार गौतमों ने विदेह राजाओं को पूर्वी भारत में आर्य-सभ्यता के फैलाने में विपुल सहायता दी, उसी प्रकार भार्गवों ने मानव (मनुवंशी) राजाओं को पश्चिमी भारत में इस स्तुत्य कार्य के निर्वाह में

---

१. 'प्रत्यङ्गिरस योगैश्च' की व्याख्या में इन्हें आथर्वण मन्त्र ही माना है। द्रष्टव्य नीलकण्ठी हरिवंश १।३।६५ पर।

२. श्लोकश्चायं पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना।
आख्याते रामचरिते नृपति प्रति भारत॥

—शान्ति ५७।४०

३. ऋक्षोऽभूद् भार्गवस्तस्माद् वाल्मीकिर्योऽभिधीयते।

—विष्णु ३।३।१८

विशाल साहाय्य प्रदान किया। इस विस्तृत विषये की चर्चा करने का यहाँ अवसर नहीं है, परन्तु भार्गवों के मूलपुरुष महर्षि भृगु के जीवन की प्रसिद्ध घटनाओं से हम पाठकों को परिचित करा देना चाहते हैं।

भृगु के जन्म के विषय में भिन्न-भिन्न मत पाये जाते हैं। 'एतरेय ब्राह्मण' (३।३४) के अनुसार आदित्य तथा अङ्गिरा के साथ भृगु की उत्पत्ति प्रजापति के वीर्य से हुई। 'गोपथ ब्राह्मण' (१.२-८) ने इस विषय में रमणीय आख्यान दिया है। एकबार तपस्या में निरत ब्रह्मदेव के शरीर से कुछ पसीने की बूंदें निकलीं, जिनमें अपने ही सुन्दर शरीर के प्रतिबिम्ब को देखकर ब्रह्मदेव का वीर्यस्खलन हुआ, जो दो भागों में विभक्त हो गया। एक भाग था स्निग्ध और चिक्कण, दूसरा था रूखा तथा खुरखुरा। पहले से हुआ जन्म भृगुजी का और दूसरे से अङ्गिरा का। इस प्रकार भृगु तथा अङ्गिरा का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है। अन्य ग्रन्थों के आधार पर ये वरुण के पुत्र प्रतीत होते हैं (शतपथ ब्रा० ११।६।१।१, 'तैत्ति० आर०'९।१, 'तैत्ति० ब्रा०'१. ३.१.१)। 'जैमिनीय उपनिषद् ब्रा०' में तथा 'तैत्तिरीय उप०' में वरुण के द्वारा भृगु के ज्ञानोपदेश का वर्णन मिलता है। वरुण-पुत्र होने के कारण 'वारुणि' शब्द इनके नाम के साथ सदा जुटा रहता है। ये एक प्रसिद्ध वैदिक ऋषि हैं, जिन्हें अनेक सूक्तों के द्रष्टा होने का गौरव प्राप्त है।(ऋ० ९।३५, ऋ०१०।१९)।

दक्ष प्रजापति के उस यज्ञ में ये उपस्थित थे, जिसमें सती ने पति के अनादर से दुःखित होकर योगाग्नि में अपना शरीर जला दिया था। दक्ष ने ही शिव की निन्दा की थी, वहाँ उपस्थित ऋषियों का भी दोष कम न था। इन्होंने अपनी दाढ़ी हिलाकर दक्ष के कथनों की पुष्टि की थी। फलतः वीरभद्र ने इनकी दाढ़ी उखाड़ कर इन्हें विद्रूप कर दिया। परन्तु पीछे शिवजी ने प्रसन्न होकर इनके मुंह पर बकरे की दाढ़ी लगाकर इनकी कुरूपता को दूर कर कर दिया (भागवत ४।५।१७-१९)। एकबार ऋषि लोग एक महान् यज्ञ के सम्पादन में लगे थे। प्रश्न उठा कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव, इन तीनों देवताओं में सबसे श्रेष्ठ कौन है और इस प्रश्न के निपटाने का भार भृगुजी ही पर रखा गया। ऋषियों के प्रतिनिधिरूप में जाकर भृगु ने शिव को तथा ब्रह्मा को ब्राह्मणों के प्रति अनादर रखने का दोषी पाया, परन्तु विष्णु के पास जाने पर उन्हें वे ऋषियों के सत्कारक के रूप में दृष्टिगत हुए। सोते हुए विष्णु की छाती में इन्होंने लात मारी, तब विष्णु झट उठकर इनके पैर पकड़कर दाबने लगे और उनकी कड़ी छाती की चोट से सुकुमार ऋषिचरण के दुखने की कल्पनामात्र से उनका हृदय दुखने लगा। भृगु के कथन से सब देवताओं में विष्णु की ही प्रधानता ऋषियों को मान्य बनी (पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अ० २५५)। यही पादचिह्न श्रीवत्सचिह्न के नाम से पुकारा जाता है (भागवत १०।८९ अ०)।

'अथर्ववेद' के संकलन में भृगु का वड़ा हाथ है। अङ्गिरा तथा भृगु इन्हीं दोनों ऋषियों की प्रधानता इस वेद में दीख पड़ती है। इसीलिए अथर्व का प्राचीन नाम है 'भृग्वङ्गिरस्।' सौम्य, पौष्टिक, समृद्धिजनक प्रयोगों के कर्ता भृगुजी हैं और क्रूर, उग्र, अभिचारों के उद्योक्ता अङ्गिरसजी। अथर्वण-प्रयोगों में निष्णात होने के कारण भृगु 'सञ्जीवनी विद्या' के ज्ञाता थे। एकबार देवासुर-संग्राम के अवसर पर इनके पुत्र शुक्राचार्य से असुरों की सहायता करने के कारण विष्णु रुष्ट हो गये और पिता-पुत्र की अनुपस्थिति में उन्होंने भृगुपत्नी को अपने चक्र से मार डाला। तव भृगुजी ने अपनी इसी विद्या के बल पर पत्नी को जिलाया और विष्णु को जन्म लेने का शाप भी दिया (देवीभागवत ४।११-१२)। ऋषि जमदग्नि के मार डाले जाने पर भृगु ने उन्हें 'संजीवनी विद्या' से जिलाया था, इसका उल्लेख 'ब्रह्माण्डपुराण' (१।३०) में मिलता है।

भृगु की दो पत्नियाँ थीं—दिब्या और पौलोमी। दिव्या के पुत्र थे शुक्राचार्य, जिनकी अलौकिक शक्तियों का परिचय हमें अनेक अवसरों पर मिलता है। उनसे विस्तृत वंश उत्पन्न हुआ। पौलोमी के पुत्र थे महर्षि च्यवन, जिन्हें अश्विनीकुमारों की सहायता से नवयौवन की प्राप्ति हुई थी। सम्राट् शर्याति मानव का महाभिषेक च्यवन ने ही कराया था (ऐत० ब्रा० ८ पं०) और इन्हीं शर्याति ने अपनी पुत्री 'सुकन्या' का पाणिग्रहण च्यवन के साथ किया था। आगे चलकर जमदग्नि तथा परशुराम इसी वंश के भूषण हुए। च्यवन के पुत्र का नाम था प्रमति, जिन्होंने 'घृताची' अप्सरा से विवाह कर 'रुरु' नामक पुत्र उत्पन्न किया। रुरु की स्त्री थी 'प्रमद्वरा' तथा पुत्र 'शुनक'। इन्हीं शुनक के पुत्र हुए 'शौनक', जिन्होंने लोमहर्षण के पुत्र सौति से महाभारत-कथा कहने का आग्रह किया था। शौनक की कृपा से ही हमें 'महाभारत' जैसा ग्रन्थरत्न प्राप्त हुआ है। इस प्रकार 'महाभारत' के संरक्षण तथा प्रचारण में भार्गवों का कार्य विशेष श्लाघनीय रहा है।

भृगु के नाम से अनेक संस्कृत ग्रन्थ सम्बद्ध हैं, जिनमें 'भृगुगीता, भृगुस्मृति', 'भृगुसंहिता' के नाम उल्लेखनीय हैं। 'भृगुसंहिता' के फलों की अपूर्वता तथा यथार्थता वतलाने की आवश्यकता नहीं। अन्तर्दृष्टि के उन्मेष के बिना इन विचित्र फलों का कथन क्या कभी सम्भव है? एक बात ध्यान देने योग्य है। भृगुजी का आश्रम पश्चिम समुद्र-तट पर था, जहाँ नर्मदा नदी समुद्र से मिलती है। इसका प्राचीन नाम है 'भृगुकच्छ' और आधुनिक नाम 'भड़ौंच'। 'भृगुकच्छ' का बन्दरगाह भारत के नौ-व्यापार का प्रमुख मार्ग था। पश्चिमी जगत् के व्यापार का आवागमन इसीके रास्ते होता था। आज से दो हजार साल पहले भी रोमन सम्राट् अगस्तस सीजर के जमाने में 'भृगुकच्छ' से जहाज

द्वारा गयी चीजें रोमन रमणियों तथा रमणों के लिए भोग-विलास की प्रधान सामग्री थीं। केवल अंग्रेजों के जमाने के शुरू होते सूरत की प्रभुता होने पर ही 'भृगुकच्छ' का प्राचीन गौरव क्षीण होने लगा था। भड़ौंच में रहनेवाले सहस्रों गुजराती भार्गववंशी ब्राह्मण-परिवार इस प्रदेश मे आर्यसंस्कृति के प्रसारक अपने पूर्वज महर्षि भृगु वारुणि के रमणीय कीर्तिकलाप को गाकर अपने को धन्य मानते हैं।

अथर्व परम्परा में इतिहास-पुराण

इतिहास पुराण का प्राचीन स्वरूप लोकवृत्तात्मक था; इसे सप्रमाण ऊपर दिखलाया है। अथर्ववेद का भी सम्बन्ध ऐहिक विषयों के प्रतिपादन से है। बहुत से लोकाचार की बातें तथा अनुष्ठान अथर्व के मन्त्रों में प्रतिपादित हैं। इसी अथर्ववेद की परम्परा में इतिहास-पुराण का अवतरण हुआ—इसे मानने के लिए निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं—

(क) अथर्ववेद (११।७।२४) में 'उच्छिष्ट' नाम से संकेतित परमतत्त्व से ऋक्, यजुः तथा साम और अथर्व के संग में पुराण के उदय की बात कही गई है।[1] अथर्ववेद ने व्रात्य के अनुगमनकारी शास्त्रों में मध्य मे पुराण का स्पष्टतः उल्लेख किया है (अथर्व १५।६।१०–११)[2]

(ख) गोपथ ब्राह्मण ने पाँच वेदों की उत्पत्ति की बात बतलाई है जिनमें से इतिहास–वेद का सम्बन्ध उदीची (उत्तर) दिशा के साथ है और पुराण वेद का सम्बन्ध ध्रुवा (पैरों के ठीक नीचे होने वाली दिशा) तथा ऊर्ध्वा, (मस्तक के ठीक ऊपर होने वाली दिशा) के साथ है (गोपथ १।१०)[3]। इतना ही नहीं, पाँच व्याहृतियाँ—वृधत्, करत्, गुहत्, महत् और तत्—क्रम से सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद और पुराणवेद से उत्पन्न बतलाई गई हैं। इस प्रकार इतिहास से 'महत्' की और पुराण से 'तत्' की उत्पत्ति स्पष्टतः सिद्ध करती है कि गोपथ की दृष्टि में इतिहास तथा पुराण दोनों परस्पर पृथक् तथा भिन्न वेद माने जाते थे। गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद का ब्राह्मण है। फलतः अथर्व की परम्परा का यह वर्णन प्रामाणिक माना जा सकता है।

(ग) छन्दोग्य उपनिषद् का यह कथन बड़े ही महत्त्वशाली रहस्य का उद्घाटक है और वह रहस्य है इतिहास पुराण का अथर्ववेद से सम्बन्ध। इस

---

१. देखिये उद्धरण १ पिछले परिच्छेद में।

२. देखिये उद्धरण २ पिछले परिच्छेद में।

३. देखिये उद्धरण ३ पिछले परिच्छेद में।

कथन का तात्पर्य है—'अथर्वाङ्गिरस मधुकर हैं; इतिहासपुराण पुष्प हैं; इन अथर्वाङ्गिरसों ने इतिहास–पुराणों को अभितप्त किया। अभितप्त हुए इतिहास पुराण से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, अन्नाद्य, तथा रस उत्पन्न हुआ'[1]

('घ) वात्स्यायन ने न्यायभाष्य (४।१।६१) में किसी प्राचीन ग्रन्थ का यह वचन उद्धृत किया है-ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहास पुराणस्य प्रामाण्यमभ्यवदत्—जो दोनों के सम्बन्ध को निश्चित करने में प्रमाणभूत माना जा सकता है।

('ङ) सायणाचार्य ने इतिहास पुराण को अथर्ववेद का उपवेद बतलाया है। स्पष्टतः दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध की द्योतिका यह कोई प्राचीन परम्परा है जो यहाँ सायण के द्वारा निर्दिष्ट की गई है।[5]

('च) अथर्ववेद सामान्य जनता का भी उपकारी वेद है। उसके वर्ण्य विषय दो प्रकार के हैं[2]—आमुष्मिक तथा ऐहिक। आमुष्मिक कर्म दर्श पूर्णमासादि त्रयी प्रतिपाद्य भी हैं, परन्तु ऐहिक फलवाले शान्तिक पौष्टिक कर्म, राजकर्म, अपरिमित फलवाले तुलापुरुष महादान आदि अथर्ववेद में ही प्रतिपाद्य हैं। पौरोहित्य अथर्ववेद का ज्ञाताही करा सकता है, क्योंकि तत्सम्बद्ध राजाभिषेक आदि का विवरण अथर्ववेद में ही उपलब्ध होता है। अभिचार भी अथर्ववेद में अङ्गिरा ऋषि के द्वारा दृष्ट मन्त्रों से साध्य होता है। पतिको वश में करने के मन्त्र, पत्नी का परित्याग कर बाहर भाग निकलने वाले पति को लौटाने का मन्त्र, सपत्नी की ओर से पति के आसक्त चित्त को आकृष्ट करने के मन्त्र, नाना प्रकार की आधि-व्याधि के दूर करने के मन्त्र, देश में अन्नादि की समृद्धि को उत्पन्न करने के विधिविधानों के मन्त्र—आदि मन्त्र तथा तत् सम्बद्ध यज्ञानुष्ठान आदि सामान्य जनता के इतने अधिक उपकारी तथा मंगल-साधक हैं कि अथर्व को जनता का वेद कहना कथमपि अनुपपन्न नहीं कहा जा सकता। यही है अथर्ववेद की प्रकृति और इसकी इतिहास-पुराण के साथ पूरी संगति बैठती है। इतिहासरूप महाभारत की रचना का अभिप्राय श्रीमद्-भागवत ने स्वयं विशद शब्दों में लिखा[3] है कि स्त्री, शूद्र और पतित द्विजाति—

१. अथर्वाङ्गिरस एव मधुकृतः। इतिहास-पुराणं पुष्पं·····ते वा एते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपंस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत।

—छान्दोग्य ३।४।१।२

२. द्रष्टव्य सायणः अथर्ववेदभूमिका पृ. १२२-१२३
(चौखम्भा संस्करण, काशी, १९५८)

३. स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।

ये तीनों ही वेद श्रवण करने के अधिकारी नहीं हैं। इसीलिए वे कल्याणकारी शास्त्रोक्त कर्मों के आचरण में भूल कर बैठते हैं। इनके कल्याण की भावना से प्रेरित होकर वेदव्यास ने इतिहास का प्रणयन किया तथा साथ ही साथ या उसके अनन्तर पुराणों का भी निर्माण किया। इनमें वेद का अर्थ खोल कर रखा गया है जिससे स्त्री, शूद्र आदि भी अपने धर्म-कर्म का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अतः इतिहास पुराण की प्रकृति लौकिकधर्मानुवन्धिनी है और इसका पूर्ण सामञ्जस्य अथर्व की प्रकृति से बैठता है।

पारिप्लवाख्यान और पुराण

शतपथ ब्राह्मण (१३ काण्ड, ४ अध्याय, ३ ब्राह्मण) में अश्वमेध के प्रकरण मे 'पारिप्लवाख्यान' का बिशद विवरण उपलब्ध होता है। इतिहास-पुराण के प्रवचन का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध ब्राह्मण ने प्रदर्शित किया है। शतपथ का वर्णन बड़ा विशद तथा इतिहास-पुराण के वैदिक स्वरूप को प्रकट करने में सर्वथा समर्थ है। इस लक्ष्य से इसका विवरण संक्षेप में यहां प्रस्तुत किया जाता है। महर्षि कात्यायन ने अपने श्रौत्रसूत्र के अश्वमेध प्रकरण में इस अनुष्ठान का पूर्ण रूप दिखलाया है जो इस प्रसंग में मननीय तथा गवेषणीय है।

सबसे पहिले अश्वमेध के आरम्भ में तीन सावित्री इष्टियां की जाती हैं। अनन्तर अश्वमेध का प्रधान पशु विशिष्ट लक्षणसम्पन्न अश्व विचरण करने के लिए छोड़ा जाता है। तदनन्तर 'देवसदन' नामक यज्ञमण्डप में अनेक अनुष्ठान किये जाते हैं। अश्वमेधीय अश्व के छोड़ने के बाद वेदि के दक्षिण ओर सोने का कशिपु[1] (=मुलायम आसन) बिछाया जाता है जिस पर होता (देवों का

कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥

—भाग० १।४।२५

× × ×

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शित;
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत॥

तत्रैव श्लो० २९

१. इस वैदिक शब्द का प्रयोग भागवत में किया गया है—

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः
बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्?

—भाग० २।२।४

आह्वान करने वाला या ऋग्वेदज्ञ ऋत्विज्) बैठता है। होता के दक्षिण दिशा में सुवर्ण निर्मित कूर्च (पादसम्पन्न आसन = पीढ़ा) पर यजमान बैठता है और उससे दक्षिण ब्रह्मा और उद्गाता बैठते हैं। हिरण्मयी कशिपु के पूरब तरफ़ अध्वर्यु बैठता है हिरण्मय कूर्च पर अथवा हिरण्मय फलक पर (पादरहित आसन को फलक कहते हैं)। इस प्रकार सब ऋत्विजों को अपने निर्दिष्ट स्थानों पर बैठ जाने पर अध्वर्यु (यजुर्वेद का ज्ञाता ऋत्विज्) होता को प्रेरित करता है (जिसे वैदिक भाषा में प्रैष कहते हैं)। इस प्रैष का यह रूप होता है—हे होता, इस यजमान (अश्वमेध यज्ञ में दीक्षित व्यक्ति) से भूतों को तथा वेदादिकों को कह सुनावो। अध्वर्यु के द्वारा इस प्रकार प्रैष पाने पर होता यजमान से वेदादिकों का व्याख्यान सुनाता है इसी का नाम है—**पारिप्लवाख्यान**। यह दश दिनों तक चलता रहता है और प्रतिदिन के व्याख्यान में वक्ता, श्रोता तथा वर्ण्य विषय भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रतिदिन तीन सावित्री इष्टियां की जाती हैं। छः दिनों तक व्याख्यान के अनन्तर प्रक्रम होम भी सम्पन्न होता है, परन्तु अन्तिम चार दिनों में प्रक्रम होम नहीं होता। दश दिनों में पारिप्लवाख्यान की एक आवृत्ति पूर्ण होती है। फिर उसी क्रम से इसकी पुनः पुनः आवृत्ति होती रहती है ३६ बार तक, जब कि एक संवत्सर पूरा हो जाता है। प्रतिदिन ऋत्विज् और यजमान के अतिरिक्त विभिन्न श्रोता यज्ञमण्डप में बुलाये जाते हैं। जिस आख्यान का जो राजा निर्दिष्ट है, उसकी प्रजाभूत व्यक्तियाँ तथा उसके उपयुक्त श्रोतागण उस दिन में उपस्थित रहते है तत्तत् व्याख्यान को सुनने के लिए। साल भर इस पद्धति से ३६ बार आवृत्ति होने से यह अनुष्ठान अपनी समग्रता को प्राप्त करता है।[1]

अब आख्यान की प्रक्रिया पर ध्यान दीजिए (शतपथ, १३।४।३।२–१४):—

प्रथम दिन वैवस्वत मनु राजा होते हैं। उनकी प्रजायें समस्त मनुष्य हैं, परन्तु सबका एकत्र होना असम्भव ठहरा। फलतः उन मनुष्यों के प्रतिनिधि-भूत होते हैं अश्रोत्रिय (समस्त वेदों को न पढ़ने वाले) गृहस्थ, जो उसे व्याख्यान के श्रोता होते हैं। व्याख्यान का विषय होता है ऋग्वेद। उसकी सूक्त की व्याख्या की जाती है।

द्वितीय दिन के राजा होते हैं वैवस्वत यम। उनकी प्रजा पितृगण होते हैं। सबकी उपस्थिति असम्भव होने से उनके विशिष्ट प्रतिनिधि ही इस

१. एतदेव समानमाख्यानम् पुनः पुनः संवत्सरं परिप्लवते। तद् यद् पुनः पुनः परिप्लवते तस्मात् पारिप्लवम् षट्त्रिंशतं दशाहान् आचष्टे।

—शतपथ १३।४।३।१५

अवसर पर उपस्थित होते हैं और ये होते हैं वृद्ध लोग। व्याख्यान का विषय होता है यजुर्वेद का अनुवाक।

तृतीय दिन के राजा होते हैं आदित्य, वरुण। उनकी प्रजा होती है गन्धर्व-गण। उनके प्रतिनिधि श्रोता होते हैं शोभन सुन्दर शरीर वाले युवक। उनको उपदेश देता है कि अथर्ववेद यही है। अथर्व के एक पर्व की व्याख्या की जाती है।

चतुर्थ दिन के राजा होते हैं सोमवैष्णव। उनकी प्रजायें होती हैं अप्सरायें। उनकी प्रतिनिधिभूता शोभन युवतियाँ एकत्र होती हैं। होता उनको उपदेश देता कि अंगिरस वेद वही है। अंगिरस वेद के एक पर्व की तब व्याख्या की जाती है।

पञ्चम दिन के राजा होते हैं अर्बुद काद्रवेय (सर्प)। सर्प ही उनकी प्रजा हैं। उनके प्रतिनिधिरूप से सर्प और सर्पविद् (सर्पविद्या के जानने वाले 'सपेरा') वहाँ एकत्र होते हैं। उनको होता उपदेश देता है—सर्पविद्या वही वेद है। तब सर्पविद्या के एक पर्व की व्याख्या की जाती है।

षष्ठ दिन कुवेर वैष्णव राजा होते हैं। राक्षस उनकी प्रजायें हैं। पाप-कारी 'सेलग' प्रतिनिधि होने से एकत्र उपस्थित होते हैं। 'सेलग' शब्द की व्याख्या शतपथ के भाष्यकार हरिस्वामी ने इस प्रकार की है- 'सेलं गायन्तीति सेलगाः। सेलो वंशग्राम—रागसदृशो वंशमुखेन आश्वासोच्छ्वासैः क्रियते गोपालादिभिः' जिसका अर्थ है वाँसूरी बजाने वाले ग्वाले आदि निम्न-जातीय व्यक्ति। उन्हें उपदेश दिया जाता है कि 'देवजन' विद्या (भूतविद्या) यही वेद है। देवजनविद्या के एक पर्व की तब व्याख्या की जाती है।

सप्तम दिन असित धान्व राजा होता है। असुर उसकी प्रजा होते हैं। प्रतिनिधिरूप से कुसीदी लोग (रुपैया उधार देकर सूद लेने वाले व्यक्ति) एकत्र होते हैं। उन्हें उपदेश देता है होता—मायावेद वही है। कुछ माया करनी चाहिए अर्थात् जादू-टोना का प्रकार दिखलाना चाहिए। (यहाँ किसी ग्रन्थ की व्याख्या नहीं है, प्रत्युत माया के व्यावहारिक प्रदर्शन की बात कही गई है)।

अष्टम दिन मत्स्य साम्मद राजा होता है। जलचर जीव उसकी प्रजा होते हैं। मत्स्य और मछली के मारने वाले (मत्स्यहनः ; मछुआ जो मछली मारकर आज भी अपनी जीविका चलाता है) प्रतिनिधिरूप से एकत्र होते हैं। उन्हें उपदेश देता हे—इतिहास वही वेद है। किसी इतिहास को कहना चाहिए[१]।

---

१. अथाष्टमेऽहन्नेवमेव। एतास्विष्टिषु संस्थितासु। एषैवावृदध्वर्यविति। हवै होतरित्येवाध्वर्युः। मत्स्यः साम्मदो राजेत्याह। तस्योदकेचरा विशः। त इम आसत इति। मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चोपसमेता भवन्ति तानुपदिशति। इति-

नवन दिन तार्क्ष्य वैपश्यत राजा होता है। पक्षियाँ उसकी प्रजा होती हैं। पक्षिगण तथा पक्षिविद्या में निष्णात व्यक्ति (वायोविद्यिकाः, वयोविद्या = पक्षिविद्या के ज्ञाता) प्रतिनिधिरूप से एकत्र होते हैं। उनसे कहता है कि पुराण वेद वही है। किसी पुराण की व्याख्या करनी चाहिए[1]।

दशम दिन धर्म इन्द्र राजा होते हैं। उनकी प्रजा होती है देवगण। प्रतिग्रह (दान) न लेने वाले (अप्रतिग्राहकाः) श्रोत्रिय उनके प्रतीनिधिरूप में एकत्र होते हैं। उन्हें उपदेश देता है—सामवेद वही है। साम के [2]"दशत" (एक विशिष्ट अंश) का प्रवचन करना चाहिए।

प्रवचन की आवृत्ति प्रति दश दिनों के अनन्तर होती है। फलत; जैसा पहिले कहा गया है कि इतिहास और पुराण के प्रवचन की आवृत्ति ३६० दिन वाले वर्ष में ३६ बार होतो है। यह प्रवचन रात्रि को ही होता है। प्रातः, मध्यंदिन तथा सायंकाल में तीन सावित्री इष्टियाँ सम्पादित होती हैं। तृतीय इष्टि की परिसमाप्ति के अनन्तर ही यह व्याख्यान चलता है। फलतः दिन की अपेक्षा 'रात्रि' शब्द का ही पारिप्लव के विषय में प्रयोग समुचित है।[3]

हासो वेदः सोऽयमिति। कंचिदितिहासमाचक्षीत। एवमेवाध्वर्युः संप्रेष्यति। न प्रक्रमान् जुहोति ॥ १२ ॥

१. अथ नवमेऽहन्नेवमेव। एतास्विष्टिषु संस्थितासु। एषैवावृदध्वर्यविति। हवैहोतरित्येवाध्वर्युः। तार्क्ष्यो वैपश्यतो राजेत्याह। तस्य वयांसि विशः। तानीमान्यासत इति। वयांसि च वायोविद्यिकाश्चोपसमेता भवन्ति। तानुपदिशति। पुराणं वेदः सोऽयमिति। किंचित् पुराणमाचक्षीत। एवमेयाध्वर्युः संप्रेष्यति। न प्रक्रमान् जुहोति ॥ १३ ॥

२. **दशत या दशति**—सामवेद संहिता के दो भाग हैं—पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक में ६ प्रपाठक या अध्याय हैं। प्रत्येक प्रपाठक में दो अर्ध या खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड में एक 'दशति' और प्रत्येक दशति में ऋचायें हैं। 'दशति' शब्द से ऋचाओं की संख्या दश तक सीमित प्रतीत होती है; परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही हैं। दशति में ऋचायें कहीं दश से कम हैं और कहीं अधिक भी हैं। दशतियों में ऋचाओं का संकलन छन्द और देवता की एकता पर निर्भर होता है।—द्रष्टव्य बलदेव अध्याय; वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ. १९५, काशी १९५८

३. श्रीशंकराचार्य का छान्दोग्यभाष्य—'इतिहास पुराणं पुष्पम्। तयोश्चेतिहासपुराणयोरश्वमेधेषु पारिप्लवासु रात्रिषु कर्माङ्गत्वेन विनियोगः सिद्धः।' इस अंश को ठीक न समझ कर डा० हाजरा अश्वमेध से ही इतिहास-पुराण की उत्पत्ति मानते हैं। इसके खण्डन के लिए द्रष्टव्य काणे—हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, भाग ५, खण्ड २, पृष्ठ ८३५–८३७।

पारिप्लवाख्यान का संक्षिप्त वर्णन शतपथ ब्राह्मण के आधार पर ऊपर किया गया है। इसकी समीक्षा करने से अनेक वैदिक तथा पौराणिक नूतन उपलब्धियाँ आलोचक को प्राप्त होती हैं जिनका स्वरूप नीचे दिया जाता है:-

(क) प्रचलित शौनकशाखीय अथर्व संहिता में अथर्वण तथा आंगिरस मन्त्रों का पृथक्करण नहीं मिलता, परन्तु शतपथ ब्राह्मण के युग में ऐसी स्थिति नहीं थी। दोनों अपने मूल स्वरूप को निर्वाह करते हुए पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले प्रतीत होते हैं। श्रोताओं के वैशिष्टच से दोनों के रूप—वैशिष्टय का पूर्ण संकेत मिलता है। शोभन युवकों के सामने व्याख्यात अथर्वण उदात्त विचारों का—शान्तिक, पौष्टिक, आयुष्य आदि आदि का—प्रतिपादक वेद था। शोभन युवतियों के सामने व्याख्यात अंगिरस वेद अभिचार से सम्वन्ध रखता था। क्योंकि परिणीता या अपरिणीता युवतियों को ही अपने पति के प्रेम निर्वाध वनाये रखने के निमित्त **'मोहन'** विद्या की आवश्यकता होती है और यह 'मोहन' अभिचार का एक प्रधान अंग होता है। इस अनुमान से अंगिरस मन्त्रों का उपयोग 'अभिचार' कर्म में सहज ही उन्नेय है।

(ख) पारिप्लवाख्यान में अथर्ववेद का प्रामुख्य होता है; यह नवीन तथ्य भी प्रमाणविहीन नहीं है। पारिप्लव की दश रात्रियों में प्रथम, द्वितीय तथा दशम क्रमशः ऋक्, यजुः तथा साम के निमित्त निर्धारित हैं। शेष सात रात्रियों का सम्बन्ध अथर्ववेद से हैं। अथर्वाङ्गिरस को दो रात्रियों में विभक्त किया गया है। शेष पांच रात्रियों में सर्पवेद, पिशाच (देवजन या भूतविद्या) वेद, असुरवेद, इतिहासवेद तथा पुराण-वेद का इसी क्रम से प्रवचन होता है। ध्यातव्य है कि अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण ने ही केवल इन पांचों वेदों का इसी क्रम से उल्लेख किया है जिस क्रम से शतपथ को इनका प्रवचन मान्य है। फलतः ये पाँचों प्रवचन के शास्त्र अथर्ववेद से सम्बन्ध रखते हैं। इतिहास **पुराण का उदय अथर्ववेदीय परम्परा में हुआ था;** इस पूर्व निर्णय की पर्याप्त संपुष्टि इस तर्क से होती है।

(ग) गोपथ ने इन्हे 'वेद' की उदात्त संज्ञा से संयुक्त अवश्य किया है परन्तु इतना तो निश्चित हे कि ये वेदत्रयी की अभ्यर्हितता को पाने के कभी भी अधिकारी नहीं हो सकते। 'वेद' का अर्थ यहाँ ज्ञान सामान्य है, विद्या-विशेष ऋग्वेदादि के सदृश मन्त्रों से इन्हें संवलित मानना शोभन नहीं प्रतीत होता।

(घ) ये पांचों 'जनता के वेद' हैं—इसे मानने में तनिक भी संशय नहीं होना चाहिए। इन वेदों के प्रवचन के श्रोताओं का वैशिष्टय इस तर्क से निःसन्देह प्रमाणभूत माना जा सकता है। पञ्चम रात्रि में सर्पविद्या के प्रवचन के श्रोता विषयानुरूप सर्पविद् (सर्पविद्या के ज्ञाता, आजकल के संपेरा)

षष्ठ रात्रि में देवजन (भूत) विद्या के श्रोता ग्रामीण गोपाल आदि बांसुरी या बीन बजाने वाले व्यक्ति हैं। सप्तम रात्रि में असुरविद्या के श्रोता रूपैया कर्ज देकर सूद या व्याज उठाने वाले महाजन हैं। महाजनों से माया या धोखाधड़ी का सम्बन्ध स्वाभाविक है। अतएव उस विद्या के प्रवचन के वे ही सुयोग्य श्रोता हैं। अष्टम रात्रि में इतिहास के श्रोता हैं मछली मारने वाले (आजकल के मछुआ ; मत्स्यजीवी) व्यक्ति। नवम रात्रि में पुराण का व्याख्यान होता है जिसके श्रोता हैं पक्षिविद्या के जानने वाला व्यक्ति। फलतः इतिहास-पुराण का यह विवरण इस तथ्य का विशद प्रतिपादक है कि इतिहास तथा पुराण का सम्बन्ध भारतीय समाज के निम्न वर्ग के लोगों के साथ उस आरम्भिक युग में था। सामान्य जन ही इसके आख्यानों को सुनते थे और सम्भवतः मनोरंजन का साधन उसमें विशेषरूप से था।

(ङ) इतिहास-पुराण अपने आरम्भिक जीवन में केवल विद्याविशेष थे। इनके कोई विशिष्ट ग्रन्थ न थे। ये मौखिक रूप से ही जनता में प्रचलित थे। आज भी जनसामान्य में बहुत सी कहानियाँ या आख्यान ऐसे हैं जिनके रचयिता का न तो पता है, और न जो किसी ग्रन्थ मे ही बद्ध हैं। वे परम्परा के रूप में एक वक्ता के मुख से दूसरे वक्ता के पास पहुँचते हैं और उनका मनोरंजन तथा उपदेश किया करते हैं। मेरी दृष्टि में उस आरम्भिक युग में इतिहास पुराण की भी यही स्थिति थी। जिन शास्त्रों का ग्रन्थरूप में प्रणमन हो गया था, उनके खण्डों की सूचना ऊपर स्पष्टतः दी गई है। ऋक् के सूक्त, यजुष् के अनुवाक, साम के दशत, अथर्वाङ्गिरस के पर्व इसीलिए निर्दिष्ट हैं कि इन वेदों का निबन्धन ग्रन्थरूप में हो गया था। किन्तु पुराण और इतिहास के सम्बन्ध में इस प्रकार ग्रन्थीय विभाजन का संकेत नहीं है। इसीसे ऊपर वाला तथ्य सिद्ध होता है।

(च) इससे सुस्पष्ट है कि आरम्भ में पुराण कोई अभ्यर्हित शास्त्र न था। आजकल उसमें कुछ पूज्यता तो अवश्य आ गई है। मन्दिरों में पुराण के प्रवचन का संकेत तो सप्तम शती में बाणभट्ट के समय में ही प्राप्त होता है, परन्तु वेदपाठ के समान उसमें वैशिष्ट्य नहीं है। मध्याह्न से पूर्व, भोजन करने से पहिले, वेद के प्रवचन का विधान स्पष्टतः उसके अभ्यर्हितत्व का पूर्ण परिचायक है। पुराण के श्रवण का समय मध्याह्नोत्तर है—भोजन तथा शयन से निवृत्त होने के बाद राजा या राजपुत्र नियमितरूप से पौराणिक के मुख से इसका प्रवचन सुना करते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की यह व्यवस्था इसकी उपयोगिता अवश्य प्रदर्शित करती है, परन्तु इसकी अभ्यर्हितता नहीं।

सूत की समस्या

पुराण के प्रवचन करने का काम 'सूत' का ही था। महाभारत तथा पुराण में सूत प्रवक्ता के रूप में चित्रित किये गये हैं जिनके पास जाकर ऋषियों ने

पौराणिक विषयों की जिज्ञासा की और जिन्होंने उनके प्रश्नों का समाधान सन्तोषजनक रूप से दिया। इस विषय में ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ दो प्रकार के सूतों का कार्य तथा क्षेत्र का मिश्रण हो गया है। 'सूत' वास्तव में प्राचीन भारत में एक प्रतिलोमज जाति भी थी। मनुस्मृति (१०।१७) के आधार पर 'सूत' क्षत्रिय पिता से ब्राह्मणी में प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न होने वाला व्यक्ति था (क्षत्रियाद् सूत एव तु)। यह प्रतिलोम जाति का निर्देश गौतम धर्मसूत्र में मिलता है जो पर्याप्त प्राचीन धर्मसूत्र माना जाता है। इससे भिन्न 'सूत' शब्द का प्रयोग रथ हाँकने वाले के लिए भी होता है। इसी सूत के इतर कार्यों में पुराण का प्रवचन भी मुख्य व्यापार था। 'सूत' का इतिहास-पुराण के प्रवचन से सम्बन्ध की युक्तिमत्ता स्वतः सिद्ध है। इतिहास-पुराण के श्रोतागण भारतीय समाज के निम्न स्तर के प्राणी होते थे और उसके वक्ता का भी उसी सामाजिक स्तर से सम्बद्ध होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सूत को वायुपुराण ने राजाओं के वंशों का ज्ञाता बतलाया है (१।३२), फलतः सूत के द्वारा प्रवर्तित पुराण में वंश तथा वंशानुचरित का होना स्वतः अनुमेय है। इन्हीं विषयों का वर्णन सूत अपने श्रोताओं के आगे किया करता था जो शतपथ ब्राह्मण के प्रामाण्य पर निम्न श्रेणी के ही जीव थे। उस आरम्भिक युग में वेदज्ञ ब्राह्मणों का सम्बन्ध पुराण के वाचन तथा श्रवण से कथमपि सिद्ध नहीं होता।

व्यासदेव के शिष्य लोमहर्षण या रोमहर्षण निःसन्देह ब्राह्मण थे। उनके इस नामकरण का कारण यह था कि अपने पौराणिक प्रवचनों के द्वारा वे श्रोताओं को आनन्दित किया करते थे जिससे उनके रोंगटे खड़े हो जाते थे। इस नाम का एक दूसरी भी व्याख्या है—व्यासजी के पौराणिक प्रवचनों को श्रवण कर इनके लोम हर्षित हो गये थे। व्युत्पत्ति में मतभेद भले ही हो, परन्तु लोमहर्षण का ब्राह्मण होना मतभेद से पृथक् सत्य है। नैमिषारण्य में एकत्र हुए अट्ठासी हजार ऋषियों की जिज्ञासा की पूर्ति करने वाले पुराणवाचक उच्चकुल के ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण थे। पुराण के प्रवचन करने के हेतु ही वे लक्षणया 'सूत' कहलाते थे। परन्तु 'सूत' नाम से अभिहित होने से उनके आभिजात्य पर आघात पहुँचता था। इसलिए उनकी उत्पत्ति की विचित्र कथा पुराणों में गढ़ी गई प्रतीत होती है। 'सूत' का पद ब्राह्मण तथा क्षत्रिय से ऊपर ही माना जाता था। वे एक दिव्य लोक के जीव माने जाते थे। यह घटना कौटिल्य से पहिले ही सिद्ध तथा प्रमाणभूत मानी जा चुकी थी। अर्थशास्त्र में संकर जातियों के विषय में कौटिल्य ने जो लिखा है उससे यह तथ्य निकाला जा सकता है। उनका कथन इस प्रकार है—

वैश्यान्मागधवैदेहकौ (क्षत्रियाब्राह्मण्योः) क्षत्रियात् (ब्राह्मण्यां) सूतः। पौराणिकस्तु अन्यः सूतो मागधश्च । ब्राह्मणात् क्षत्राद् विशेषः।

(३।७।२९-३१)

पुराणों का कथन है कि वेन के पुत्र महाराज पृथु के यज्ञ में वे अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुए थे। अतः अग्निकुण्ड-सूत होने के कारण वे संक्षेप में 'सूत' नाम से अभिहित किये गये थे। वायुपुराण में इस उत्पत्ति का बड़ा प्रामाणिक वर्णन है[1]। सूत लोमहर्षण के पुत्र भी पुराणेतिहास के महान् व्याख्याता थे। उनका नाम था—सौति उग्रश्रवा और इन्होंने ही महाराज जनमेजय को हरिवंश (जो महाभारत का परिशिष्ट है) सुनाया था। 'सौति' शब्द की व्याकरणलभ्य व्युत्पति है—सूतस्यापत्यं सौतिः द्रौणिवत्। जिस प्रकार द्रोण के पुत्र 'द्रौणि' कहलाते हैं, उसी प्रकार सूत के पुत्र हुए सौति। ध्यान देने की बात है कि यह अपत्य प्रत्यय का योग ही सूचित करता है कि 'सूत' किसी व्यक्ति का नाम है, जाति का नहीं[2]। ब्राह्मण जाति में उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति 'ब्राह्मण' ही कहलाता है, 'ब्राह्मणि' नहीं।[3]

कौटिल्य के पूर्वोक्त कथन का यह आशय है कि वैश्य से क्षत्रिया में उत्पन्न प्रतिलोमज वर्णसंकर 'मागध' कहलाता है तथा ब्राह्मणी में उत्पन्न 'वैदेहक' कहलाता है। क्षत्रिय का ब्राह्मणी में उद्भूत प्रतिलोमज '**सूत**' कहलाता है। पौराणिक सूत तथा मागध इनसे भिन्न होते हैं। सूत ब्राह्मण से श्रेष्ठ तथा मागध क्षत्रिय से श्रेष्ठ होता है। स्पष्टतः कौटिल्य की सम्मति में सूत ब्राह्मण से श्रेष्ठ है।[4] वह सूत जाति से सम्बन्ध नहीं रखता। यही कारण था कि सूत के मार डालने से बलरामजी को ब्रह्महत्या लगी जिसके निवारण के लिए उन्होंने भारत के समग्र तीर्थों की यात्रा सम्पन्न की थी।

कहीं-कहीं सूतजी 'प्रतिलोमज' कहे गये। यथा भागवत १०।७८।२४ पद्य में तथा बृहन्नारदपुराण में सूतजी ने स्वयं अपने विषय में लिखा है—विलो-

---

१. वैन्यस्य तु पृथोर्यज्ञे वर्तमाने महात्मनः।
सुत्यायामभवत् सूतः प्रथमं वर्णवैकृतम् ॥
ऐन्द्रेण हविषा तत्र हविः पृक्तं बृहस्पतेः।
जुहावेन्द्राय दैवेन ततः सूतो व्यजायत ॥ —वायु० १।३३।३४

२. सूतः 'अग्निकुण्डसमुद्भूतः सूतो निर्मलमानस' इति. पौराणिक प्रसिद्धेः।

३. अग्निजो लोमहर्षणः। तस्य पुत्रः सौतिः उग्रश्रवाः, न तु 'ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतः' इति स्मृत्युक्तः। तद्धितानर्थक्यापत्तेः। हरिवंश १।४ की टीका।

४ भागवत (१०।७८।२९-३३)

मजोऽपि धन्योऽस्मि यन्मां पृच्छथ सत्तमाः (२।५)। इन वाक्यों का एक रहस्य है। पृथु के यज्ञ में बृहस्पति द्वारा विहित आहुति इन्द्र की आहुति से अभिभूत हो गई थी। तब लोमहर्षण का जन्म हुआ। बृहस्पति यज्ञीय परिभाषा में ब्राह्मण ठहरे तथा इन्द्र क्षत्रिय ठहरे। इसी कारण उन्हें 'प्रतिलोमज' कहा गया है। वे 'योनिज' तो थे ही नहीं, पर उपचार से इस नाम से अभिहित किये गये हैं।

तथ्य यह है कि लोमहर्षण को व्यास जी ने इतिहास-पुराण का अध्ययन कराया था और इनके प्रचार का कार्य उन्हीं को सुपुर्द किया था। वे ज्ञानी महाविद्वान् ब्राह्मण थे। पौराणिक ब्राह्मण ही होता है। इस विषय में प्राचीन सिद्धान्त स्पष्ट हैं। अग्निपुराण का कथन है—

पृषदाज्यात् समुत्पन्नः सूतः पौराणिको द्विजः।
वक्ता वेदादिशास्त्राणां त्रिकालानलधर्मवित्॥

जब 'सूत' जी उच्चकोटि के विद्वान् ब्राह्मण ठहरते है, तब अब्राह्मणोंके द्वारा पुराणों का प्रचार. क्षत्रियपरम्परा की ब्राह्मण-परम्परा से भिन्नता, पुराणों का वेद से विरोध—आदि बातें बालू की भीत के समान भूमिसात् हो जाती हैं।

पुराण संहिता का निर्माण—

पुराण की उत्पत्ति के विषय में पुराणों में प्रायः एक समान ही मत पाये जाते हैं। ब्रह्मा के मुख से उसके उदय के विषय में तो किसी प्रकार की विप्रपत्ति नहीं है। विभिन्नता का कारण है यह निर्धारण कि यह उत्पत्ति वेद की उत्पत्ति से प्राक्कालीन है या पश्चात्कालीन। मत्स्यपुराण (अ० ५३, श्लो० ३) के अनुसार सब शास्त्रों में 'पुराण' की ही रचना ब्रह्मदेव ने सबसे पहिले की और इसके बाद उनके मुख से सब वेद विनिर्गत हुए—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा कृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥

वेद से प्राक्कालीन निर्माण का यह सिद्धान्त मत्स्य की अपनी विशिष्ट कल्पना है। श्रीमद्भागवत पुराण की उत्पत्ति वेद से पश्चात्कालीन मानता है, परन्तु एक अन्तर के साथ। ऋग्वेदादि का उदय तो ब्रह्मा के पूर्व मुख से आरम्भ कर क्रमशः हुआ, परन्तु पुराण की उत्पत्ति चारों मुखों से एककाल में ही संपन्न हुई। भागवत का कथन पुराण का वेद से आधिक्य सिद्ध करता है, परन्तु उत्पत्ति को पश्चात्कालीन ही मानता है :—

ऋक्यजुःसामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः॥
शास्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात् क्रमात्॥ ३७॥

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः ।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ॥ ३९ ॥

—भाग० ३।१२

पुराण का यह उदय 'विद्या' के रूप में समझना चाहिए । यह अव्यवस्थित रूप से था और इसका प्रवचन किसी ग्रन्थ से नहीं किया जाता था, अपि तु मौखिकरूप से ही । इस तथ्य को हम ऊपर सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं ।

पुराण के विकाश में एक नवीन युग आरम्भ होता है जब व्यास जी ने 'पुराण-संहिता' का प्रणयन कर पुराण को सुव्यवस्थितरूप में प्रतिष्ठित किया । 'पुराण-संहिता' के रूप के विषय में आगे कहा गया है । यहाँ इतनी बात जाननी चाहिए कि पुराणविषयक अव्यवस्था का अवसान 'पुराणसंहिता' के निर्माण से निश्चितरूप से हो गया । मौलिकरूप से विचरणशील शास्त्र अब लोगों की जिह्वा से नीचे उतर कर वर्णमय विग्रह में अपने को पाकर एकसाथ उल्लसित तथा प्रफुल्ल हो उठा । इसी सुव्यवस्थित काल का परिचय दिया जाता है ।

पुराण-संहिता का प्रणयन व्यास के प्रयास का फल है । पुराणों का इस विषय में सामान्य मत है कि व्यास जी ने ही पुराण संहिता का स्वयं प्रणयन-कर लोमहर्षण सूत को उसे पढ़ाया और उसके प्रचार का साधन उन्हीं को बनाया । यह कार्य उसी समय हुआ जब उन्होंने एक वेद का यज्ञ कर्म के निष्पादन के निमित्त चार संहिताओं में विभाजन किया और चार विशिष्ट शिष्यों को इनका अध्यापन कराकर इनके प्रचार का कार्य निर्दिष्ट किया । लोम-हर्षण ने भी एक अपनी पुराण-संहिता बनाई जो व्यास की पुराण-संहिता पर आधारित थी और इस संहिता को छः शिष्यों को पढ़ाया । इन शिष्यों के नाम के वायुपुराण वाले (अ० ६१।५५।५६) निर्देश को सबसे प्राचीन मानना चाहिए । इसका कारण इन नामों की वैदिक अभिधानों के साथ नितान्त साम्य है । ऋषियों के व्यक्तिगत नाम के साथ गोत्रज नाम का उल्लेख वैदिक परम्परा की विशिष्टता है । वह परम्परा वायुपुराण के उल्लेख में पूर्णरूपेण निर्वाह पा रही है । वायुपुराण में इन शिष्यों के नाम दो प्रकार से हैं—एक तो है वैयक्तिक नाम और दूसरा है गोत्रज नाम । लोमहर्षण के इन छः शिष्यों के नाम ये हैं—

(१) सुमति आत्रेय;
(२) अकृतव्रण काश्यप;
(३) अग्निवर्चा भारद्वाज;
(४) मित्रायु वाशिष्ठ;
(५) सोमदत्ति सावर्णि;
(६) सुशर्मा शांशपायन ।

ये नाम प्राचीन पद्धति से वायु में (६१।५५-५६) व्यवस्थितरूप से दिये गये हैं। विष्णु (३।६।१८-१९) में भी नाम तो ये ही हैं, परन्तु उतने सुव्यवस्थित नहीं हैं जितने वायु० में। श्रीमद्भागवत (१२।७।५) में इन नामों से कुछ भिन्नता ही नहीं है, अपितु गड़बड़ी भी है[1]—

वायुपुराण के श्लोक नितान्त महत्त्वशाली होने से यहां उद्धृत किये जाते हैं :—

षट्शः कृत्वा मयाप्युक्तं पुराणमृषिसत्तमाः।
आत्रेयः सुमतिर्धीमान् काश्यपो ह्यकृतव्रणः।
भारद्वाजोऽग्निवर्चाश्च वासिष्ठो मित्रयुश्चयः॥ ५५॥
सावर्णिः सौमदत्तिश्व सुशर्मा शांशपायनः।
एते शिष्या मम ब्रह्मन् पुराणेषु दृढव्रताः॥ ५६॥

—वायु, अ० ६१

इन षट्शिष्यों में से तीन ने अपनी नयी पुराण-संहिता बनाई जिनके नाम हैं—काश्यप, सावर्णि तथा शांसपायन। इन तीन शिष्यों की संहिता अपने गुरु

---

१. भागवत का श्लोक यह है—

त्र्य्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रणः
वैशंपायन-हारीतौ षड् वै पौराणिका इमे॥

(१२।७।५)

यहाँ 'कश्यप' के स्थान पर काश्यप तथा वैशम्पायन के स्थान पर 'शिंशपायन' पाठ होना चाहिए। त्र्य्यारुणि तथा हारीत—वे दो नये नाम हैं, परन्तु सबसे बड़ी गड़बड़ी यह है कि 'काश्यप' अकृतव्रण' एक ही व्यक्ति का नाम है—दो व्यक्तियों का यहाँ संकेत नहीं। ऐसी दशा में 'षड् पौराणिका इमे' की संगति क्योंकर बैठ सकेगी ? पाँच ही व्यक्ति हुए, छः नहीं। मेरी दृष्टि में मूल प्राचीन परम्परा से भागवत अवगत नहीं है और यह तथ्य भी इसे वायु तथा विष्णु दोनों से पश्चात्कालीन सिद्ध करने में सहायक हेतु माना जा सकता है। इसी अध्याय के ७ वें श्लोक में भी यही गड़बड़ी फिर दुहराई गई है। इसमें पाठों की अशुद्धि है।

सुमतिश्चाग्निवर्चाश्च मित्रायुः शांसपायनः
अकृतव्रण-सावर्णी षट्शिष्यास्तस्य चाभवन्।

—विष्णु ३।६।१७

इन नामों के व्यवस्था का अभाव है। चार नाम तो वैयक्तिक हैं, परन्तु दो नाम (शांसपायन तथा सावर्णि) गोत्रज हैं।

लोमहर्षण निर्मित संहिता से मिलकर चार संहितायें निष्पन्न हुई। इन चारों में चार-चार पाद—प्रक्रिया पाद, उपोद्घात पाद, अनुषंग पाद तथा उपसंहार पाद थे। सब एक ही अर्थ को कहने वाली थीं, केवल पाठान्तर में ही पार्थक्य था और इस प्रकार इनकी समता वैदिक शाखाओं के साथ की गई है। अर्थात् जिस प्रकार एक ही वेद-संहिता भिन्न-भिन्न शाखाओं में वही रहती है, केवल जहाँ-तहाँ मन्त्रों के पाठ में वैभिन्य रहता है, उसी प्रकार ये पुराण-संहितायें भी मूलतः एकार्थवाचक होने पर भी पाठान्तरों से भिन्न थी, अन्यथा उनमें मौलिक कोई पार्थक्य नहीं था। शांशपायनिका को छोड़कर अन्य तीन पुराण-संहितायें चार सहस्र श्लोकों के परिमाण में थीं। पुराण-संहिता के विकाश क्रम के बोधक वायुपुराण के ये श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं :—

> त्रिभिस्तिस्रः कृतास्तिस्रः संहिताः पुनरेव हि।
> काश्यपः संहिताकर्ता सावर्णिः शांशपायनः
> सामिका (मामिका) च चतुर्थी स्यात् साचैषा पूर्वसंहिता।
> सर्वास्ता हि चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचिकाः
> पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा।
> चतुःसाहस्रिकाः सर्वाः शांशपायनिकामृते।
> लोमहर्षणिकाः मूलास्ततः काश्यपिका परा
> सावर्णिका तृतीया ता यजुर्वाक्यार्थ प(म)ण्डिताः
> शांशपायनिका चान्या नोदनार्थ-विभूषिताः।

— वायु०, अ० ६१, ५७-६१

इस प्रसंग का तात्पर्य है कि लोमहर्षण की पुराण संहिता मूल-भूता है जिसके आधार पर काश्यप, सावर्णि तथा शांशपायन द्वारा निर्मित पुराण-संहिताओं का निर्माण उन्हीं के तीनों शिष्यों ने किया। अन्तिम पद्य में संहिताओं के विषय विभाजन का जो वर्णन है वह स्पष्ट नहीं है। ऐसी दशा में तीनों संहिताओं के विषय पार्थक्य का निर्देश जो 'पुराणोत्पत्तिप्रसंग'[1] (पृ० १७ तथा पृ०३१) में किया गया है वह अभी मननीय तथा गवेषणीय है। अन्तिम श्लोक का ब्रह्माण्डपुराण का पाठान्तर 'यजुर्वाक्यार्थपण्डिता के स्थान पर 'ऋजुवाक्यार्थ-मण्डिताः' है, जिससे दोनों प्रकार की संहिताओं का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। 'ऋजुवाक्य' का अर्थ है सीधा वाक्य अर्थात् इन तीन संहिताओं में कथानक का

---

१. द्रष्टव्य 'पुराणोत्पत्ति प्रसंग'—रचयिता श्री मधुसूदन ओझा, जयपुर से प्रकाशित, वि० सं० २००८।

वर्णन सीधे वाक्यों में लगातार किया गया था; शांशपायन की संहिता में प्रश्नोत्तररूप में कथानक का वर्णन था। 'नोदनार्थं' का यही तात्पर्य प्रतीत होता है।

निष्कर्ष—वेदव्यास के इस शास्त्र के आदि-प्रवर्तक शिष्य थे सूत **रोमहर्षण** जिन्हें महामति व्यास ने स्वनिर्मित पुराण-संहिता का अध्ययन कराया। रोमहर्षण के ६ शिष्य हुए—(१) सुमति, (२) अग्निवर्चा, (३) मित्रायु, (४) शांशपायन, (५) अकृतव्रण तथा (६) सावर्णि। इनमें से अन्तिम तीन शिष्यों ने अपनी-अपनी संहितायें बनाई जो रोमहर्षण की संहिता से मिल कर इस प्रकार चार पुराण-संहितायें निष्पन्न हुई। इस घटना का उल्लेख विष्णु० ३।६।१७-१९ तथा अग्निपुराण अ० २७१।११-१२ में किया गया है। विष्णुपुराण में (३।६।१८) निर्दिष्ट संहिताकर्ता 'काश्यप' शब्द से अकृतव्रण का ही संकेत समझना चाहिए। श्रीधरस्वामी ने इस शब्द की व्याख्या में दोनों की एकता का स्पष्ट निर्देश किया है (अकृतव्रण एव काश्यपः। काश्यपोऽकृतव्रण इति वायुनोक्तेः—श्रीधरी) विष्णुपुराण के इसी वचन के आधार पर अग्निपुराण (अ० २७१।११-१२) ने इन्हीं तीनों शिष्यों को (शांशपायन, अकृतव्रण[1] तथा सावर्णि को) पुराण-संहिताओं का प्रणेता स्पष्ट ही लिखा है (शांशपायनादयश्चक्रुः पुराणानां तु संहिताः। अग्नि २७१।१२) ऐसे स्पष्ट उल्लेख के रहते भी पुराण-संहिताकारों के नाम का अनुल्लेख अग्निपुराण में बतलाना अयुक्त है। काश्यपीय पुराण-संहिता का निर्देश चान्द्रव्याकरण में तथा सरस्वतीकण्ठाभरण की हृदयहारिणी वृत्ति में भी मिलता है। फलतः भोजराज (१२ शती) के समय तक यह पुराण-संहिता उपलब्ध थी। विष्णु० इन्हीं चारों पुराण-संहिताओं का सार संकलन बतलाया गया है।

पुराण-संहिता के रचयिता महर्षि व्यास की पारवारिक परम्परा इस प्रख्यात पद्य में निर्दिष्ट है—

> **व्यासं वसिष्ठनप्तारं शक्तेः पौत्रमकल्मषम्।**
> **पराशरात्मजं वन्दे शुकतातं तपोनिधिम्॥**

व्यास जी वसिष्ठ के प्रपौत्र, शक्ति के पौत्र, पराशर के पुत्र तथा शुकदेव के

---

१. अग्निपुराण में यह नाम 'कृत-व्रत' पठित है जो विष्णु० तथा वायु० के स्वारस्य से अशुद्ध ही है। शुद्ध नाम-अकृतव्रण ही है जो कश्यपगोत्री होने से 'काश्यप' नाम से भी उल्लिखित किये जाते थे।

पिता थे। वसिष्ठजी ब्रह्मा के मानसपुत्र थे। फलतः व्यासजी की पारवारिक परम्परा इस प्रकार है :—

ब्रह्मा
|
वसिष्ठ
|
शक्ति
|
पराशर
|
व्यास (कृष्णद्वैपायन)
|
शुकदेव
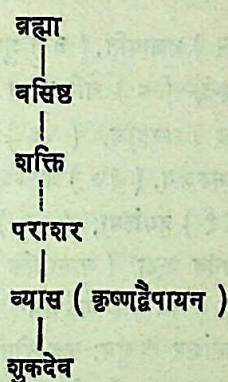
यह तो वर्तमानयुगीय व्यास का निर्देश है, परन्तु इनसे पूर्व २७ व्यास हो चुके हैं जिनका निर्देश विष्णुपुराण (३।३।७–१८) तथा देवीभागवत (१।३।२४–३५) में स्पष्टतया किया गया है। यहाँ विशेषरूप से ध्यान देने की बात है कि **व्यास किसी एक व्यक्ति का अभिधान न होकर एक पदाधिकारी का नाम है।** यह पदाधिकारी प्रत्येक द्वापर युग में उत्पन्न होता है[1] और लोक-मंगल के निमित्त एक वेद का चार वेदों में तथा एक पुराण का १८ पुराणों में व्यास करता है—विभाजन करता है। वेदों के व्यसन के हेतु ही वह 'वेदव्यास' के नाम से अभिहित होता है और इसी का संक्षिप्त रूप है—व्यास। वेदभेद के कारण के विषय में विष्णुपुराण का कथन है :—

वीर्यं तेजो बलं चाल्पं मनुष्याणामवेक्ष्य च
हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान् करोति सः।

—विष्णु० ३।३।६

द्वापर के आरम्भ में मनुष्यों का तेज, वीर्य तथा बल कम हो जाता है इस बात का विचार कर सब प्राणियों के हितार्थ व्यासदेव (जो विष्णु के ही

---

१ द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने।
वेदमेकं सुबहुधा कुरुते जगतो हितः॥ —विष्णु० ३।३।५
द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपेण सर्वदा।
वेदमेकं स बहुधा कुरुते हितकाम्यया॥ १९॥
अल्पायुषोऽल्पबुद्धींश्च विप्रान् ज्ञात्वा कलावथ।
पुराणसंहितां पुण्यां कुरुतेऽसौ युगे युगे॥२०॥
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां न वेदश्रवणं मतम्।
तेषामेव हितार्थाय पुराणानि कृतानि च॥ २१॥ —देवीभाग० १।३

अवतार माने जाते हैं) वेदों का व्यास करते हैं। व्यासों की परम्परा इस प्रकार है[1]:—

(१) ब्रह्मा, (२) प्रजापति, (३) शुक्राचार्य, (४) बृहस्पति, (५) सूर्य, (६) यम, (७) इन्द्र, (८) वसिष्ठ, (९) सारस्वत, (१०) त्रिधामा, (११) त्रिशिख, (१२) भरद्वाज, (१३) अन्तरिक्ष, (१४) वर्णी, (१५) त्रय्यारुण, (१६) धनञ्जय, (१७) ऋतुञ्जय, (१८) जय, (१९) भरद्वाज, (२०) गौतम, (२१) हर्यात्मा, (२२) वाजश्रवा, (२३) सोमशुष्मायण तृणबिन्दु, (२४) भार्गव ऋक्ष (वाल्मीकि) (२५) शक्ति, (२६) पराशर, (२७) जातुकर्ण तथा (२८) कृष्णद्वैपायन। श्रीकृष्णद्वैपायन तो पराशरात्मज ही माने जाते हैं—पराशर के पुत्र; तब दोनों के बीच में 'जातुकर्ण' का अस्तित्व एक अलग समस्या खड़ा करता है जो अपना समाधान चाहती है।

वेदव्यास का चरित लोकविश्रुत है उसे अधिक लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं। वे निषादराज की पुत्री सत्यवती के गर्भ से पराशर मुनि के वीर्य से उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म हुआ था यमुना के एक द्वीप में और इसीलिए वे 'द्वैपायन' के नाम से प्रख्यात थे। उनका शरीर कृष्णवर्ण का था और इसी से वे कृष्ण या कृष्ण मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए। दोनों को मिलाने से उनका पूरा नाम कृष्ण-द्वैपायनथा। वेदों के विभाजन करने के कारण वे 'वेदव्यास' पूरे नाम से और अधिकतर 'व्यास' जैसे छोटे नाम से पुकारे जाते थे। उनके अगाध पाण्डित्य तथा अलौकिक प्रतिभा का वर्णन करना सरल कार्य नहीं है। कौरव-पाण्डवों के इतिहास से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध इसलिए है कि वे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर के जन्मदाता ही न थे, प्रत्युत पाण्डवों को विपत्ति के समय सर्वदा धैर्य बँधाते रहे। कौरवों को युद्ध से विरत करने के लिए उन्होंने कुछ उठा नहीं रखा, परन्तु दुर्बुद्ध कौरवों ने उनके उपदेशों को कान नहीं किया। उन्होंने तीन वर्षों तक सन्तत परिश्रम कर महाभारत जैसे महान् ग्रन्थ का प्रणयन किया—

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ॥

—(आदि० ५६।३२)

---

१. ये नाम विष्णुपुराण के आधार पर दिये गये हैं। देवीभागवत में भी प्रायः ये ही नाम मिलते हैं, परन्तु कहीं-कहीं नामों में स्वल्प अन्तर भी है। यथा १४ वर्णी के स्थान पर धर्म का, १७ ऋतुञ्जय के स्थान पर मेधातिथि का तथा १८ जय के स्थान पर व्रती का नाम उल्लिखित मिलता है। अन्य पुराणों में भी पूर्व व्यासों के नाम मिलते हैं। यत्रतत्र पार्थक्य होने पर भी परम्परा की अभिन्नता में सन्देह नहीं है।

ऐसे महनीय ग्रन्थ की तीन साल के ही भीतर रचना करने का कार्य व्यास की अलौकिक कविप्रतिभा और अदम्य उत्साह का सूचक है।

वेदव्यास के साथ उनके तत्त्वज्ञानी पुत्र शुकदेवजी का भी नाम पुराण के प्रचार-प्रसार के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखने लायक है। इनके जन्म की कथा भिन्न रूपों में पाई जाती है। महाभारत के शान्तिपर्व (२३१ अ०–२५५ अ०) में इनका आख्यान विस्तार से वर्णित है। अरणिकाष्ठ से व्यासजी के वीर्य द्वारा इनकी उत्पत्ति की चर्चा महाभारत में मिलती है[1] (शान्ति ३२४। ९–१०) और इसी कारण ये आरणेय, अरणीसुत के नाम से प्रसिद्ध हैं। मिथिला के राजा जनक के पास व्यासजी ने इन्हें भेजा, जहाँ इन्होंने राजा जनक से ज्ञान-विज्ञान विषयक प्रश्न पूछे। उचित समाधान पाकर ये पिता के पास लौट आये। श्रीमद्भागवत को राजा परिक्षित को सुना कर उन्हें मोक्ष प्राप्त कराने से आपकी आध्यात्मिक योग्यता प्रमाणित होती है। भागवत में ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में चित्रित किये गये हैं, परन्तु देवीभागवत (१।१४) के अनुसार व्यास जी ने इन्हें गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए महान् उपदेश दिया। तब पिता की आज्ञा का पालन कर इन्होंने गृहस्थाश्रम धारण किया। (कूर्मपुराण)। श्रीमद्भागवत के प्रवर्तक शुक मुनि ही बतलाये गये हैं :—

स्वसुखनिभृतचेतास्तद् व्युदस्तान्यभावोऽ
प्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥

—भाग० १२।१२।६८

यह श्लोक शुकदेव जी के जीवन पर एक सुन्दर आलोचना है। श्री शुकदेव जी महाराज अपने आत्मानन्द में ही निमग्न रहते थे; इस अखण्ड अद्वैत स्थिति से उनकी भेददृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी। फिर भी मुरलीमनोहर-श्यामसुन्दर की मधुमयी, मञ्जुलमयी, मनोहारिणी लीलाओं ने उनकी वृत्तियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। और उन्होंने जगत् के प्राणियों पर दया करके भगवत्-तत्त्व को प्रकाशित करने वाले इस महापुराण—भागवत का विस्तार किया। उन्हीं सर्वपापहारी व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेव जी के चरणों में मैं प्रणाम करता हूँ।

तथ्य यह है कि पराशर, व्यास और शुकदेव तीन पीढ़ियों में होनेवाले इन मुनियों ने पुराण के प्रणयन तथा प्रसार में अपनी शक्तियाँ लगा दीं।

---

१ द्रष्टव्य देवीभागवत १।१४।६-८

विष्णुपुराण के प्रवचन का श्रेय पराशर जी को है[1]। १८ पुराणों के प्रणयन का गौरव व्यासदेव को है और पुराणमूर्धन्य श्रीमद्भागवत के प्रथम प्रवचन का तथा तद्-द्वारा इसके सार्वत्रिक प्रसार की उदात्त महिमा श्रीशुकमुनि को प्राप्त है। अतः पुराण के ये त्रिमुनि प्रत्येक पुराण पाठक के लिए वन्दनीय और उपास्य हैं।

पुराण-संहिता

'पुराण-संहिता' के कौन-कौन उपकरण थे जिनका आश्रय ग्रहण कर वेदव्यास ने इस आदिम संहिता का प्रणयन किया था? इस प्रश्न के उत्तर में पुराणों में यह महत्त्वपूर्ण विवरण पाया जाता है :—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः॥

—विष्णु० ३।६।१५

यह श्लोक ब्रह्माण्ड में 'कल्पशुद्धिभिः' के स्थान पर 'कल्पजोक्तिभिः' पाठ के साथ उपलब्ध होता है (२।३४।२१) तथा वायु (६०।२१) में 'कुलकर्मभिः' पाठ के साथ उपलब्ध होता है।

विष्णुपुराण के कथन का तात्पर्य है कि पुराण के अर्थ के ज्ञाता वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्पशुद्धि (अथवा कल्पजोक्ति) से (अर्थात् इन उपकरणों का आधार ग्रहण कर) 'पुराण-संहिता' की रचना की। इन चारों उपकरणों के रूप समझने की यहाँ आवश्यकता है :—

(१-२) आख्यान तथा उपाख्यान—इन शब्दों के अर्थ के विषय में पर्याप्त मतभेद है। इतना तो निश्चित है कि ये दोनों 'कथानक' के अर्थ को लक्षित करते हैं। परन्तु कैसे कथानक को? इसी के उत्तर में वैमत्य है। पूर्वोक्त श्लोक की टीका में श्रीधरस्वामी ने एक (प्राचीन?) श्लोक उद्धृत किया है[2] जो

---

१. इति पूर्वं वसिष्ठेन पुलस्त्येन च धीमता।
यदुक्तं तत् स्मृतिं याति त्वत्प्रश्नादखिलं मम।
सोऽहं वदाम्यशेषं ते मैत्रेय परिपृच्छते।
पुराणसंहितां सम्यक् तां निबोध यथातथम्॥

—पराशर का वचन मैत्रेय के प्रति; विष्णु० १।१।२९-३०

२. श्रीधरी में उद्धृत श्लोक इस प्रकार है :—

स्वयं दृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानकं बुधाः।
श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते॥

दोनों के पार्थक्य का निर्देश करता है। आख्यान है स्वयं दृष्ट अर्थ का कथन (अर्थात् ऐसे अर्थ का प्रकाशन जिसका साक्षात्कार वक्ता ने स्वयं किया है) इसके विपरीत उपाख्यान होता है श्रुत (सुने गये) अर्थ का कथन (अर्थात् वक्ता के द्वारा परम्परया सुने गये, अनुभूत नहीं, अर्थ का प्रकाशन 'उपाख्यान' शब्द के द्वारा किया जाता है)[1]।

इस विवेचन के अनुसार राम, नचिकेता, ययाति आदि के कथानक, जिनकी परम्परा श्रुत है, रामोपाख्यान, नाचिकेतोपाख्यान, ययात्युपाख्यान के नाम से क्रमशः अभिहित किये जाते हैं। परन्तु दोनों के पार्थक्य का अन्य कारण भी कल्पित किया गया है। अन्य विद्वानों की सम्मति में यह भेद दृष्ट-श्रुत का न होकर महत्-स्वल्प आकार का ही है। आकार में जो महान् या बृहत् हो, वह तो है आख्यान और अपेक्षाकृत स्वल्प आकार का जो कथानक होता है, वह उपाख्यान के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत में रामायण है, राम का आख्यान है तथा उसके एकदेश में वर्तमान रहने वाला सुग्रीव का कथानक 'उपाख्यान' के नाम से प्रसिद्ध है। तथ्य यह है कि प्राचीन ग्रन्थों में 'आख्यान' का ही बहुल प्रयोग 'इतिहास' (महाभारत) तथा 'पुराण' के लिए किया गया है। इसकी पुष्टि में कतिपय उदाहरण दिये जाते हैं। महाभारत तो साधारणतया 'इतिहास' कहा जाता है। वह स्वयं अपने को 'इतिहास' 'इतिहासोत्तम' कहता है, परन्तु वहीं वह अपने के लिए 'आख्यान' नाम का भी प्रयोग करता है[2] :—

'इतिहास' का प्रयोग—

१—जयनामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा (उद्योग० १३६.१८)
जयनामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता (स्वर्गा० ५।५१)
इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः (आदि० २।३८५)।

'आख्यान' का प्रयोग—

२—अनाश्रित्यैदमाख्यानं कथाभुवि न विद्यते (आदि० २।३७)
इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते (आदि० २।३८९)।

---

१. आख्यान शब्द का प्रयोग कात्यायन ने अपने वार्तिक 'आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च' में किया है जिसका उदाहरण, भाष्यकार ने 'यावक्रीतिकः' तथा 'यायातिकः' दिया है। यवक्रीत का आख्यान वनपर्व (अ० १३६–१४० अ०) में दिया गया है तथा ययाति का आख्यान अपेक्षाकृत अधिक प्रख्यात है और अनेक पुराणों तथा महाभारत में वर्णित है।

(३) गाथा—प्राचीन साहित्य में—वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा पुराण में—अनेक प्राचीनपद्य उपलब्ध होते हैं जिनके कर्ता के नाम का पता नहीं रहता। वह प्रायः किसी मान्य महीपति की स्तुति में लिखी गई रहती हैं और उसके किसी असामान्य शौर्य अथवा दान का माहात्म्य प्रतिपादित करती हैं। ऋग्वेद संहिता में ऐसी गाथायें 'नाराशंसी' के नाम से प्रख्यात हैं। ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पंचिका (३९ अध्याय) में ऐन्द्र महाभिषेक के प्रसंग में प्राचीन चक्रवर्ती नरेशों के राज्याभिषेक का तथा उनके द्वारा सम्पादित यागों का विशिष्ट विवरण दिया गया है। वहाँ अनेक प्राचीन गाथायें इस विषय की उद्धृत की गई हैं और इनमें से अनेक गाथायें पुराणों के राजवर्णन में, विशेषतः श्रीमद्भागवत के नवम-स्कन्ध में, उसी रूप में उद्धृत हैं। गृह्यसूत्रों में भी विवाह के अवसर पर गाथाओं के गायन का निर्देश है। तथ्य यह है कि ये गाथायें लोक में तत्तद् राजाओं के विषय में प्रख्यात थीं; लोगों की जिह्वा पर वे वर्तमान थीं। उनके रचयिता का पता किसी को नहीं है। इन्हीं अज्ञातकर्तृक लोकप्रख्यात श्लोकों की संज्ञा है—गाथा और इन्हीं का आश्रयण वेदव्यास ने पुराण-संहिता के निर्माण के निमित्त किया। ये गाथायें 'श्लोक' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं—तदप्येते श्लोका अभिगीता (ऐत० ब्रा० अ० ३९)

गाथाओं के उदाहरण

दुष्यन्त[1] के पुत्र (दौष्यन्ति) भरत के विषय में—

हिरण्येन परीवृतान् कृष्णान् शुक्लदतो मृगान्।
मष्णारे भरतोऽददात् शतं बद्धानि सप्त च ॥
भरतस्यैष दौष्यन्तेरग्निः साचीगुणे चितः।
यस्मिन् सहस्रं ब्राह्मणा बद्वशो गा विभेजिरे ॥

पारस्करगृह्यसूत्र में विवाह के प्रकरण में वर यह गाथा गाता है—

सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति।
मां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः ॥
यस्यां भूतं समभवत् यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः ॥

पितृ-गाथा—

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण के ३९ वें अध्याय में ५ गाथाओं में से दो गाथायें ऊपर दी गई हैं। ये पाँचों ही गाथायें कुछ शब्द-भेद से भागवत में भी उद्धृत हैं।

—श्रीमद्भागवत ९।२०।२६-२९।

यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥

—वनपर्व ८४।९७

यवक्रीतोपाख्यान की गाथा—

ऊचुर्वेदविदः सर्वे गाथां यां तां निबोध मे ।
न दिष्टमर्थमत्येतुमीशो मर्त्यः कथञ्चन ।
महिषैर्भेदयामास धनुषाक्षो महीधरान् ॥

—वनपर्व १३५।५५

ययाति ने अपने जीवन का अनुभव इस प्रख्यात गाथा के रूप में अभिव्यक्त किया था :—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एव विवर्धते ॥

—वनपर्व

पुराणों में भी ऐसी अनेक गाथायें उपलब्ध हैं जिनमें किसी महान् व्यक्ति का सार्वभौम जीवनदर्शन संक्षेप में ही एक दो श्लोकों में अभिव्यक्त किया गया है, परन्तु अधिकांश में ये गाथायें भारतीय साहित्य के सुदूर अतीत काल से सम्बद्ध हैं तथा ऐतिहासिक व्यक्ति के दान, महत्त्व, अभिषेक आदि घटनाओं का वर्णन करती हैं। कभी-कभी तो एक ही लघुकाय गाथा के भीतर एक बृहत् इतिहास या आख्यान छिपा रहता है। सचमुच ये प्रवहमान परम्परा की महत्त्वपूर्ण गाथायें इतिहास तथा पुराण दोनों के निर्माण में उपकरण का काम करती हैं।

(४) कल्पशुद्धि—

इस शब्द के तात्पर्य निर्णय में पर्याप्त मतभेद है। इसके स्थान पर 'कल्पजोक्ति' का अर्थ है भिन्न-भिन्न कल्पों (समयविशेष) में उत्पन्न होने वाले विषयों या पदार्थों का कथन या विवरण। श्रीधर स्वामी ने 'कल्पशुद्धि' का अर्थ श्राद्धकल्प किया है। इधर पण्डितप्रवर मधुसूदन ओझा तथा उनके अनुयायी म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी[1] इस शब्द के भीतर धर्मशास्त्र का समग्र विषय अभीष्ट है—ऐसा मानते हैं। 'कल्प' का तात्पर्य वे एतन्नामक वेदाङ्ग से मानते हैं जिसके भीतर श्रौत, गृह्य, धर्मसूत्र, सदाचार तथा संस्कार

---

१. द्रष्टव्य पुराणोत्पत्ति प्रसंग पृ० ३१ तथा पुराण पत्रिका (अंग्रेजी) द्वितीय वर्ष पृ० १०९-१११ (जुलाई १९६० ; प्रकाशक अखिल भारतीय काशिराज-न्यास, रामनगर, वाराणसी)

सबका अन्तर्भाव मानते हैं। 'शुद्धि' पद से वे छः प्रकार की शुद्धि (शोधन) मानते हैं—मलशुद्धि, स्पर्शशुद्धि, अघशुद्धि, एनःशुद्धि तथा मनःशुद्धि। सम्भव है यह किसी धर्मशास्त्रीय विषय का संकेत करता हो, परन्तु पुराण इस शब्द के अर्थ के विषय में मौन ही दीख पड़ते हैं। अतः पुराणकार के तात्पर्य का इदमित्थंरूप से प्रतिपादन करना प्रमाण के अभाव में अशक्य है।

मूल पुराण संहिता का स्वरूप कैसा था ? इस समस्या का समाधान अनेक विद्वानों ने अपनी दृष्टि से किया है। एक-दो प्रकार का निदर्शन यहां कराया जावेगा। दक्षिण भारत के एक विद्वान् पौराणिक पण्डित नरसिंह स्वामी ने मूल पुराण संहिता के पुनः प्रणयन की चेष्टा की है। इसके लिए वे ३० वर्ष व्यापी अपने पौराणिक अध्ययन का सहारा लेते हैं। उनकी पद्धति इस प्रकार है। वे कतिपय पुराणों के तुलनात्मक अध्ययन करने से इस परिणाम पर पहुँचे कि उनमें अनेक श्लोक, कहीं-कहीं तो पूरा अध्याय का अध्याय ही पुनरुक्त है। वायु तथा ब्रह्माण्ड, मत्स्य तथा हरिवंश—इन पुराणों में ऐसी श्लोकों की पुनरुक्ति आपस में बहुत ही अधिक है। ऐसे सम श्लोकों अथवा अध्यायों की गम्भीर छानवीन करने के अनन्तर उन्होंने इस कल्पना के अनुसार चार पादों में विभक्त पुराण-संहिता के अध्याय, श्लोक तथा विषय की पूरी सूची दी है[1]। इसके तैयार करने में लेखक का अश्रान्त परिश्रम तथा गम्भीर अध्ययन पूर्णतया लक्षित होता है। यह पुराणों के अध्ययन तथा गवेषणा का विषय होना चाहिए। मेरी दृष्टि मे इस कल्पना का सबसे बड़ा दोष यही है कि ये ऐतिहासिक विषयों—पंच लक्षणों—को ही पुराण संहिता का अविभाज्य विषय मानते हैं। यह कल्पना तो आदरणीय नहीं हो सकती। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में उद्धृत भविष्य पुराण तथा अन्य पुराणों के वचनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस युग में धर्मशास्त्रीय विषयों का भी समावेश पुराण के भीतर अवश्य था। ऐसे स्पष्ट प्रमाण के रहते मूल पुराणों से इन विषयों को बहिष्कृत करना कथमपि न्याय्य नहीं प्रतीत होता। मल्लिनाथ ने रघुवंश के प्रथम श्लोक 'वागर्थाविव संपृक्तौ' की संजीवनी में कहा है—इति वायुपुराणसंहितावलेन पार्वती परमेश्वराय तत्त्वदर्शनात्। यहाँ वायुपुराण संहिता के नाम से उल्लिखित है। अतः वर्तमान वायुपुराण का मूलभूता पुराण संहिता के साथ सम्बन्ध की कल्पना जैसी लेखक ने की है असम्भव नहीं प्रतीत होती। इसीलिए अन्य गवेषकों ने भी 'वायुपुराण' को प्राचीनता तथा प्रामाणिकता स्वीकार की है। इस वात के मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, परन्तु पुराण संहिता से धर्म-

---

१. द्रष्टव्य जर्नल आफ श्री वेंकटेश्वर ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, भाग ६, सन् १९४५ (तिरुपति से प्रकाशित पृष्ठ ६३ ७० तक।)

शास्त्र से सम्बद्ध विषयों को एकदम निकाल बाहर करना कथमपि उचित नहीं प्रतीत होता।

आख्यान तथा पुराण

पुराणसंहिता के निर्माण के लिए किस प्रकार व्यासदेव ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्पशुद्धि इन चारों का आश्रयण किया था। इसकी विशिष्ट चर्चा ऊपर की गई है। स्कन्दपुराण का एक वचन इस विषय में प्राप्त है जिसके अनुसार पुराण में पञ्चाङ्गों (पञ्चलक्षणों) से अतिरिक्त यावत् विवेच्य विषय हैं वे 'आख्यान' के नाम से प्रसिद्ध हैं—

पञ्चाङ्गानि पुराणस्य चाख्यानमितरत् स्मृतम्।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पुराण का क्षेत्र व्यापक था जिसके भीतर आख्यान समाविष्ट किया जाता था। फलतः अत्यन्त प्राचीन काल में अथवा पुराण की उत्पत्ति के समय हम यथार्थतः कह सकते हैं कि आख्यान एक छोटी वस्तु थी जिसका समावेश पुराण के भीतर किया जाता था।

मनुस्मृति के समय (द्वितीय शती ईसा पूर्व) में हम पुराण तथा आख्यान दोनों के स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में संकेत पाते हैं। इस युग में आख्यान पुराण के साथ अलग भी पढ़ा जाता था तथा व्याख्यात होता था। मनुस्मृति (३।२३२) में श्राद्ध के अवसर पठनीय ग्रन्थों की गणना में वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण तथा खिलके नाम मिलते हैं जिन्हें उस अवसर पर सुनाना चाहिए—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासाँश्च पुराणानि खिलानि च॥

इस श्लोक के भाष्य में मेधातिथि ने 'आख्यान' के उदाहरण में सौपर्ण तथा मैत्रावरुण का नाम निर्दिष्ट किया है जो निश्चितरूप से वेदों में लब्ध-ख्याति आख्यान थे।

इतिहास, पुराण तथा आख्यान की मनुस्मृति में पृथक् स्थिति का हम अनुमान कर सकते हैं, परन्तु यह पार्थक्य मान्य नहीं था और ये तीनों साहित्य के विभिन्न ग्रन्थ एक ही अभिन्न ग्रन्थ के द्योतक भी प्रचुरतया उपलब्ध होते हैं।

उद्धरण (क, ख तथा ग) में एक ही कथानक आख्यान और इतिहास शब्दों से समानरूपेण अभिहित किया गया है। ये तीनों उद्धरण एक ही पुराण से—पद्मपुराण से—उद्धृत किये गये हैं।

उद्धरण (घ) में वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण होने के साथ ही साथ ही इतिहास भी कहे गये हैं। तात्पर्य यह है कि महाभारत ही सामान्यरूप से प्रचलितरूप में 'इतिहास' नाम भले ही प्रख्यात हो, परन्तु पुराण भी इतिहास की आख्या से बहिर्भूत नहीं थे।

यह है पुराण तथा इतिहास के ऐक्य का दृष्टान्त।

उद्धरण (ङ) में ब्रह्मपुराण आख्यान की संज्ञा से मण्डित है। इससे स्पष्ट है कि पुराण संहिता के आदिम आरम्भिक युग की मान्यता अब पीछे बिल्कुल बदल गई और ब्रह्मपुराण पुराण नाम से प्राख्यात होने के अतिरिक्त 'आख्यान' भी कहलाता था।

उद्धरण (च) में महाभारत एक ही स्थल पर समानरूपेण पुराण, इतिहास तथा आख्यान तीनों आख्याओं से मण्डित हैं।

उद्धरण (छ) में महाभारत के 'भारताख्यान' के नाम से प्रसिद्ध होने की बात कही गई है।

उद्धरण (ज) में इसी प्रकार पुराण 'पुराणाख्यान' के नाम से मण्डित है।

उद्धरण (झ) में पुराण के पांचों अंग (पञ्चलक्षण) आख्यान के नाम से प्रख्यात बतलाये गये हैं।

परिशिष्ट

(क)

पुलस्त्य उवाच

एतदाख्यानकं पूर्वमगस्त्येन महर्षिणा।
रामाय कथितं राजंस्तेन वक्ष्यामि साम्प्रतम्॥

भीष्म उवाच—

कस्मिन्वंशे समुत्पन्नो राजाऽसौ नृपसत्तमः।
यस्यागस्त्येन गदितश्चेतिहासः पुरातनः॥

—पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ३२।९-१०

(ख)

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पुराणं परमं पुण्यं सर्वपापहरं शुभम्॥
कुमारेण च लोकानां नमस्कृत्य पितामहम्।
प्रोक्तं चेदं ममाख्यानं देवर्षे ब्रह्मसूनुना॥

—तत्रैव उत्तरखण्ड, २९।१-२

(ग)

इतिहासमिमं पुण्यं शाण्डिल्योऽपि मुनीश्वरः।
पठते चित्रकूटस्थो ब्रह्मानन्दपरिप्लुतः॥
आख्यानमेतत्परमं पवित्रं श्रुतं सकृद्वै विदहेदघौघम्॥

—तत्रैव १९३।९०-९१

(घ)

इदं यो ब्राह्मणो विद्वानितिहासं पुरातनम्।
शृणुयाच्छ्रावयेद्वापि तथाऽध्यापयतेऽपि च॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वेदैश्च सम्मतम् ।
कृष्णद्वैपायनेनोक्तं पुराणं ब्रह्मवादिना ॥

—वायु १०३ अ. ४६, ५१, ब्रह्माण्ड ४।४।४७, ५०

(ङ)

इदं यः श्रद्धया नित्यं पुराणं वेदसम्मितम् ।
यः पठेच्छृणुयान्मर्त्यः स याति भुवनं हरेः ॥ २७ ॥
त्रिःसन्ध्यं यः पठेद् विद्वाञ्छ्रद्धया सुसमाहितः ।
इदं वरिष्ठमाख्यानं स सर्वमीप्सितं लभेत् ॥ ३० ॥

—ब्रह्मपु० (आनन्दाश्रम) अ० २४५

(च)

द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा ।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम् ॥ १७ ॥
तस्याख्यानवरिष्ठस्य विचित्रपदपर्वणः ॥ १८ पू० ॥
भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थसंयुताम् ॥ १९ पू० ॥
संहितां श्रोतुमिच्छामि पुण्यां पापभयापहाम् २१ उ० ॥

—महाभारत, आदिपर्व १।१७-२१

यो[1] विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः ॥

—तत्रैव २।३८२

(छ)

यत्तु शौनकसत्रे ते भारताख्यानमुत्तमम् ।
जनमेजयस्य तत्सत्रे व्यासशिष्येण धीमता ॥
कथितं विस्तरार्थं च यशोवीर्यं महीक्षिताम् ।

—तत्रैव २।३३

(ज)

तमजं विश्वकर्माणं चित्पतिं लोकसाक्षिणम् ।
पुराणाख्यानजिज्ञासुर्व्रजामि शरणं प्रभुम् ॥

—वायु १।६

---

१. तुलना कीजिए—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः ॥

—वायु, १।१।१८०

पुराणाख्यानकं विप्र नानाकल्पसमुद्भवम् ।
नानाकथासमायुक्तमद्भुतं बहुविस्तरम् ॥

—नारदीय, पूर्वार्धं ९२।५

(झ)

पञ्चाङ्गानि पुराणेषु आख्यानकमिति स्मृतम् ।
सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

—मत्स्य ५३।६४

इस परीक्षण से परिणाम निकाला जा सकता है कि किसी प्राचीन युग में पुराण का इतिहास से तथा आख्यान से पार्थक्य और वैशिष्ट्य अवश्य माना जाता था, परन्तु ज्यों-ज्यों पुराणों के स्वरूप में अभिवृद्धि होती गई, यह पार्थक्य अतीत की वस्तु बन गया। दोनों में किसी प्रकार परिदृश्यमान अन्तर उपलब्ध नहीं रहा। दोनों की विभेदक रेखा क्षीण से क्षीणतर होती चली गई। फल यह हुआ कि इतिहास और पुराण का लक्षण प्रायः एकाकार हो गया। यदि अमरसिंह की दृष्टि में 'इतिहासः पुरावृत्तम्' है (अमरकोष १·५।४), तो नीलकण्ठ की दृष्टि में पुराण भी वही पुरावृत्त है (पुराणं पुरावृत्तम्, महाभारत १।५।१ की नीलकण्ठी)। आज दोनों एक ही वस्तु को लक्ष्य करते हैं—प्राचीन काल की घटित घटना।

—❦—

तृतीय परिच्छेद

अष्टादश पुराण

पुराणों के नाम तथा श्लोक-संख्या

पुराणों की संख्या प्राचीन काल से १८ मानी गई है। इन अष्टादश पुराणों का नाम प्रायः प्रत्येक पुराण में उपलब्ध होता है। देवीभागवत (१ स्कन्ध, ३ अ०, २१ श्लो०) ने आद्य अक्षर के निर्देश से अष्टादश पुराणों का नाम निर्देश इस लघुकाय अनुष्टुप् में निबद्ध कर दिया है—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्
अनापद् लिङ्ग-कू-स्कानि पुराणानि पृथक् पृथक् ॥

(१) मकारादि दो पुराण—मत्स्य तथा मार्कण्डेय; [२] (२) भकारादि दो पुराण—भागवत[३] तथा भविष्य; [४] (३) ब्रत्रयम्—ब्रह्म,[५] ब्रह्म[६]—वैवर्त तथा ब्रह्माण्ड; [७] (४) वचतुष्टयम्–वामन,[८] विष्णु,[९] वायु,[१०] वाराह; [११] (५) अनापत् लिंग कूस्क = अग्नि [१२] नारद, [१३] पद्म, [१४] लिंग, [१५] गरुड, [१६] कूर्म [१७] तथा स्कन्द [१८]।

विष्णुपुराण (३।६।२०–२४) तथा भावगत (१२।१३।३-८) आदि [१] में इन पुराणों [२] का निर्देश एक विशिष्ट क्रम के अनुसार है और यही क्रम तथा नाम अन्य पुराणों में भी उपलब्ध होते हैं :—

ब्रह्म, [१] पद्म, [२] विष्णु, [३] शिव, [४] भागवत, [५] नारदीय[६] मार्कण्डेय, [७] अग्नि, [८] भविष्य, [९] ब्रह्मवैवर्त, [१०] लिंग, [११] वराह, [१२] स्कन्द, [१३] वामन, [१४] कूर्म, [१५] मत्स्य, [१६] गरुड [१७] तथा [१८] ब्रह्माण्ड ॥

अष्टादश पुराणों की श्लोक संख्या का निर्देश विभिन्न पुराणों में उपलब्ध होता है। श्लोक संख्या की तारतम्य परीक्षा के लिए यह निर्देश एकत्र उपस्थित किया जा रहा है :—

---

१. मत्स्यपुराण के ५३ अ० में इन पुराणों के नाम तथा वर्ण्यविषय का वर्णन संक्षेप में दिया गया है। संक्षिप्त होने पर भी यह वर्णन बड़ा प्रामाणिक माना जाता है। नाम तथा संख्या देखिए देवीभागवत (१।३।४-१६)।

२. विष्णुपुराण (३।६।२४) ने इन्हीं अष्टादश पुराणों को महापुराण के नाम से भी व्यवहृत किया है। 'उपपुराण' का उल्लेख तथा विशिष्ट नामों का अनुल्लेख यही सिद्ध करता है कि इन पुराणों से पृथक् तथा भिन्न 'उपपुराण' का सामान्य उदय तो हो गया था, परन्तु सम्भवतः विशिष्ट उपपुराणों की रचना नहीं हुई थी।

	भागवत (१२।१३)	देवीभागवत (१।३)	अग्निपुराण (अ० २७२)	मत्स्य (अ० ५३)
ब्रह्म०	१० हजार	१० हजार	२५ हजार	१३ हजार
पद्म	५५ हजार	५५ हजार		५५ ,,
विष्णु	२३ हजार	२३ हजार	२३ हजार	२३ ,,
शिव	२४ हजार	२४ हजार ६ सौ (वायु)	१४ हजार (वायु)	२४ हजार (वायु)
भागवत	१८ हजार	१८ हजार	१८ हजार	१८ ,,
नारद	२५ हजार	२५ हजार	२५ हजार	२५ ,,
मार्कण्डेय	९ हजार	९ हजार	९ हजार	९ ,,
अग्नि	१५ हजार ४ सौ	१६ हजार	१२ हजार	१६ ,,
भविष्य	१४ हजार ५ सौ	१४ हजार ५ सौ	१४ हजार	१४ ,, ५ सौ
ब्रह्मवैवर्त	१८ हजार	१८ हजार	१८ हजार	१८ हजार
लिंग	११ हजार	११ हजार	११ हजार	११ ,,
वराह	२४ हजार	२४ हजार	१४ हजार	२४ ,,
स्कन्द०	८१ हजार १ सौ	८१ हजार	८४ हजार	८१ ,,
वामन	१० हजार	१० हजार	१० हजार	१० ,,
कूर्म	१७ हजार	१७ हजार	८ हजार	१८ हजार
मत्स्य	१४ हजार	१४ हजार	१३ हजार	१४ ,,
गरुड	१९ हजार	१९ हजार	८ हजार	१९ ,,
ब्रह्माण्ड	१२ हजार	१२ हजार १ सौ	१२ हजार	१२ ह० २ सौ०
	४ लाख			

श्लोक-संख्या की चार सूचियों का यह परीक्षण अनेक वैभिन्य उपस्थित करता है। ब्रह्मपुराण में नारदीय (९२।३१) तथा भागवत के अनुसार १० हजार श्लोक हैं, परन्तु अग्नि० के अनुसार २५ हजार। विष्णुपुराण की श्लोक-संख्या ६ हजार से लेकर २४ हजार तक मानी गई है। वायुपुराण की श्लोक-संख्या तो साधारणतः २४ हजार मानी जाती है, परन्तु देवीभागवत ने इससे ६ सौ श्लोक अधिक माना है, अग्निपुराण में केवल १४ हजार, परन्तु स्वयं ग्रन्थ के भीतर केवल १२ हजार। उपलब्ध वायुपुराण में १० हजार से कुछ ही अधिक श्लोकों की उपलब्धि मूल द्वादश सहस्रों के पास चली जाती है। मार्कण्डेय की श्लोक संख्या ९ हजार सर्वत्र है, परन्तु स्वयं मार्कण्डेय के ही आधार पर वह संख्या ६ हजार ९ सौ ही केवल है। (मार्कं० १३४।३९)। अग्निपुराण में इसी प्रकार विभिन्नता मिलती है श्लोकों की संख्या के विषय में। मत्स्य के अनुसार १६ हजार, भागवत के मत में इससे छः सौ कम, परन्तु स्वयं अग्नि के अनुसार केवल १२ हजार और आजकल उपलब्ध संख्या केवल इतनी ही है। स्कन्द की श्लोक-संख्या ८१ हजार है, परन्तु अग्नि ने इसमें तीन हजार और जोड़ कर इसे ८४ हजार बना दिया है। इसके ऊपर आगे विवेचन किया जायेगा। कूर्म की श्लोक-संख्या की विषमता पर आगे विचार किया गया है। गरुडपुराण की भी दशा ऐसी ही है—भागवत तथा देवीभागवत के अनुसार १९ हजार, मत्स्य के अनुसार १८ हजार, परन्तु अग्नि के अनुसार केवल ८ हजार। इस प्रकार इन पुराणस्थ श्लोक-संख्या में पर्याप्त भिन्नता है।

इस सूची की तुलना करने पर अग्निपुराण का सूचना अनेक पुराणों के विषय में सबसे विचित्र है। उसे छोड़ देने पर भागवत, मत्स्य आदि के वर्णन के समानता है। समग्र पुराणों की श्लोकसंख्या गिनाने पर ४ लाख से कई हजार ऊपर ठहरती है, परन्तु सामान्य रूप से चार लाख श्लोकों की संख्या पुराणस्थ श्लोकों की मानी जाती है।[1] इस सूची में प्रदत्त श्लोक संख्या को प्रचलित पुराणों के श्लोकों से मिलाने पर वह परिमाण में बहुत न्यून ठहरती है। इस तथ्य की

---

१. व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे।
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा ॥
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाशते।
अद्यापि देवलोकेऽस्मिन् शतकोटिप्रविस्तरम् ॥
तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षं संक्षेपेण निवेशितम् ॥

पद्मपुराण (भाग ५, १।४५—५२) में मत्स्य के ये पद्य इसी रूप में मिलते हैं।

एवं पुराण—सन्दोहश्चतुर्लक्ष उदाहृतः।

—भाग० १२।१३।

ओर पुराणों के कतिपय मान्य व्याख्याकारों का भी ध्यान आकृष्ट हुआ था जिन्होंने अपनी टीकाओं में इस वैषम्य का निर्देश भली भाँति किया है। उदाहरण के तौर पर कतिपय पुराणों की श्लोक-संख्या के वैषम्य की चर्चा यहाँ की जायेगी। ब्रह्मपुराण में नारदीय के अनुसार १० सहस्र तथा अग्नि-पुराण के अनुसार २५ सहस्र श्लोक हैं, परन्तु आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि में मुद्रित ब्रह्मपुराण में लगभग १४ सहस्र (निश्चित संख्या १३,७,८३ श्लोक) श्लोक मिलते हैं। विष्णुपुराण की श्लोकसंख्या में तो बड़ा ही तीव्र वैषम्य लक्षित होता है। इस पुराण के विष्णुचित्ति तथा वैष्णवाकूतचन्द्रिका (रत्न गर्भभट्ट) नामक व्याख्याओं के अनुसार विष्णुपुराण की श्लोक संख्या ६, ८, ९, १०, २२ तथा २३ से लेकर २४ हजार तक बदलती रही, परन्तु इन दोनों टीकाओं ने तथा श्रीधरस्वामी ने भी ६ हजार श्लोक वाले पाठ पर ही अपनी व्याख्यायें लिखी हैं। बल्लालसेन का 'दान सागर' तेईस सहस्र वाले विष्णु के पाठ का उल्लेख करता है। अब प्रश्न यह है कि इतना वैषम्य क्यों? कुछ आलोचकों का कथन है कि 'विष्णुधर्मोत्तर' विष्णु पुराण का ही परिशिष्ट माना जाता था और उसकी श्लोक संख्या सम्मिलित करने पर विष्णु की चतुर्विंशति साहस्री संख्या की पूर्ति हो जाती है। नारदीय पुराण ने विष्णुधर्मोत्तरको विष्णु पुराण का परिशिष्ट ही मानकर एक साथ विषय-निर्देश किया है। परन्तु आधुनिक विद्वानों की आलोचना 'विष्णु धर्मोत्तर' को उपपुराण मानने के ही पक्ष में है। ऐसी दशा में दोनों का सम्मिलन क्यों कर माना जा सकता है? श्लोक-संख्या के आधिक्य के भी दृष्टान्त उपस्थित है। स्कन्दपुराण अपने दोनों विभाजनों में ८१ सहस्र श्लोकों वाला माना गया है, परन्तु वेंकटेश्वर प्रेस (बम्बई) से मुद्रित संस्करण में इससे कई हजार अधिक श्लोक मिलते हैं। इसके विषय में भविष्यपुराण एक विचित्र तथ्य को प्रकट करता है। उसका कथन है कि समस्त पुराण मूलतः १२ हजार श्लोकों में थे, परन्तु कालान्तर में नवीन विषयों का सन्निवेश तथा सम्मिश्रण करने से यह संख्या अधिक बढ़ गई है जिससे स्कन्द पुराण तो एक लाख श्लोकों से युक्त है तथा भविष्य पुराण पचास हजार श्लोकों से। परन्तु यह कथन भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि श्रीमद्भागवत की रचना में एक-रूपता का सर्वत्र समर्थन होता है। उसमें क्षेपक की कल्पना नितान्त अनुचित है। फलतः उसका मूलरूप ही १८ हजार श्लोकों का था। ऐसी दशा में भविष्य के पूर्वोक्त कथन में हम कथमपि श्रद्धा नहीं धारण कर सकते।

कहीं-कहीं मूल पुराण के समग्र अंशों की अनुपलब्धि श्लोक-संख्या के ह्रास का कारण मानी जा सकती है। उदाहरणार्थ कूर्म में मूलतः चार संहितायें

वर्तमान थी[1] ब्राह्मी, भागवती, सौरी तथा वैष्णवी। इनमें से केवल प्रथम संहिता (ब्राह्मी) ही उपलब्ध है जिसमें कूर्म के अनुसार ही (१।२३) छ हजार श्लोक हैं।[1] कूर्म में श्लोकों की संख्या १७ हजार भागवत तथा देवीभागवत के अनुसार तथा ८ हजार अग्नि पुराण के अनुसार मानी जाती है। १७ या १८ हजार श्लोक चारों संहिताओं के श्लोकों की सम्मिलित संख्या प्रतीत होती है। अग्नि की ८ हजार श्लोकसंख्या किसी एक या दो सहिताओं के योग का फल है। परन्तु आज उपलब्ध कूर्म-पुराण में केवल ६ हजार श्लोक मिलते हैं जो केवल ब्राह्मी संहिता की उपलब्धि से अनुचित नहीं हैं।

प्राचीन निबन्धकारों ने अपनी दृष्टि के अनुसार इस वैषम्य को सुलझाने का प्रयास किया है। मित्र मिश्र ने अपने 'परिभाषा प्रकाश' में इस विषय में जो लिखा है वह हमारे निबन्धकारों के दृष्टिकोण को समझाने के लिए आदर्श माना जा सकता है।[2]

ऊपर की सूची में पुराणों का जो क्रम दिया गया है वह सर्वत्र मान्य नहीं है। अनेक पुराण ब्राह्म को ही आदि पुराण मानते है और पूर्वोक्त सूची का अक्षरशः अनुवर्तन करते हैं। ब्राह्म पुराण तो अपने को आदि पुराण मानता है, विष्णु पुराण भी उसी का समर्थन करता है।[3] श्रीमद्भागवत आदि अनेक पुराण

---

१. ब्राह्मी भागवती सौरी वैष्णवी च प्रकीर्तिताः
चतस्रः संहिताः पुण्या धर्मकामार्थमोक्षदाः ॥
इयं तु संहिता ब्राह्मी चतुर्वेदैस्तु संमिता।
भवन्ति षट् सहस्राणि श्लोकानामत्र संख्यया ॥

—कूर्म, १ अ०, श्लोक- २२–२३।

२. मत्स्य-पुराणे तु भागवतीयगणनातः षट्शत्याऽग्निपुराणं, द्विशत्या च ब्रह्माण्डपुराणमधिकमुक्त्वा अन्ते चतुर्लक्षमित्युपसंहृतम्, तद्दूरविप्रकर्षेण। भवन्ति ईदृशा अपि वादा यत् किञ्चिन्न्यूनाधिकं शतं लब्ध्वा शतं मया लब्धामिति। एवं भागवतीयमपि चतुर्लक्षवचनं व्याख्येयम्। यापि विष्णुपुराणे ब्रह्माण्डमादाय वायवीयत्यागेन, या च ब्रह्मवैवर्ते वायवीयमुपादाय ब्रह्माण्डपुराणपरित्यागेन अष्टादशसंख्योक्ता, सा कल्पभेदेन व्यवस्थापनीया।

—परिभाषा प्रकाश पृ. १२-१३ (चौखम्भा सं, काशी)

३. तेऽपि श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठाः पुराणं वेदसंमितम्।
आद्यं ब्राह्माभिधानं च सर्ववाञ्छाफलप्रदम् ॥ —ब्राह्म २४५।४

आद्यं सर्वपुराणानां पुरानां पुराणं ब्राह्ममुच्यते

—विष्णु ३।६।२०

इसी मत के समर्थक है। केवल वायु० (१०४।३) तथा देवी भागवत (१।३।३) प्रथम पुराण होने का श्रेय मत्स्य पुराण को प्रदान करते हैं। वामन पुराण भी मत्स्य को ही पुराणों में मुख्य बतलाता है[1]। विपरीत इसके, स्कन्द पुराण (प्रभास खण्ड २।८-९) में ब्रह्माण्ड आदि-पुराण माना गया है। परन्तु ये सब उत्सर्ग हैं, विधि नहीं। अष्टादश पुराणों का वही क्रम प्रायः अधिकांश पुराणों में माना जाता है जो हमने ऊपर की सूची में दिया है। इस विशिष्ट क्रम का सम्भाव्यमान तात्पर्य आगे प्रदर्शित किया जायगा। इन पुराणों के विषयों की की सूची अनेक पुराणों में संक्षेप तथा विस्तार से दी गई है। संक्षेप मे यह सूची मत्स्य (अध्याय ५३), अग्नि (अध्याय २७२) तथा स्कन्द (प्रभास खण्ड, २।२८-७६) में उपलब्ध है। परन्तु नारदपुराण में यह विषय सूची बड़े विस्तार से १८ अध्यायों में दी गई है (पूर्वार्ध ९२ अध्याय—पूर्वार्ध १०९ अ० तक)

इस सूची के कालक्रम का निर्देश यथार्थतः करना कठिन है, परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि मत्स्यपुराण के श्लोकों (अ० ५३, श्लो० ३-४ और श्लो० ११-५७) को अपरार्कने याज्ञवल्कस्मृति की अपनी विस्तृत व्याख्या में (समय ११००-११२० ई० लगभग) तथा वल्लालसेन ने अपने 'दान सागर' में (जिसका रचना काल ११३९ ईस्वी है) उद्धृत किया है। फलतः मत्स्य के इन श्लोकों की रचना एकादश शती से प्राक्वर्ती होनी चाहिए। अपनी यथार्थता तथा प्रामाणिकता के लिए नारद की यह पुराण-विषय-सूची विशेष परीक्षण की अपेक्षा रखती है। एक बात ध्यान देने की है। इस सूची में स्वयं नारद पुराण के विषयों की भी सूची दी गई है। इससे कुछ लोग इसे संदेह की दृष्टि से देखते हैं और मूल नारद में इसे अवान्तर प्रक्षेप मानते हैं। जो कुछ भी हो, अलबरूनी ने अपने समय में उपलब्ध तथा प्रचलित पुराणों का जो विवरण दिया है अपने भारत-विषयक ग्रंथ में (रचनाकाल १०६९), वह इन सूचियों में दी गई सूची से बहुत भिन्न नहीं हैं। प्रक्षेप मिलाने पर कोई दण्ड नहीं। वह आज भी मिलाया जा सकता है। परन्तु मेरी ऐसी धारणा है कि दशम शती तक सब पुराण अपने वर्तमान रूप में आ गये थे। नारद पुराण वाली यह विषयसूची इसी अन्तिम विकसित आकार से सम्बन्ध रखती है; ऐसा मानना कथमपि अनुपयुक्त नहीं माना जा सकता।

---

१. मुख्यं पुराणेषु यथैव मात्स्यं
स्वायम्भवोक्तिस्त्वथ संहितासु।
मनुः स्मृतीनां प्रवरो यथैव
तिथीषु दर्शो विबुधेषु वासवः॥ —वामन १२।४८

(क) पुराण के अष्टादश होने का तात्पर्य

संस्कृत साहित्य में १८ संख्या बड़ी पवित्र, व्यापक और गौरवशाली मानी जाती है। महाभारत के पर्वों की संख्या १८ है, श्रीमद्भगवत्गीता के अध्यायों की संख्या १८ है तथा श्रीमद्भागवत के श्लोकों की संख्या १८ हजार है। इसी प्रकार पुराणों की संख्या भी सर्वसम्मति से १८ ही है। विद्वानों की मान्यता है कि यह पुराणसंख्या निर्हेतुक न होकर सहेतुक है—साभिप्राय है और इस अभिप्राय को दिखलाने के लिए पण्डितप्रवर मधुसूदन ओझा ने अपने पुराण विषय ग्रन्थों में अनेक युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। उन्हीं का यहाँ संक्षेप में उपन्यास किया गया है।

विद्वानों का आग्रह है कि पंच—लक्षण पुराण में सर्ग-सृष्टि का विषय ही प्रमुख है और इसी विषय के विकाश और व्यापकता दिखलाने के लिए उसमें इतर चार लक्षण—मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित तथा प्रतिसर्ग भी समाविष्ट किये गये हैं। पुराणों की अष्टादश संख्या भी इस सृष्टितत्त्व से सम्बन्ध रखती हैं और यही कारण है कि सर्वत्र यह संख्या प्रमाण मानी गई है। इसके तात्पर्य का निर्देश इस प्रकार समझना चाहिए :—

(क) शतपथब्राह्मण के अष्टमकांड में सृष्टि नामक इष्टियों के उपाधान (रखने) का विधान है, वहाँ १७ इष्टिकायों के रखने का कारण बतलाया गया है। कारण यही है कि तत्सम्बद्ध सृष्टि भी सत्रह प्रकार की है तथा उसका उदय प्रजापति से होता है, जिससे दोनों को एकसाथ मिलाने पर सृष्टि के सम्बन्ध में अष्टादश संख्या की निष्पत्ति होती है। शतपथ का कथन है कि मासों की संख्या है बारह, ऋतुओं की पाँच। ये सत्रह पदार्थ एक संवत्सर से उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार प्रजापति से इन सत्रह सृष्टियों का विधान उपपन्न है—

तस्य द्वादश मासाः, पञ्चर्तवः, संवत्सर एव प्रतूर्तिः (शतपथ ८।४।१।१३) तथा 'प्रतूर्तिरष्टादशः' (यजु० १४।२३)

इस प्रकार सृष्टि से अष्टादश संख्या को संबद्ध होने के हेतु पुराणों को अष्टादशविध मानना उचित ही है।

(ख) वेद में सृष्टि का उदय वैदिक छन्दों में स्वीकार किया गया है। वेद के सात छन्दों में गायत्री तथा विराट् की प्रमुखता है जिनका सृष्टितत्त्व के साथ गहरा सम्बन्ध है। गायत्री है पृथ्वी-स्थानीया प्रकृतिरूपा (गायत्री वा इयं पृथिवी-शतपथ ४।३।४।९) तथा विराट् है द्युस्थानीय पुरुषरूप (वैराजो वै

पुरुषः–ताण्ड्य ब्राह्मण २।७।८)। द्यावापृथिवी इस सृष्टि के पिता-माता माने गये हैं—द्यौष्पिता पृथिवी माता। फलतः गायत्री तथा विराज् छन्द का सृष्टि-प्रक्रिया में प्रमुख होना बोधगम्य है। अब यह तो प्रख्यात ही है कि गायत्री के प्रतिपाद में आठ अक्षर होते हैं और विराज् के १० अक्षर और इन्हीं दोनों को मिलाने पर अठारह की संख्या आती है ('अष्टाक्षरा गायत्री' ऐतरेय ब्रा० ६।२० तथा 'दशाक्षरो विराट्' तै० १।१।५।३)। फलतः छन्दःसृष्टिवाद की दृष्टि से अष्टादश की संख्या का सृष्टि-प्रतिपादक पुराणों के साथ सम्बद्ध होना नितान्त युक्तिपूर्ण है।

(ग) सांख्यदर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया पुराणों में स्वीकृत की गई है—यह तो इतिहास-पुराण का साधारण भी अध्येता भलीभाँति जानता है। सांख्य में २५ तत्त्व स्वीकृत किये गये हैं। इन तत्त्वों की समीक्षा से इनके स्वरूप का परिचय मिलता है। पुरुष तथा प्रकृति तो नित्य मूलस्थानीय तत्त्व हैं, जिनकी सृष्टि नहीं होती। इनसे इतर तत्त्व हैं–महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रायें=७ प्रकृति-विकृति; केवल विकृति=१६ (मन को मिलाकर ११ इन्द्रियाँ तथा पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश)। इस योजना में तन्मात्रों से ही महाभूतों का साक्षात् सम्बन्ध है। अन्तर केवल स्वरूप का है। तन्मात्र होते हैं सूक्ष्म ('भूत सूक्ष्म' इसीलिए उनकी संज्ञा है) और महाभूत होते हैं 'स्थूल'। इनके स्वरूप का वैशिष्ट्य न मानकर दोनों की एकत्र गणना की जाती है। फलतः २५ पचीस तत्त्वों में से इन सात तत्त्वों को निकाल देने पर सृज्यमान तत्त्वों की संख्या १८ ही होती है। और सृष्टि-प्रतिपादक पुराणों की संख्या का १८ होना इस तर्क से भी प्रमाणित माना जा सकता है।

(घ) दृश्य ब्रह्माण्डों के सब पदार्थ अपने निवेश—स्थान की दृष्टि से तीन लोकों से सम्बद्ध रहते हैं—पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश। अब प्रत्येक पदार्थ की छः अवस्थायें हैं, जिनका निर्देश यास्क ने अपने निरुक्त में किया है—अस्ति (सत्ता), जायते (उत्पत्ति), वर्धते (वृद्धि), परिणमते (पकना), अपक्षीयते (ह्रास) तथा विनश्यति (विनाश)। ये छहों दशायें त्रिलोकी के समस्त पदार्थों के साथ नित्य सम्बद्ध हैं। पुराण इन सब पदार्थों के सर्ग-प्रतिसर्ग का वर्णन करता है। फलतः उसका संख्या में १८ होना उचित ही है[1]।

---

१. इसी प्रकार की अन्य युक्तियों के लिए द्रष्टव्य श्रीमाधवाचार्य रचित पुराणदिग्दर्शन, पृ० ६४-६७, तृतीय सं०, दिल्ली।
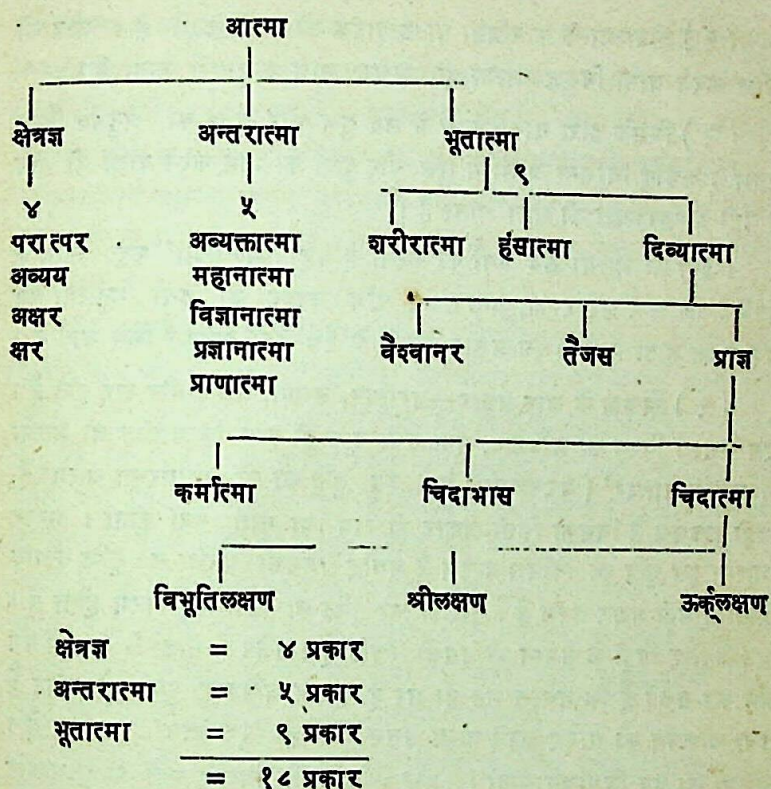
(ङ) पुराणों के अष्टादश होने का एक अन्य हेतु यहां उपस्थित किया जा रहा है। पुराण मुख्यरूप से पुराणपुरुष-परमात्मा का ही प्रतिपादन करता है। आत्मा स्वरूपतः एक ही है, परन्तु उपाधि तथा अवस्था की विभिन्नता के कारण वह १८ प्रकार का होता है। इन अठारहों प्रकार के आत्मा का प्रतिपादक होने के कारण पुराण भी १८ प्रकार के माने गये हैं।

अब आत्मा के १८ प्रकारों से परिचय रखना आवश्यक है। विषय की स्पष्टता के लिए इन प्रकारों को ऊपर चार्ट के द्वारा दिखलाया गया है। उस चार्ट की व्याख्या इस प्रकार समझनी चाहिए—

मूलभूत आत्मा के प्रथमतः तीन भेद होते हैं—(१) क्षेत्रज्ञ, (२) अन्तरात्मा तथा (३) दिव्यात्मा। मनुस्मृति के आधार पर इन तीनों भेदों का स्वरूप जाना जा सकता है[1]।

---

१. मनुस्मृति के इस विभाजन के आधारभूत श्लोक ये हैं—

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः॥

(१) जीवात्मा के कारयिता या उत्पादक को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। जीव को प्रेरित करने वाला विशुद्ध आत्मा ही 'क्षेत्रज्ञ' नाम से पुकारा जाता है।

(२) जिसके द्वारा नाना जन्मों में सब सुख और दुःख का अनुभव किया जाता है अर्थात् विभिन्न जन्मों में सुख और दुःख का भोग करने वाला जो जीव है वही **अन्तरात्मा** की संज्ञा पाता है।

(३) जो आत्मा सब कर्मों को करता है वह **'भूतात्मा'** कहा जाता है इनमें क्षेत्रज्ञ चार प्रकार का, अन्तरात्मा पाँच प्रकार का तथा भूतात्मा नव प्रकार का होता है और इस प्रकार आत्मा के १८ भेद स्वीकृत किये जाते हैं।

(१) **क्षेत्रज्ञ** के चार प्रकार—परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर होते हैं। इस समस्त विश्व का अधिष्ठान, भूमा तथा साथ ही साथ विश्वातीत जो आत्मा है वही **'परात्पर'** (परमात्मा) है। इस सृष्टि का जो आधारभूत आत्मा है, वही **अव्यय** है जिसका किसी प्रकार भी व्यय या नाश नहीं होता। अक्षर आत्मा इस सृष्टि का निमित्त कारण है अर्थात् जिसकी प्रेरणा से सृष्टि उत्पन्न होती है वही अक्षर तत्त्व है। **क्षर** आत्मा सृष्टि का उपादान कारण होता है। घट के लिए मिट्टी के समान ही उसकी स्थिति है। संक्षेप में गीता के आधार पर हम कह सकते हैं कि समस्त भूत ही क्षर हैं, कूटस्थ अविकारी पुरुष ही अक्षर है तथा लोकत्रय को धारण करने वाला उत्तम पुरुष ही 'पुरुषोत्तम' कहलाता है। आत्मा का यह विभाजन गीता (१५।१६–१७) के प्रख्यात पद्यों[1] के ही आधार पर है।

(२) **अन्तरात्मा** के पाँच अवान्तर भेद बतलाये जाते हैं :—अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा तथा प्राणात्मा। **अव्यक्तात्मा** वह है जिससे इस शरीर की जीवितरूप में रहने की सम्भावना होती है और उसके अभाव में यह शरीर जीवित नहीं रह सकता। **महानात्मा** वह है जिससे सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों की प्रवृत्ति होती है। **विज्ञानात्मा** वह है जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥

— अध्याय १२

१. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

—गीता, अ० १५, श्लोक १६, १७

ऐश्वर्य का तथा इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य का प्रवर्तक होता है। प्रज्ञानात्मा वह है जो ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त करता है। प्राणात्मा वह है जिससे शरीर में सक्रियता उत्पन्न होती है। इन पञ्चविध प्रकारों का आधारस्थान है कठोपनिषद् के वे श्लोक जिनमें अव्यक्त, महान्, बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों का निर्देश किया गया है और एक को दूसरे से बड़ा बतलाकर अव्यक्त से पुरुष या परात्पर की श्रेष्ठता मानी गई है[1]।

(२) भूतात्मा के प्रथमतः तीन भेद होते हैं—शरीरात्मा, हंसात्मा तथा दिव्यात्मा। मनुष्य, पशु आदि भूतों का यह प्राणसम्पन्न शरीर ही शरीरात्मा कहलाता है। पृथ्वी और चन्द्रमा के बीच विचरण करने वाला वायु ही हंसात्मा है। यह नामकरण वेद के आधार पर है जो कहता है कि यह एक हंस कभी सोता नहीं सर्वदा ही जागता रहता है और सोये हुए शरीरात्मा की रक्षा किया करता है[2]। दिव्यात्मा का तात्पर्य मनुष्य, पशु तथा निर्जीव पदार्थ (पाषाण आदि) से है। इसीलिए इसके भी प्रथमतः तीन भेद हैं—वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। पत्थर आदि निर्जीव पदार्थ 'वैश्वानर' के अन्तर्गत, अन्तःसंज्ञा वाले प्राणी (वृक्ष आदि) तैजस के अन्तर्गत तथा व्यक्तसंज्ञा वाले मानव प्राणी, जिनमें बुद्धि का विकाश होता है, प्राज्ञ के अन्तर्गत माने जाते हैं।

इन तीनों में 'प्राज्ञ' ही सबसे अधिक चैतन्य तथा बुद्धि से सम्पन्न होता है। इसके तीन विभाग माने जाते हैं—कर्मात्मा, चिदाभास और चिदात्मा। कर्मात्मा का सम्बन्ध कर्म से है। कर्म की महिमा सर्वातिशायिनी है। कर्म के विना कोई भी जीवित नहीं रह सकता। प्राणी को कर्म करना पड़ेगा ही। गीता का सुस्पष्ट कथन है—न हि कश्चित् क्षणमपि जातु, तिष्ठत्यकर्मकृत्। श्रुति भी कर्म की महिमा के प्रसंग में करती है कि कर्म के बिना प्राण अपूर्ण ही रहते हैं और इसीलिए कर्माग्नि की सृष्टि हुई—"अकृत्स्ना उ वै प्राणाः ऋते कर्मणः।

---

१. इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परम व्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

—कठ उप०

२. स्वप्नेव शारीरमभिप्रहृत्यासुप्तः सुप्तानभी चाकशीति।
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पौरुष एकहंसः॥
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिः कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयते अमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पौरुष एकहंसः॥

तस्मात् कर्माग्निमसृजत् (शतपथ)। परन्तु कर्म होता है शीघ्र विनाशशाली। वह नष्ट भले ही हो, परन्तु वह अपना संस्कार छोड़ जाता है। ये ही संस्कार जिसमें समवेत होकर एकत्र निवास करते हैं वही है कर्मात्मा अर्थात् जीव। **चिदाभास** का अर्थ है चैतन्य का आभास अर्थात् ईश्वर-चैतन्य का वह अंश जो मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होकर हृदयस्थित विज्ञानात्मा से संपृक्त होकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि के धर्मों से संसृष्ट होता है वही है चिदाभास, जो प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न होता है। इस विभाजन की अन्तिम कड़ी है—चिदात्मा ईश्वर का वह भाग, जो समस्त विश्व में व्याप्त होता है और साथ ही साथ शरीर में भी व्याप्त रहता है, परन्तु व्याप्ति-स्थानों के धर्मों से संपृक्त नहीं होता, चिदात्मा उसी का नाम है। इसे ही साधारण भाषा में ईश्वर, पर-पुरुष आदि नामों से व्यवहृत करते हैं। इसके तीन भेद होते हैं जो गीता के अनुसार (अ० १०, श्लो० ४१) [1]विभूतिलक्षण, श्रीलक्षण और ऊर्क्लक्षण माने जाते हैं। गीता के इस श्लोक में ईश्वर को तीन पदार्थों से सम्पन्न होने की बात कही गई है—विभूति, श्री तथा ऊर्ज् और इसी कारण यहाँ त्रैविध्य स्वीकृत है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि क्षेत्रज्ञ के ५ प्रकार, अन्तरात्मा के ५ प्रकार तथा भूतात्मा के ९ प्रकार—इन सबों की सम्मिलित संख्या १८ होती है। अतः पुराण-पुरुष के इन १८ प्रकारों को वर्णन करने के हेतु पुराणों में अष्टादश संख्या का समवेत होना युक्ति तथा तर्क से संवलित है।[2]

(ख) पुराण के क्रम का रहस्य

ऊपर अष्टादश पुराणों की सूची में जो क्रम बतलाया गया है वह सर्वसम्मत न होने पर भी बहुसम्मत तो अवश्यमेव है। अब प्रश्न है कि इन पुराणों का इसी क्रम से निर्देश क्यों है ? इसका क्या कोई ऐतिहासिक कारण है ? अथवा यह केवल मनमाने ढंग से ही रखा गया है ? इस प्रश्न के उत्तर में सम्प्रदायवेत्ता पुराणविद् विद्वानों का मत है कि यह क्रम साभिप्राय है। यह किसी ऐतिहासिक कारण का फल न होकर वर्ण्य-विषय को लक्ष्य में रख कर ही सम्पन्न किया गया है। पुराणों के वर्ण्य-विषय अनेक हैं, परन्तु 'प्राधान्येन

---

१. यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ॥
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ —गीता १०।४१

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य—पण्डित बदरीनाथ शुक्लः 'मार्कण्डेयपुराणः एक अध्ययन' नामक ग्रन्थ, पृष्ठ ५-७, प्रकाशक, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१ ईस्वी तथा श्रीमधुसूदन ओझा रचित – पुराणोत्पत्तिप्रसङ्ग नामक ग्रंथ, पृ० ५-१०, जयपुर, वि० सं० २००८।

व्यपदेशा भवन्ति' न्याय के अनुसार प्रधान विषय की दृष्टि से ही इस निर्देश-क्रम का औचित्य सुसंगत होता है।

हमने अनेक बार कहा है कि पुराण का प्रधान लक्ष्य सर्ग या सृष्टि है—किस प्रकार मूलतत्त्व से सृष्टि हुई, उसका विकाश हुआ, नाना वंशों का उदय हुआ तथा उनमें भी अनेक गौरवशाली व्यक्तियों ने अपने महत्त्वसम्पन्न चरित्र का प्रदर्शन किया तथा अन्त में सृष्टि के मूलतत्त्व में विलीन होने से प्रलय हो गया। यही तो सृष्टि की प्रवहमान धारा है। विश्व का आदि है सर्ग और पर्यवसान है प्रतिसर्ग। इन दोनों छोरों के बीच में मन्वन्तर, वंश तथा वंशानुचरित की धारा प्रवाहित होती हैं। पंचलक्षण का यही स्वारस्य है—यही संगति है। फलतः सृष्टितत्त्व वा प्रतिपादन ही पुराण का मुख्य तात्पर्य या अभिप्राय भलीभाँति माना जा सकता है। इस मुख्यता की दृष्टि से पुराणों के क्रम पर ध्यान देने से उसका औचित्य स्वतः अभिव्यक्त होता है।

फलतः सृष्टि के विषय में प्रथमतः जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इस ब्रह्माण्ड की रचना किसने की ? तैत्तिरीय संहिता (३।१२।९।३) की स्पष्ट उक्ति है—ब्रह्म ब्रह्माभवत् स्वयम् अर्थात् सृष्टि कार्य के लिए ब्रह्म ही ब्रह्मा हुए। फलतः सृष्टि का मूल है वही ब्रह्म और इसी आदि-कर्ता के निर्देश के लिए 'ब्रह्मपुराण'[१] का नाम सबसे प्रथम इस सूची में आता है। ब्रह्मा की उत्पत्ति के विषय में तदनन्तर जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इस का उत्तर 'पद्मपुराण'[२] देता है—अर्थात् ब्रह्म का उदय पद्म से—कमल से—हुआ। तब यह कमल कहाँ था ? 'विष्णुपुराण'[३] के द्वारा प्रतिपाद्य विष्णु की ही नाभि में वह कमल था जहाँ उत्पन्न होकर ब्रह्मा ने घोर तपस्या की और फलरूप नूतन सृष्टि का निर्माण किया। 'वायुपुराण'[४] को शेषशय्या का निरूपण करने वाला बतलाया गया है, जिस पर विष्णु भगवान् शयन करते हैं और जो इसीलिए उनके आधार का काम करता है। शेष भगवान् क्षीरसमुद्र में रहते हैं और इस समुद्र के रहस्य को बतलाने वाला पुराण **श्रीमद्भागवत**[५] है। नारदजी भगवान् विष्णु के सन्तत भजनकर्ता हैं जो अपनी वीणा पर मधुर स्वर से भगवान् के अमृत-नाम का कीर्तन किया करते हैं और इस साहचर्य के कारण भागवत के अनन्तर **नारदपुराण**[६] का क्रम—निर्देश उचित ही है। अब तक सृष्टि के विकाश की एक रेखा खींची गई जिसमें ६ पुराणों के क्रम की संगति दिखलाई गई।

परन्तु सृष्टिचक्र के विषय में प्रश्नों का प्रश्न है कि यह चक्र किसकी प्रेरणा से सन्तत घूमता रहता है। इसके उत्तर में अनेक मत उपन्यस्त हैं। प्रकृति-स्वरूपिणी देवी ही मूल प्रेरिका शक्ति है इस विश्व की—इस मत का प्रतिपादन करता है सप्तम पुराण **मार्कण्डेय**[७]। घट के भीतर प्राण तथा ब्रह्माण्ड के

भीतर अग्निरूप से क्रियाशील होने वाली वस्तु ही मूल प्रेरणा देती हैं—यह भी एक मान्य मत है और इसी का प्रतिपादन करता है अष्टम पुराण **अग्नि पुराण**[८]। अग्नि का तत्त्व सूर्य के ऊपर आधारित है अर्थात् मूलतः सूर्य ही प्रेरक-शक्ति का काम करता है। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषः' के अनुसार सूर्य को जंगम तथा स्थावर सृष्टि की आत्मा होना वेद बतलाता है। इस प्रकार सृष्टि के उत्पादन में सूर्य की महत्ता सर्वातिशायिनी है और इसी सूर्य की महिमा का प्रतिपादक है—नवम **भविष्यपुराण**[९]। मूलतत्त्व के विषय में कई विप्रतिपत्तियाँ दिखलाकर पुराण ने अपने मत को प्रकट किया है अग्रिम **ब्रह्मवैवर्त**[१०] के नाम द्वारा। अर्थात् पुराण मत में ब्रह्म से ही जगत् की सृष्टि होती है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है। विकार तथा विवर्त का पार्थक्य तो सर्वत्र प्रख्यात है। जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है अवश्य। परन्तु वह स्वयं तात्त्विक वस्तु नहीं है—मायिक है और इसीलिए ब्रह्मवैवर्त की संज्ञा से ब्रह्म के मूल कारण होने और विश्व को उसका विवर्त होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन पुराण करता है।

अब विचारणीय प्रश्न है कि यह मूलतत्त्व ब्रह्म जाना कैसे जाय? वह तो निर्गुण ठहरा और तब सगुणरूप में उसकी पहिचान किस प्रकार की जा सकती है? जीव अपने मंगल के निमित्त उसकी उपासना किस प्रकार करे? इन प्रश्नों का उत्तर अवशिष्ट पुराणों के द्वारा दिया गया है। ब्रह्म की शिव तथा विष्णु ही प्रख्यात सगुण अभिव्यक्तियाँ हैं और ये दोनों भी नाना रूपों में प्रकट हुआ करते हैं जिन्हें 'अवतार' की संज्ञा दी जाती है। एकादश पुराण **लिंग**[११] तथा तेरहवाँ **स्कन्दपुराण**[१२] शिव के साथ सम्बन्ध रखते हैं। वाराह,[१३] वामन,[१४] कूर्म[१५] तथा मत्स्य[१६]—ये चारों अवतार भगवान् विष्णु के हैं जो सृष्टितत्त्व से विशेषरूप से सम्बद्ध हैं और जिनके द्वारा वे इस धराधाम पर अवतीर्ण होकर भक्तों के क्लेशों का निवारण करते हैं तथा उन्हें मुक्ति पाने के निमित्त सुगम मार्ग का उपदेश भी देते हैं। श्रीमद्भागवत का इस विषय में स्पष्ट कथन है (५।१९।५):—

> मर्त्यावतारः खलु मर्त्यशिक्षणं
> रक्षो-वधायैव न केवलं विभोः ॥

विभु व्यापक भगवान् का मर्त्यरूप मे अवतार राक्षसों के वध के लिए ही नहीं होता, प्रत्युत मर्त्यों के शिक्षण के लिए होता है। मर्त्यशिक्षण की प्रधान दिशा है भवजंजाल से निवृत्त होकर आनन्दमयी मुक्ति की उपलब्धि। इस अभिप्राय से भगवान् के इतर भी मर्त्यरूप में अवतरण होते हैं जिनकी विशिष्ट चर्चा आगे की जावेगी।[१]

---

१. द्रष्टव्य माधवाचार्य शास्त्रीः पुराणदिग्दर्शन पृ० ७१-७५।

अन्तिम दो पुराणों का सम्बन्ध जीव-जन्तुओं की गतिविधि है। कर्म, ज्ञान तथा उपासना के सम्पादन से जीवन को कौन गतियाँ प्राप्त होती हैं इसका प्रतिपादक है सत्रहवाँ **गरुडपुराण**[१७] जो मरणान्तर स्थिति का विशेष विवरण देता है और इन गतियों के विस्तृत क्षेत्र को बतलाने वाला है अन्तिम **ब्रह्माण्डपुराण**[१८]। अपने कर्मों के फलानुसार जीव इस पूरे ब्रह्माण्ड के भीतर घूमता रहता और सुख-दुःखका अनुभव किया करता है। इस प्रकार सृष्टिविद्या से सम्बद्ध तथा तदुपयोगी ज्ञान कर्म के प्रतिपादन में अष्टादश पुराण की उपयोगिता है। पौराणिक क्रम का यही अभिप्राय है।

(ग) पुराणों के विभाजन

मत्स्यपुराण (५३। ७–६८) के अनुसार पुराणों का त्रिविध विभाजन मान्य है—सात्त्विक, राजस, तामस। सात्त्विक पुराणों में विष्णु का माहात्म्य अधिक रूप से वर्णित है; राजस पुराणों में ब्रह्मा का तथा अग्नि का माहात्म्य अधिकांश वर्णित है। तामस पुराणों में शिव का[१]। इन तीनों से भिन्न एक संकीर्ण भेद भी है जिसमें सरस्वती तथा पितृगणों का माहात्म्य अधिकतर वर्तमान है। पद्मपुराण में सात्त्विक पुराणों की गणना भी निर्दिष्ट है—वैष्णव, नारद, भागवत, गरुड़, पद्म, तथा वाराह। परन्तु ध्यान देने की बात है कि इस विभाजन में अन्य पुराणों के साथ एकमत्य नहीं हैं, आश्चर्य तो तब होता है जब निश्चयरूपेण शिवभक्ति के प्रतिपादक वायुपुराण को गरुड़पुराण सात्त्विक पुराणों के अन्तर्गत रखता है। फलतः इस विभाजन में वैज्ञानिकता की आशा करना दुराशामात्र है। गरुडपुराण[२] एक पग आगे बढ़ कर सात्त्विक पुराणों के भीतर तीन प्रकार का विभाग मानता है— (क) सत्त्वाधम = मत्स्य तथा कूर्म; (ख) सात्त्विकमध्यम—वायु; (ग) सात्त्विक-उत्तम = विष्णु, भागवत तथा गरुड। देवता के प्राधान्य से पुराणों का विभाजन विद्वानों ने

---

१. सात्त्विकेषु पुराणेषु महात्म्यमधिकं हरेः।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः॥ ६७॥
तद्वदग्नेर्माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां च निगद्यते॥ ६८॥

—मत्स्य, अ० ५३।

२. सत्त्वाधमे मात्स्यकौर्मं तदाहुर्वायुं चाहुः सात्त्विकं मध्यमं च।
विष्णोः पुराणं भागवतं पुराणं सत्त्वोत्तमे गारुडं प्राहुरार्याः॥

—गरुडपुराण

किया है। गरुडपुराण के पूर्वोक्त कथन में कूर्म भी सात्त्विक अर्थात् विष्णु-माहात्म्य प्रतिपादक पुराणों के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है, परन्तु इसके प्रकाशित अंश (ब्राह्मी संहिता) में शिव-शिवा के माहात्म्य का ही पूर्णतः प्रकाशन है । महेश्वर ही परमतत्त्व माने गये हैं । शक्ति का भी यहाँ विशिष्ट वर्णन है । श्री कृष्ण भी शिव की स्तुति करते हुए दिखलाये गये हैं। ऐसी दशा में इसे 'सात्त्विक' क्योंकर कहा जा सकता है ? वायु-पुराण का स्वरूप निश्चयेन शिव-माहात्म्य-परक है और इसीलिए यह स्कन्दपुराण में (शैव) नाम से भी अभिहित किया गया है। ऐसी दशा में इसमें पुराणसम्मत सात्त्विकता कहाँ ? फलतः गरुड के पूर्वोक्त विभाजन में हम विशेष श्रद्धा नहीं रख सकते ।

उपाय देवों की विभिन्नता से पुराणों का विभाजन ऊपर किया गया है। स्कन्दपुराण के केदारखण्ड के अनुसार दश पुराणों में शिव, चार में भगवान् ब्रह्मा, दो में देवी और दो में हरि—इस प्रकार विभाजन किया गया है, परन्तु तत् पुराणों के नाम निर्देश न होने से इस विभाजन की वैज्ञानिकता मानी नहीं जा सकती। इसी पुराण के 'शिवरहस्य' नामक खण्ड के अन्तर्गत सम्भव-काण्ड में (२।३०।३८) एक दूसरा ही विभाजन किया गया है जो इस प्रकार है—

(१) शैव = शिव विषयक
शिव, भविष्य, मार्कण्डेय, लिङ्ग, वाराह,
स्कन्द, मत्स्य, कूर्म, वामन तथा ब्रह्माण्ड (१०)।

(२) वैष्णव = विष्णु विषयक
विष्णु, भागवत, नारदीय तथा गरुड　　(४)।

(३) ब्राह्म = ब्रह्मा-विषयक
ब्रह्म तथा पद्म　　(२)।

(४) आग्नेय = अग्नि-विषयक
अग्नि पुराण　　(१)।

(५) सावित्र = सूर्य-विषयक
ब्रह्मवैवर्त　　(१)।

　　　　१८

स्कन्दपुराण के अनुसार प्रतिपाद्य देवानुसारी यह विभाजन वैज्ञानिक रीत्या शोभन नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'पद्मपुराण' तो निश्चयेन भगवान् विष्णु की महिमा का सविशेषभावेन प्रतिपादक है। इसीलिए गौडीय वैष्णवों

के सिद्धान्तों का विकाश, विशेषतः राधा का, इसी पुराण के आधार पर है। यह विभाजन सामान्य रीत्या ही मान्य है।

स्कन्दपुराण का विभाजन दो प्रकार से उपलब्ध होता है—

(क) खंडात्मक विभाजन

(१) माहेश्वर खंड
(२) वैष्णव „
(३) ब्रह्म „
(४) काशी „
(५) अवन्ती „
(६) नागर „
(७) प्रभास „

इस खंडों के अन्तर्गत अनेक अवान्तर खंड भी वर्तमान हैं। श्लोकों की संख्या ८१ सहस्र।

(ख) संहितात्मक विभाजन

(१) सनत्कुमार संहिता	= ५५	हजार	श्लोक
(२) सूत संहिता	= ६	„	„
(३) शाङ्करी „	= ३०	„	„
(४) वैष्णवी „	= ५	„	„
(५) ब्राह्मी „	= ३	„	„
(६) सौरी „	= १	„	„
	= १	लक्ष[1]	

इन संहिताओं के भी अनेक अवान्तर खंड हैं।

पुराण का वर्गीकरण

अष्टादश पुराणों के वर्गीकरण अनेक प्रकार से किये गये हैं। भिन्न भिन्न पुराणों ने इस विषय में विभिन्न दृष्टियाँ अपनाईं हैं। पुराण के पञ्चलक्षण को आधार मानकर प्राचीन जौर प्राचीनोत्तर—ये दो विभाग किये जा सकते हैं। इस कसौटी के अनुसार वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य और विष्णु प्राचीन पुराण मालूम

---

१. यह नाम संहिताओं का तथा उनकी श्लोक संख्या सूतसंहिता (१ अ० श्लो० १९–२४) के आधार पर है जो आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि (ग्रन्थाङ्क २५) में पूना से प्रकाशित है। (१९२४ ई०)। इसके ऊपर माधवाचार्य रचित 'तात्पर्यदीपिका' व्याख्या भी यहीं प्रकाशित है। ध्यातव्य है कि ये माधव सायाणाचार्य के अग्रज माधवाचार्य से नितान्त भिन्न हैं। ये मन्त्री होने के हेतु माधवमन्त्री के नाम से प्रख्यात हैं, परन्तु हैं उनके समकालीन ही— १४ शती का मध्य भाग। विशेष द्रष्टव्य मेरा ग्रन्थ "आचार्य सायण और माधव" (प्रकाशक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

सूतसंहिता शैवदर्शन के सिद्धान्तों की विस्तार से प्रकाशिका है। माधव की यह व्याख्या गम्भीर रहस्यों को सरलतया प्रकट करती है।

पड़ते हैं, क्योंकि इन चारों में पुराण के पाँचों विषय उचित परिमाण में वर्णित हैं। इनसे भिन्न पुराणों को प्राचीनोत्तर वर्ग में अन्तर्भुक्त समझना चाहिए। देवता के विचार से पुराणों का अन्य वर्गीकरण है। पद्मपुराण के अनुसार मत्स्य, कूर्म, लिङ्ग, शिव, स्कन्द, अग्नि—ये छः पुराण तामस हैं। ब्रह्माड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन और ब्राह्म—ये छः राजस पुराण हैं तथा विष्णु, नारद, भागवत, गरुड, पद्म तथा वाराह—ये छः सात्त्विक पुराण माने गये हैं। यह वर्गीकरण विष्णु को सात्त्विक देव मानकर किया गया है। यहाँ तामस, राजस तथा सात्त्विक पुराणों की समान संख्या निर्धारित है।[1] मत्स्यपुराण इससे कुछ विभिन्न बात बतलाता है उसकी दृष्टि में विष्णु के वर्णनापरक पुराण सात्त्विक, ब्रह्मा और अग्नि के प्रतिपादक पुराण राजस, शिव के प्रतिपादक तामस, सरस्वती और पितरों के माहात्म्य को वर्णन करने वाले पुराणों 'संकीर्ण' माने गये हैं।

> **सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः**
> **राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः।**
> **तद्वदग्नेश्च, माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च**
> **संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां च निगद्यते ॥**

—मत्स्य ५३ अ०, ६८–६९ श्लो०

स्कन्द की दृष्टि में दशपुराणों में तो केवल शिवकी स्तुति है; चार में ब्रह्मा की और दो में देवी तथा हरि की है। इस वर्गीकरण में तत्तत् पुराणों का नाम नहीं दिया गया है :—

> **अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः**
> **चतुर्भिर्भगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः ॥**

—स्कन्द, केदारखण्ड १.

---

१. मत्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च।
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे ॥
वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्।
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने ॥
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानिवै ॥
ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे ॥

—पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, २६३।८१-८४

तमिल ग्रन्थों में पुराणों के ये पाँच वर्ग किये गये हैं :—

(१) ब्रह्मा—ब्रह्मपुराण और पद्मपुराण,

(२) सूर्य—ब्रह्मवैवर्त,

(३) अग्नि—अग्नि,

(४) शिव—शिव, स्कन्द, लिङ्ग, कूर्म, वामन, वराह, भविष्य, मत्स्य, मार्कण्डेय तथा ब्रह्माण्ड (=१०),

(५) विष्णु—नारद, श्रीमद्भागवत, गरुड और विष्णु (=४)।

तात्पर्य यह है कि इन सकल वर्गीकरण की विभिन्नता का कारण उनका विभिन्न दृष्टिकोण है। आधुनिक विद्वानों ने पुराणों में वर्णित विषयों का पूर्ण और आलोचनात्मक परीक्षण करने के पश्चात् विषय-विभाग के अनुसार पुराणों के छः वर्ग निर्धारित किये हैं :—

(१) प्रथम वर्ग में साहित्य का विश्वकोष है अर्थात् मानव-समाज के लिए उपयोगी समस्त विद्याओं का—आध्यात्मिक तथा भौतिक विद्याओं का—सार-अंश एकत्र कर दिया गया है। आजकल प्रकाशित होने वाले 'विश्वकोष' के समान इनका संकलन-मूल्य है। इस वर्ग में गरुड़, अग्नि तथा नारदीय पुराण आते हैं जिनमें प्राचीन विद्याओं का संक्षेप बड़े अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

(२) द्वितीय वर्ग में मुख्यतः तीर्थों तथा व्रतों का वर्णन है। इस विभाग में पद्मपुराण, स्कन्द तथा भविष्य की गणना है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के न्याय के अनुसार ही इसे समझना चाहिए। इन विषयों की मुख्यता होने के कारण ही ये तीन पुराण इस वर्ग में आते हैं, अन्यथा सामान्यरूप से ये विषय अन्यत्र भी देखे जा सकते हैं।

(३) तृतीय वर्ग ब्रह्म, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराणों का है। इनके विषय में विद्वानों का मत है कि इनके दो-दो संस्करण हो चुके हैं, जिनमें इनका मूल भाग वही है जो उनका केन्द्रस्थ भाग है। इन दो बार के संस्करणों में आगे-पीछे बहुत कुछ जोड़ा गया है।[1]

(४) चतुर्थ वर्ग में ऐतिहासिक पुराणों की गणना है—'ऐतिहासिक पुराण' से तात्पर्य उस पुराण से है जिसमें कलियुग के राजाओं का

---

१. श्रीमद्भागवत के इस द्विविध संस्करण के विषय में लेखक को महान् सन्देह है। भागवत इतना सुव्यवस्थित पुराण है परस्पर में अन्तर्योग से समन्वित, कि उसके दो संस्करण होने की बात समझ में नहीं जाती। प्रचलित मत का आश्रय लेकर ही पूर्वोक्त कथन है।

वर्णन विशेषरूप से, इतिहास की दृष्टि को लक्ष्य में रख कर, किया गया है। ऐसे वर्ग में वायु तथा ब्रह्माण्डपुराण का समावेश है। यहाँ ध्यान रखने की बात है कि इन दोनों पुराणों में पारस्परिक साम्य वर्णन का ही नहीं, प्रत्युत अध्यायों का भी इतना अधिक है कि डा० किर्फेल ने इन दोनों को एक ही मूल पुराण से विनिःसृत बतलाया है। दोनों में अध्याय के अध्याय ज्यों के त्यों आये हुए हैं। इसीलिए किर्फेल का कहना है कि किसी प्राचीन युग में दोनों एक ही पुराण में अन्तर्निविष्ट थे।[1] पीछे ये पृथक् कर दिये गये। यह घटना बाणभट्ट से पूर्व अर्थात् सप्तम शती से पहिले ही हो चुकी थी जब उन्होंने वायुपुराण के प्रवचन का स्पष्ट उल्लेख किया है।

(५) पञ्चम वर्ग में साम्प्रदायिक पुराणों का अन्तर्भाव है। इसमें लिंग, वामन तथा मार्कण्डेयपुराण आते हैं।

(६) षष्ठ सर्ग में वाराह, कूर्म तथा मत्स्यपुराण की गणना है जिनमें पाठों का अत्यधिक संशोधन होने से मूल पाठ रह ही नहीं गया है।[2]

यह वर्गीकरण सामान्य रीति से ही समझना चाहिए। पुराणों का वर्गीकरण न यथार्थतः सर्वमान्य रूप से है, और न हो ही सकता है। भिन्नरुचिर्हि लोकः।

(घ) शिवपुराण तथा वायुपुराण का स्वरूपनिर्णय

विभिन्न पुराणों में निर्दिष्ट पुराणसूची में चतुर्थ पुराण के रूप में किस पुराण की गणना मान्य की जाय, इस विषय में ऐकमत्य नहीं है। यह वस्तुतः मतभेद का एक गंभीर विषय है। पुराणों की बहुल संख्या 'शिवपुराण' को चतुर्थ पुराण मानने के पक्ष में है, अल्पीयसी संख्या 'वायुपुराण' को वह आदरणीय स्थान देने पर आग्रह रखती है। नामनिर्देशपूर्वक यदि स्पष्टतः कहना पड़े, तो कहना होगा कि कूर्म, पद्म, ब्रह्मवैवर्त, भागवत; मार्कण्डेय, लिंग, बराह तथा विष्णु 'शिवपुराण' के पक्ष में अपनी संमति देते हैं। जब कि देवीभागवत, नारद तथा मत्स्य 'वायुपुराण' के पक्ष में अपना मत देते हैं, इस प्रकार विभिन्न आठ पुराणों के द्वारा निर्दिष्ट होने से 'शिवपुराण' को ही चतुर्थ महापुराण होने का श्रेय प्राप्त है, परंतु

---

१. जर्मन विद्वान् डा० किर्फेल ने अपने मत का विशद प्रतिपादन 'पुराण पञ्चलक्षण' ग्रन्थ की जर्मन-भाषा-निबद्ध भूमिका में किया है जिसका अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है तिरुपति से प्रकाशित जर्नल आव वेंकटेश्वर इन्स्टिट्यूट की पत्रिका (भाग ७ और ८) में।

२. देखिए डा० पुलासकर का एतद्विषयक लेख—कल्याण का संस्कृति अंक (१९५०) पृ० ५५२–५५३।

ऐसे विषयों में बहुमत का कोई मूल्य तथा महत्व नहीं माना जा सकता। प्रामाणिकता का निर्णय बहुमत की कसौटी से करना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।

१ दोनों पुराणों का वर्तमान स्वरूप

इस समय शिवपुराण तथा वायुपुराण के नाम से दो विभिन्न ग्रंथ प्रचलित हैं जो आकार प्रकार में, वर्ण्यविषय के संकेत में नितांत भिन्नता रखते हैं। शिवपुराण बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस से छपकर प्रकाशित है (सं० १९८२, शाके १८५७) तथा पंडित पुस्तकालय, काशी से अभी निकला है। वायुपुराण बिब्लिओथेका इण्डिका (कलकत्ता, १८८०-८९ ई०) में, आनन्द संस्कृत ग्रन्थावलि (पूना, १९०५ ई०) में तथा गुरुमंडल ग्रंथमाला (कलकत्ता, वि० सं० २०१६, ई० सन् १९५९; उन्नीसवाँ पुष्प) में प्रकाशित हुआ है। इन तीनों संस्करणों में पाठ प्रायः एक समान ही है। शिवपुराण की खंडभूता संहिताओं की संख्या का निर्णय एक विषम समस्या है। इस समस्या की जटिलता का अनुमान इस घटना से किंचिन्मात्र लग सकता है, जब हम दो प्रकार की संहिताओं का निर्देश वर्तमान शिवपुराण में दो स्थानों पर प्रायः एक ही रूप में पाते हैं। शिवपुराण की विद्येश्वर संहिता (अध्याय २। ४९-५५) में तथा वायवीय संहिता के पूर्वार्ध में (प्रथम अध्याय, श्लोक ५०-५२) बारह संहिताओं तथा उनकी श्लोकसंख्या का निर्देश प्रायः एक ही आकार-प्रकार से उपलब्ध होता है। इन संहिताओं के नाम ये हैं—विद्येश्वर, रौद्र, विनायक, औम, मातृ, रुद्रैकादश, कैलास, शतरुद्र, कोटिरुद्र, सहस्रकोटि, वायुप्रोक्त संहिता तथा धर्मसंहिता।[1]

इनकी श्लोक संख्या एक लाख बताई जाती है। इन लक्षश्लोकात्मक द्वादश संहिताओं से सम्पन्न शिवपुराण का अस्तित्व हस्तलेखों के रूप में भी नहीं सुना जाता, इसके प्रकाशित होने की तो बात ही न्यारी है। श्लोकों की यह महती संख्या भी आलोचकों की शंका का एक प्रधान कारण है। इस संख्या के सम्मिलित होने पर तो चतुर्लक्षात्मक पुराणों की संख्या में विशेष वृद्धि का प्रसङ्ग उपस्थित होता है जो कथमपि न्याय्य तथा निर्दुष्ट नहीं माना जा सकता। तथ्य यही प्रतीत होता है कि शिवपुराण की मूलभूता चतुर्विंशति साहस्री सप्तसंहिताओं के स्थान पर ही यह चतुर्गुणित संख्यावाली द्वादश संहिताएं केवल पुराण के विशिष्ट गौरव तथा सर्वमान्य माहात्म्य को प्रकट करने के लिये ही कल्पित की गई हैं। क्योंकि पुराणों में सबसे बड़ा पुराण है स्कंदपुराण, परंतु उसके भी श्लोकों की संख्या इक्यासी हजार तक सीमित है। फलतः लक्ष्यश्लोकी महाभारत से

---

१ द्रष्टव्य परिशिष्ट १।

तुलना तथा समान सम्मान से सम्पन्न होने की भव्य भावना ही 'शिवपुराण' के इस विराट रूप का कारण मानी जा सकती है। उपलब्ध शिवपुराण की सातों संहिताओं का निर्देश इस प्रकार है — १–**विद्येश्वर** संहिता (२५ अध्याय), २—**रुद्र** संहिता (१९७ अध्याय) [जिसमें पांच खंड हैं (क) सृष्टि (२० अ०), (ख) सती खण्ड (४३ अ०), (ग) पार्वती खंड (५५ अ०), (घ) कुमार खंड (२०अ०) तथा (ङ) युद्ध खंड (५९ अ०)], ३—**शतरुद्र** संहिता (४२ अ०), ४—**कोटिरुद्र** संहिता (४३ अ०), ४—**उमा** संहिता (५१ अ०), ६—**कैलास** संहिता (२३ अ०) तथा ७–**वायवीय** संहिता (पूर्व भाग ३५ अ० तथा उत्तर भाग ४१)। इन संहिताओं में अन्तिम संहिता वायुप्रोक्त होने से **वायवीय** नाम से अभिहित की जाती है तथा इसके दो भाग हैं जिनके अध्यायों की संख्या का निर्देश ऊपर किया गया है। इस प्रकार समग्र शिवपुराण में ४५७ अध्याय हैं, परंतु वायवीय संहिता में केवल ७६ अध्याय तथा चार सहस्र श्लोक हैं।

वायुपुराण पुराण-साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है— पुराणीय पंचलक्षण की सम्पत्ति में तथा रचना की प्राचीनता में तथा शैली की विशुद्धता में। पुराणीय पंचलक्षणीय का उचित सन्निवेश लघुकाय होने पर भी वायुपुराण का एक आकर्षक वैशिष्ट्य है। इसमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वंतर तथा वंशानुचरित—ये पांचों विषय दीर्घ या ह्रस्व मात्रा में उपलब्ध होते हैं। उपलब्ध वायुपुराण में ११२ अध्याय मिलते हैं, परन्तु ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से स्पष्ट पता चलता है कि अन्त के नौ अध्याय (१०४–११२) वैष्णव मत की पुष्टि के लिये किसी वैष्णव लेखक ने पीछे से जोड़े हैं। इस पुराण का अन्तिम अध्याय बिना किसी संदेह के १०३रा अध्याय ही है, क्योंकि इसके अन्त में पुराण के अवतार की गुरुपरंपरा प्रामाणिक रूप से निबद्ध की गई है (श्लोक ५८–६६) तथा आगे के श्लोकों में फलश्रुति और महेश्वर की स्तुति की गई है जो वायुपुराण के शैवतत्त्वप्रतिपादक होने का स्पष्ट संकेत है। अध्याय १०४ में महर्षि व्यास द्वारा परमतत्व के वर्णन तथा साक्षात्कार का विवरण है और वह परमतत्त्व **राधासंवलित श्रीकृष्ण** ही माने गए हैं। यहां आनंदकंद श्री कृष्णचंद्र का वर्णन[1] बड़ी ही सरस भाषा तथा रसमयी शैली में निबद्ध होकर रससंपन्न गीतिकाव्य का चमत्कार उपस्थित कर रहा है। इस वर्णन में राधा का नामोल्लेख, जो श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण जैसे विशुद्ध विष्णुभक्तिप्रधान पुराणों में भी नहीं किया गया है, वायु के इस अध्याय को इन पुराणों की रचना से अवान्तरकालीन सिद्ध कर रहा है। वायुपुराण के अन्तिम आठ अध्याय (१०५–

१. द्रष्टव्य परिशिष्ट २।

११२) गयामाहात्म्य के विशद प्रतिपादक हैं। गया के तीर्थदेवता 'गदाधर' नाम्ना प्रख्यात विष्णु ही हैं जिनकी यह अनुप्रासमयी स्तुति इसके साहित्यिक स्वरूप की परिचायिका है —

गदाधरं व्यपगत कालकल्मषं
गयागतं विदितगुणं गुणातिगम्।
गुहागतं गिरिवर-गौर-गेहगं
गणार्चितं वरदमहं नमामि ॥

अ० १०९, श्लोक २७।

इस प्रकार अध्याय १०४—११२ भगवान् विष्णु की स्तुति तथा महत्ता के प्रतिपादक हैं और इन्हें निश्चयरूप से वैष्णवमत की संवर्धना के निमित्त किसी लेखक ने इस प्राधान्यतः शिवमाहात्म्यप्रतिपादक पुराण में पीछे से जोड़ दिए हैं। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में पुराणस्थ विषयों की अनुक्रमणी में भी 'गयामाहात्म्य' का निर्देश न होना निश्चय ही इसे प्रक्षिप्त सिद्ध कर रहा है।

वायुपुराण चार भागों में विभक्त है - १. प्रक्रियापाद (अ० १—६), २. उपोद्घातपाद (अ० ७—६४), (३) अनुषंगपाद (अ० ६५—९९), (४) उपसंहारपाद (अ० १००—११२) भागचतुष्टय की यह कल्पना बड़ी प्राचीन है। इन भागों की तुलना वेदचतुष्टय तथा कालचतुष्टय से की गई है तथा समग्र पुराण की संख्या द्वादश सहस्र निश्चित रूप से दी गई है (३२।६६) जो उपलब्ध पुराण की श्लोकसंख्या से बहुत अधिक नहीं है। प्रचलित वायुपुराण की श्लोकसंख्या दस सहस्र नौ सौ इक्यानवे (१०,९९१) है। प्रतीत होता है कि इस पुराण के कुछ अंश छिन्न-भिन्न तथा त्रुटित हो गए हैं। इतना तो निश्चित ही है कि आजकल का उपलब्ध यह पुराण प्राचीन वायुपुराण से विशेष भिन्न नहीं है।

मूल श्लोकों की संख्या का प्रतिपादक पुराणस्थ वचन ध्यान देने योग्य है—

एवं द्वादश साहस्रं पुराणं कवयो विदुः। ६६
यथा वेदश्चतुष्पादश्चतुष्पादं तथा युगम्
यथा युगं चतुष्पादं विधात्रा विहितं स्वयम्
चतुष्पादं पुराणं तु ब्रह्मणा विहितं पुरा ॥ ६७ ॥

—वायुपुराण, द्वात्रिंश अध्याय।

२. चतुर्थ पुराण का लक्षण

शिवपुराण तथा वायुपुराण में किसे महापुराण माना जाय ? यह समस्या गंभीर है। इसका समाधान यहाँ प्रस्तुत किया गया है। पुराणों की संख्या अठा-

रह है; यह तो पौराणिकों का निश्चित तथा प्रामाणिक संप्रदाय है। इससे विरुद्ध होने के कारण डा० फ़रकूहर का पुराणों की संख्या बीस मानने का आग्रह कथमपि समुचित नहीं है।[1] उन्होंने शिव तथा वायु के अतिरिक्त 'हरिवंश' को पुराणों के भीतर अंतर्भुक्त कर पुराणसंख्या बीस मानी है। इस मत के लिये कोई भी आधार नहीं है—न संप्रदाय का और न किसी ग्रन्थ का ही। कूर्मपुराण का वायु तथा शिवपुराण दोनों को एक साथ अष्टादश पुराणों के अंतर्गत मानना कथमपि समुचित नहीं है, क्योंकि यह सूची 'अग्निपुराण' को महापुराण से बाहर फेंक देती है, जो सब प्रकार से पुराणों के अन्तर्गत निश्चित रूप से माना गया है। फलतः वायुपुराण और शिवपुराण—इन दोनों में से किसी एक को तो महापुराणों की सूची से हटाना ही पड़ेगा। परन्तु किसको ? इसी का समाधान करने का यह प्रयास है।

सबसे प्रथम चतुर्थ पुराण के समस्त लक्षणों को एकत्र करना चाहिए कि ये लक्षण दोनों पुराणों में से किसके साथ सुसंगत घटित होते हैं। पुराणों के अनुक्रमणी भाग में ये लक्षण दिए गए हैं, परन्तु इस भाग पर विशेष आस्था रखना भी न्याय्य नहीं, क्योंकि ये अर्वाचीन काल की रचना है- संभवतः एकादश शताब्दी की। नारदीयपुराण (पूर्वार्ध ९५ अ०), रेवामाहात्म्य तथा मत्स्यपुराण (५३ अ०) में चतुर्थ पुराण के लक्षण दिए गए हैं। नारदीयपुराण[2] (१।९५-१ १६ श्लोक) के अनुसार वायवीयपुराण रुद्र का प्रतिपादक चौबीस सहस्र श्लोकों से संपन्न, श्वेतकल्प के प्रसंग से वायु द्वारा प्रतिपादित है। इसके दो भाग हैं—पूर्व भाग में सर्गादि मन्वंतरों के राजवंश, गयासुर का विस्तार से हनन, माघ मास का माहात्म्य, व्रत, दानधर्म, राजधर्म आदि विषयों का विवरण दिया गया है। उत्तर भाग में नर्मदा का वर्णन तथा शिव का माहात्म्य प्रतिपादित है। रेवामाहात्म्य[3] के अनुसार पूर्व भाग में शिव की महिमा तथा उत्तरार्ध में रेवा (नर्मदा) का माहात्म्य वर्णित है। मत्स्यपुराण तथा वायवीय संहिता[4] का संक्षिप्त वर्णन बतलाता है कि वायु ने श्वेतकल्प के प्रसंग से रुद्र की महिमा चौबीस हजार श्लोकों में प्रतिपादित की है। इन लक्षणों को समन्वित करने से इस चतुर्थ पुराण के वैशिष्ट्य का परिचय निश्चयेन मिलता है। यह वायु के द्वारा प्रोक्त श्वेतकल्प के प्रसंग में रुद्र की महिमा का प्रतिपादक पुराण है जिसमें दोनों खंडों की श्लोकसंख्या मिलाकर २४ हजार है। नारदीयपुराण की अनुक्रमणी अन्य की अपेक्षा कुछ विस्तृत है। उसके अनुसार पूर्वार्ध में गयासुर के वर्णन का तथा उत्तरार्ध में नर्मदा के माहात्म्य का

१. आउट लाइन आव् रिलिजस लिटरेचर आव् इंडिया, पृ० १३९।

२-५. द्रष्टव्य परिशिष्ट ३, ४, ५ तथा ६।

वर्णन है। तथा दान, धर्म आदि अन्य विषयों का भी यहाँ संकेत है। अब देखना है कि इन लक्षणों का समन्वय किस पुराण में किया जा सकता है—शिवपुराण में अथवा वायुपुराण में ?

३. शिवपुराण में लक्षणसंगति

प्रथमतः शिवपुराण में इस लक्षण का समन्वय संघटित नहीं होता। शिवपुराण के अन्तर्गत अन्तिम 'वायवीय संहिता' का ही प्रवचन वायु के द्वारा निर्दिष्ट है, समस्त पुराण का नहीं। उसी के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध नाम से दो खंड अवश्य विद्यमान हैं, परंतु श्लोकों की संख्या केवल चार सहस्र है। शिव के माहात्म्य का वर्णन तथा शैवदर्शन के सिद्धान्तों का बहुशः प्रतिपादन अवश्य उपलब्ध है, परंतु उसके पूर्वार्ध में न तो गयासुर के वध का प्रसंग है और न उत्तरार्ध में रेवा (नर्मदा) के माहात्म्य का ही कहीं संकेत है। समग्र शिवपुराण के श्लोकों की संख्या चौबीस हजार से कहीं अधिक है। ऐसी दशा में शिवपुराण को चतुर्थ पुराण होने का गौरव कथमपि प्रदान नहीं किया जा सकता। शिवपुराण को महापुराण माननेवाले श्रीधर स्वामी भागवत की टीका (१।१।४) में 'वायवीय' से उद्धृत इस श्लोक की शिवपुराण में सत्ता पर भी अपना पक्ष आधारित करते हैं—

तथा च वायवीये

एतन्मनोरमं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते।
यत्रास्य शीर्यते नेमिः स देशस्तपसः शुभः॥

यह श्लोक शिवपुराण की वायवीय संहिता (१।२।८८) में उपलब्ध होता है। इस उपलब्धि से हम इतना ही अनुमान लगा सकते हैं कि श्रीधर स्वामी के समय (१३वीं शती) में शिवपुराण ने 'वायुपुराण' को इतना दबा रखा था कि 'वायवीय संहिता' के द्वारा सामान्यजन 'वायुपुराण' का अर्थ समझने लग गए थे। निबन्धकारों का साक्ष्य इसके विपरीत है। वे लोग शिवपुराण की अपेक्षा वायुपुराण से ही प्रमाण के लिये श्लोक उद्धृत करते हैं।[१] श्रीधर स्वामी के द्वारा उद्धृत श्लोक उपलब्ध वायुपुराण में भी कुछ भिन्न रूप में उपलब्ध होता है।[२] इससे पता चलता है कि श्रीधर स्वामी के सामने वायुपुराण का कोई भिन्न ही पाठ वर्तमान था। यदि शिवपुराण को महापुराण की गणना में निविष्ट माना

---

८. हाजरा : पौराणिक रेकार्ड्स आन हिंदू राइट्स ऐन्ड कस्टम्स, पृ० १४।

९. भ्रमतो धर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यत।
कर्मणा तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम्॥
—वायुपुराण (आनंदाश्रम) २।८।

जाय, तो उसकी परम्परागत एक लक्ष श्लोकों के योग से तो पुराणों की श्लोक-संख्या चार लाख से बहुत ही बढ़ जायगी। यदि समग्र 'शिवपुराण' को इस गणना में न रखकर केवल 'वायवीय संहिता' को ही अन्तर्भुक्त मानें, तो विशेष विप्रतिपत्ति है उसके श्लोकों की संख्या की। अनुक्रमणीनिर्दिष्ट २४ सहस्र श्लोकों के विरोध में यहाँ तो केवल ४ हजार ही श्लोक मिलते हैं। ऐसी दशा में शिव-पुराण में महापुराण की संगति कथमपि नहीं बैठती।

४. वायुपुराण में लक्षणसंगति

अब इस लक्षण की संगति उपलब्ध वायुपुराण से मिलाने से इसके अनेक अंश—सर्वांश भले ही नहीं—निश्चित रूप से मिलते हैं। इसके वक्ता वायु हैं तथा रुद्र-शिव की महिमा का विशद तथा व्यापक प्रतिपादन यहाँ किया गया है। आज इसमें चार खंड (पाद) अवश्य उपलब्ध होते हैं, परन्तु हस्तलेखों की समीक्षा बतलाती है कि प्राचीन काल में कभी इसके दो ही खण्ड थे—पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। अड्यार से उपलब्ध एक हस्तलेख में यही विभाजन है।[1] यही विभाजन अनुक्रमणी में निर्दिष्ट किया गया है। रहा वायुपुराण की श्लोकसंख्या का समन्वय। ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से तथा हस्तलेखों के प्रामाण्य पर वायु-पुराण का उल्लेख 'द्वादशसाहस्री संहिता' के नाम से किया गया है। इसमें मूलतः १२ हजार ही श्लोक थे और इससे सम्बद्ध अनेक स्वतन्त्र माहात्म्यग्रन्थों का उदय कालान्तर में होता गया जिससे अनुक्रमणीरचना से पूर्व उसमें २४ हजार श्लोकों की मान्यता सिद्ध हुई। डाक्टर पुसालकर का कहना है कि इण्डिया के कैटेलाग (हस्तलेख सं० ३५९९) में वायुपुराण के अन्तर्गत किसी लक्ष्मी संहिता का उल्लेख है[2] जिससे इस पुराण से सम्बद्ध अन्य संहिताओं के अस्तित्व की कल्पना न्याय्य प्रतीत होती है। ये संहिताएँ जो मूल वायुपुराण की कभी अंशभूता थीं, आज उससे हटकर पृथक् रूप से उपलब्ध होती हैं। इसलिये वायुपुराण के श्लोकों की संख्या की गणना अनुचित नहीं प्रतीत होती। वाराहकल्प से सम्बद्ध होने पर भी श्वेतकल्प की घटनाओं का भी उल्लेख गौण रूप से वायुपुराण में पाया जाता है। इस प्रकार वायुपराण में चतुर्थ पुराण के सब लक्षण तो पूर्णतया संगत नहीं होते, परन्तु अधिकांश की संगति बैठती है।

---

१. हस्तलेख की पुष्पिका—इति श्री महापुराण वायुप्रोक्ते द्वादश साहस्र्यां संहितायां ब्रह्मांडावर्तं समाप्तम्। समाप्तम् वायुपुराण पूर्वार्धम्। अतः परं रेवामाहात्म्यं भविष्यति॥

२. डा० पुसालकर—स्टडीज इन दि एपिक्स ऐन्ड पुराणज, पृ० ३४ (बम्बई, १९५५)।

गयामाहात्म्य प्रथमार्ध में उल्लिखित किया गया है, परन्तु आज यह ग्रन्थ के विलकुल अन्त में ही मिलता है (अध्याय १०५ से लेकर ११२ तक)। मेरी दृष्टि में यह माहात्म्य मूल ग्रन्थ में पीछे से जोड़ा गया अंश है, परन्तु अनुक्रमणी की रचना से पूर्व ही यह वहाँ विद्यमान था। ऊपर मैंने दिखलाया है कि किस प्रकार उपलब्ध वायुपुराण का नैसर्गिक पर्यवसान १०३ अध्याय में ही है और उसके बाद वाला अंश पीछे जोड़ा गया है। फलतः शिवपुराण में की अपेक्षा वायुपुराण में पूर्वनिर्दिष्ट लक्षण अधिकता से उपलब्ध होते हैं।

५. वायुपुराण का रचनाकाल

इतना ही नहीं, वायुपुराण की रचना, उल्लेख, विषयसंगति आदि का विवेचन ऐसे स्वतन्त्र प्रमाण हैं जिनके द्वारा इसके महापुराण होने के तथ्य की पर्याप्तरूपेण पुष्टि होती है। वायुपुराण निश्चितरूपेण प्राचीन, तान्त्रिक प्रभाव से विरहित तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता से नितान्त विवर्जित पुराण है, जब कि शिवपुराण अर्वाचीन, तान्त्रिकता से मंडित तथा रौद्री साम्प्रदायिकता से समग्रतया संपुटित एक उपपुराण की कोटि का ग्रन्थ है। इस तथ्य की संपुष्टि दोनों पुराणों के यथाविधि समय-निर्देश के पोषक प्रमाण से की जा सकती है। षष्ठ तथा सप्तम शतक में वायुपुराण की लोकप्रियता का पर्याप्त परिचय हमें उपलब्ध होता है शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र पर भाष्य द्वारा तथा बाणभट्ट के दोनों ग्रन्थों द्वारा। शंकराचार्य ने पुराण का न तो नामनिर्देश किया है और न पुराण का सामान्य उल्लेख ही किया है। वे पुराणस्थ वचनों की 'स्मृतिवचन' मानते हैं, परन्तु ये किसी भी स्मृति में उपलब्ध न होकर 'पुराण' में ही उपलब्ध होते हैं— विशेषतः 'वायुपुराण' में। उदाहरणार्थ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (१।३।२८) में 'नामरूपे च भूतानां' पद्य स्मृतिवचन रूप से उद्धृत है। यह वायुपुराण के ९वें अध्याय का ६३ वां श्लोक है। इसी प्रकार भाष्य (१।३।३०) में दो पद्य उद्धृत किए गए हैं स्मृतिवचन के रूप में—

> तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे
> तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः।
> हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते
> तद् भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत् तस्य रोचते॥

ये दोनों वायुपुराण में अष्टम अध्याय के ३२ तथा ३३ संख्यक पद्य हैं। ये अगले अध्याय में पुनः उद्धृत किए गए हैं (९ अ०, ५७ तथा ५८ श्लोक)। इसी भाष्य के अन्त में स्मृतिवचन के रूप से तीन पद्य उद्धृत किए गए हैं—

स्मृतिरपि—

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवास्य ददाति सः।
यथर्तुष्वृतु-लिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये
दृश्यन्ते तानि तान्येव यथा भावा युगादिषु॥
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह
देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥

इन तीनों श्लोकों में से आदि के दोनों श्लोक वायुपुराण में (९ अ०, ६४ तथा ६५ श्लोक) उपलब्ध होते हैं। इन उद्धृत श्लोकों के स्थान का निर्देश आचार्य शंकर ने नहीं दिया है। परंतु मेरी दृष्टि में ये श्लोक वायुपुराण से ही उद्धृत किए गए हैं। इसका मुख्य कारण इस पुराण की उस युग में—सप्तम शती में—लोकप्रियता है; क्योंकि शंकराचार्य से पूर्ववर्ती प्रख्यात गद्यकाव्यनिर्माता बाणभट्ट ने अपने दोनों ग्रंथों में **वायुपुराण** का निःसंदिग्ध उल्लेख किया है। कादंबरी के पूर्वभाग में जाबालि आश्रम के वर्णनप्रसंग में बाणभट्ट की एक विख्यात परिसंख्यामयी उक्ति है—**पुराणे वायु-प्रलपितम्** (अर्थात् वायुजन्य प्रलपन पुराण में था। अन्यत्र कहीं भी वायुजन्य प्रलाप—वायु के प्रभाव में बकझक करना—नहीं था) यह निःसंदेह 'वायुपुराण' के अस्तित्व का परिचायक है। इतना ही नहीं, उस युग में वायुपुराण का प्रवचन भी एक सामान्य वस्तु था।[१] हर्षचरित (तृतीय परि०) में बाणभट्ट का उनके मित्र पुस्तकवाचक सुदृष्टि ने गीतवाद्य के द्वारा मनोरंजन किया जिसमें पवमान (वायु) प्रोक्त पुराण का पठन भी संमिलित था। यह पुराण व्यासमुनि के द्वारा गीत, अत्यंत विस्तृत, संसार भर में व्यापक तथा प्रभावशाली, पवन के द्वारा प्रोक्त था और इस प्रकार 'हर्षचरित' से अभिन्न था। ध्यातव्य है कि इस आर्या में पुराण के लिये प्रयुक्त विशेषण श्लेष के माहात्म्य से 'हर्षचरित' की विशिष्टता के प्रतिपादक हैं। यह वर्णन वायुपुराण की लोकप्रियता का निःसंदिग्ध प्रमाण है। फलतः वायुपुराण सप्तम शती से निःसंदेह प्राचीनतर है।

---

१२. पुस्तकवाचकः सुदृष्टिः गीत्या पवमान-प्रोक्तं पुराणं पपाठ।
तदपि मुनिगीतमतिपृथु तदपि जगद्व्यापि पावनं तदपि
हर्षचरितादभिन्नं प्रतिभाति हि पुराणमिदम्॥

इस आर्या में 'पावन' (पवित्र तथा पवनसंबंधी अर्थ का द्योतक) एक विशिष्ट श्लिष्ट पद है।

महाभारत में वायुप्रोक्त, ऋषियों द्वारा संस्तुत-प्रशंसित पुराण का स्पष्ट निर्देश है जिसमें अतीत (भूत) तथा अनागत (भविष्य) से संबद्ध चरितों का वर्णन किया गया है—

एतत्ते सर्वमाख्यातमतीनागतं मया।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषि-संस्तुतम् ॥

— महाभारत वनपर्व १९१। १६।

इस पद्य में 'अतीतानागत' पद से तात्पर्य उन राजवंशावलियों से है जो कलिपूर्व में तथा भविष्य में होनेवाली हैं। उपलब्ध वायुपुराण में यह वंशावली केवल मिलती ही नहीं, प्रत्युत अन्य पुराणों की वंशावलियों से यह सर्वथा प्राचीनतम भी स्वीकृत की जाती है। 'शिवपुराण' में ऐसी वंशावली का नितांत अभाव है। फलतः महाभारत के उक्त श्लोक के प्रमाण पर शिवपुराण तो कथमपि चतुर्थ महापुराण का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता।

पुराण के लक्षण की दृष्टि से भी वायुपुराण एक नितांत संपन्न तथा पुष्ट पुराण है जिसमें पुराण के पाँचों लक्षणों की सत्ता विद्यमान है। इस पुराण के भिन्न-भिन्न अध्यायों में सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वंतर, वंश तथा वंशानुचरित विद्यमान हैं, परन्तु शिवपुराण में अधिक से अधिक सर्ग ही जहाँ-तहाँ मिलते हैं। राजाओं तथा ऋषियों के विषय में प्राचीन अनुवंश श्लोक तथा गाथाएँ वायुपुराण में स्थान-स्थान पर उपलब्ध होती हैं, परंतु शिवपुराण में नहीं। यह भी वायुपुराण की प्राचीनता का निःसंदिग्ध प्रमाण है। शिवपुराण एक भारी भरकम पुराण है जिसमें शिव से संबंध रखनेवाली नाना कथाओं, चरित्रों, पूजापद्धतियों, दीक्षा–अनुष्ठानों का बड़ा ही विशाल वर्णन है। इस पुराण की द्वितीय रुद्र संहिता के अवांतर सतीखंड में दक्षकन्या सती के चरित्र का व्यापक विवरण ४३ अध्यायों में दिया गया है जिसमें एक अध्याय में सीता का रूप धारण कर सती द्वारा जंगल में इतस्ततः भ्रमण करनेवाले जानकीवियुक्त रामचंद्र की परीक्षा लेने का प्रसंग है जिसका ग्रहण तुलसीदास ने रामचरितमानस के बालकांड में बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। इसी प्रकार पार्वतीखंड में पार्वती के जन्म तथा तपश्चरण का विवरण पर्याप्त विस्तार से दिया गया है। वायवीय संहिता में शैवतंत्र से सबद्ध उपासनापद्धति का ही विशद विवेचन नहीं है, प्रत्युत शैवदर्शन के सिद्धांतों का भी विवरण तांत्रिकता की पूरी छाप बतला रहा है। 'शिवपुराण' का यह रूप अनुक्रमणिका द्वारा प्रतिपादित वायुप्रोक्त पुराण के स्वरूपसे एकदम भिन्न है, नितांत पृथक् है। गया तथा रेवा के माहात्म्यपरक अंश भी एकदम अनुपस्थित हैं। इतना ही नहीं, इसका आविर्भावकाल भी वायुपुराण के पूर्वोक्त काल की अपेक्षा नितांत अर्वाचीन तथा अवांतरकालीन है।

६. शिवपुराण की अर्वाचीनता

शिवपुराण के काल का निर्णय वहिरंग तथा अंतरंग उभय साक्ष्य के आधार पर पर्याप्तरूपेण किया जा सकता है। तमिल देश में शिवपुराण प्राचीनकाल से लोकप्रिय है। इसका पूरा प्राचीन अनुवाद तमिल भाषा में तो आज उपलब्ध नहीं है, परतु इसके तीन विशिष्ट आख्यानों का अनुवाद हस्तलिखित रूप में मिलता है जिनमें शरभपुराण (जिसमें शिव के शरभ रूप धारण करने की कथा का वर्णन है,), उपलब्ध शिवपुराण (वेंकटेश्वर द्वारा प्रकाशित) की तृतीय (शतरुद्रिय) संहिता के १० से लेकर १२ वें अध्याय तक मिलता है तथा दधीचिपुराण शिवपुराण की द्वितीय (रुद्र) संहिता के द्वितीय खंड के ३८-३९ अध्यायों में मिलता है। इस तमिल अनुवाद के रचयिता तिरुमल्लैनाथ माने जाते हैं जिनका आविर्भाव काल १८वीं शती है।[1] अलवरूनी के भारत-वर्णन ग्रन्थ में शिवपुराण का नामोल्लेख पुराणों की सूची में निश्चित रूप से उपलब्ध होता है। इन्होंने पुराणों के नाम तथा विस्तार की दो सूचियां अपने पूर्वोक्त ग्रंथ में दी हैं—एक सूची में वायुपुराण का तथा दूसरी सूची में उसी स्थान पर शिवपुराण का नामनिर्देश इस तथ्य का प्रमाण है कि शिवपुराण की रचना १०३० ईस्वी से पूर्व ही संपन्न हो चुकी थी जब इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया। यह तो हुआ वहिरंग साक्ष्य। शिवपुराण की अंतरंग परीक्षा से भी इस पुराण का कालनिर्णय सुशक्य है। कैलास संहिता के १६-१७ वें अध्याय में प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों का विशद प्रतिपादन किया गया है जिसमें 'शिवसूत्र' के दो सूत्रों का तथा तत्संबद्ध 'वार्तिक' का सुस्पष्ट निर्देश तथा उद्धरण है—

> चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम् ॥ ४४ ॥
> चैतन्यमिति विश्वस्य सर्वज्ञान-क्रियात्मकम्।
> स्वातंत्र्यं तत्स्वभावो यः स आत्मा परिकीर्तितः ॥ ४५ ॥
> इत्यादि शिवसूत्राणां वार्तिकं कथितं मया।
> ज्ञानं बन्ध इतीदं तु द्वितीयं सूत्रमीशितुः ॥ ४६ ॥
>
> —कैलास संहिता, अ० १६।

इस उद्धरण में दो शिवसूत्रों का उल्लेख है जिनमें चैतन्यमात्मा प्रथम शिवसूत्र है तथा ज्ञानं बंधः दूसरा शिवसूत्र है। इतना ही नहीं, यहाँ शिवसूत्रों

---

१. पुराणम् (काशिराजन्यास से प्रकाशित) वर्ष २, जुलाई १९६०, पृष्ठ २२९-२३०।

के वार्तिक का भी स्पष्ट उल्लेख है। 'शिवसूत्र' प्रत्यभिज्ञादर्शन का आदि ग्रन्थ है जिसकी उपलब्धि का श्रेय आचार्य वसुगुप्त को दिया जाता है। काश्मीरी शैवाचार्यों का अविच्छिन्न संप्रदाय है कि भगवान् शंकर के स्वप्न में दिए गए आदेश के अनुसार वसुगुप्त को ये सूत्र (तीन उन्मेषों में विभक्त तथा संख्या में ७७) महादेव गिरि की चोटी पर किसी पत्थर के ढोके पर लिखे गए प्राप्त हुए थे, जो आजकल 'शंकर पल' (शंकर उपल) के नाम से प्रख्यात है। इन्हीं वसुगुप्त के शिष्य कल्लट थे जो अवंति वर्मा (८५३ ई०—८८८ ई०) के राज्यकाल में महनीय सिद्ध पुरुष के अवतार माने जाते थे—कल्हण का ऐसा स्पष्ट कथन है।[1] शिष्य के समय से गुरु का समय भली भांति अनुमानित किया जा सकता है। वसुगुप्त का समय इसीलिए ८२५ ई० के लगभग माना जाता है। 'शिवसूत्र' के ऊपर दो वार्तिक उपलब्ध हैं—१—भास्कररचित तथा २—वरदराजप्रणीत। इनमें भास्कर कल्लट के संप्रदाय के अनुयायी थे तथा दोनों में चार पीढ़ियों का व्यवधान था।[2] फलतः एक पीढ़ी के लिये पच्चीस साल का समय मानने से भास्कर का समय कल्लट के समय (८५० ई० लगभग) से सौ वर्ष पीछे होना चाहिए, क्योंकि इन्होंने अभिनवगुप्त (९८० ई०-१०१५ ई०) के पट्टशिष्य क्षेमराज की शिवसूत्रवृत्ति के आधार पर अपने 'शिवसूत्र वार्तिक' का प्रणयन किया था। मेरी दृष्टि में शिवपुराण के पूर्वोक्त उद्धरण में भास्कर के शिवसूत्र वार्तिक का ही उल्लेख है। अलबरूनी (१०३० ई०) के द्वारा संकेतित होने से तथा भास्कररचित 'शिवसूत्र वार्तिक (रचनाकाल लगभग ८५० ई०) को उद्धृत करने के कारण शिवपुराण का समय दशम शती का अंत मानना सर्वथा न्याय्य प्रतीत होता है।[3]

इस प्रकार दोनों पुराणों की तुलना करने पर वायुपुराण ही प्राचीन तथा निश्चय रूप से महापुराण है तथा शिवपुराण अर्वाचीन और तांत्रिकता से मंडित उपपुराण है। पूर्वोक्त प्रमाणों के साक्ष्य पर इस तथ्य पर संदेह करने का कोई अवकाश नहीं है।

---

१. कल्लटाद्याः सिद्धा भुवमवातरन्।

—राजतरंगिणी।

२. शिवसूत्र वार्तिक का उपोद्घात श्लो० ४ तथा ९॥

३. महामाहेश्वरश्रीमत्-क्षेमराज मुखोद्गताम्॥ ४॥
अनुसृत्यैव सद्वृत्तिमञ्जसा क्रियते मया।
वार्तिकं शिवसूत्राणां वाक्यैरेव तदीरितैः॥ ५॥

—वार्तिक का आरंभ।

परिशिष्ट

१

विद्येशं च तथा रौद्रं वैनायकमथौमिकम् ।
मात्रं रुद्रैकादशकं कैलासं शतरुद्रकम् ॥ ४९ ॥
कोटिरुद्रसहस्राद्यं कोटिरुद्रं तथैव च ।
वायवीयं धर्मसंज्ञं पुराणमिति भेदतः ॥ ५० ॥
संहिता द्वादश मिता महापुण्यतरा मताः ।
तासां संख्या ब्रुवे विप्राः शृणुतादरतोऽखिलम् ॥ ५१ ॥
विद्येशं दशसाहस्रं रुद्रं वैनायकं तथा ।
औमं मातृपुराणाख्यं प्रत्येकाष्टसहस्रकम् ॥ ५२ ॥
त्रयोदश-सहस्रं हि रुद्रैकादशक द्विजाः ।
षट् सहस्रं च कैलासं शतरुद्रं तदर्धकम् ॥ ५३ ॥
कोटिरुद्रं त्रिगुणितमेकादशसस्रकम् ।
सहस्रकोटि रुद्राख्यमुदितं ग्रन्थसंख्यया ॥ ५४ ॥
वायवीयं खाब्धिशतं धर्मं रविसहस्रकम् ।
तदेवं लक्षसंख्याकं शैवसंख्याविभेदतः ॥ ५५ ॥

—विद्येश्वर संहिता, अध्याय २।

२

अक्षरस्याऽऽत्मनश्चापि स्वात्मरूपतया स्थितम् ।
परमानन्दसन्दोहरूपमानन्दविग्रहम् ॥
लीलाविलासरसिकं वल्लवीयूथमध्यगम् ।
शिखिपिच्छकिरीटेन भास्वद्रत्नचितेन च ॥
उल्लसद्विद्युदाटोपकुण्डलाभ्यां विराजितम् ।
कर्णोपान्तचरन्नेत्रखञ्जरीटमनोहरम् ॥
कुञ्जकुञ्जप्रियावृन्दविलासरतिलम्पटम् ।
पीताम्बरधरं दिव्यं चन्दनालेपमण्डितम् ॥
अधरामृतसंसिक्तवेणुनादेन बल्लवीः ।
मोहयन्तं चिदानन्दमनङ्गमदभञ्जनम् ॥
कोटिकामकलापूर्णं कोटिचन्द्रांशुनिर्मलम् ।
त्रिरेकहुण्ठविलसद्रत्नगुञ्जास्रगाकुलम् ॥
यमुनापुलिने तुङ्गे तमालवनकानने ।
कदम्बचम्पकाशोकपारिजातमनोहरे ॥

शिखिपरावतशुकपिककोलाहलाकुले ।
निरोधार्थं गवामेव धावमानमितस्ततः ॥
राधाविलासरसिकं कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ।
श्रुतवानस्मि वेदेभ्यो यतस्तद्गोचरोऽभवत् ॥
एवं ब्रह्मणि चिन्मात्रे निर्गुणे भेदवर्जिते ।
गोलोकसञ्ज्ञके कृष्णो दीव्यतीतिश्रुतं मया ॥
नातः परतरं किञ्चिन्निगमागमयोरपि ।
तथापि निगमो वक्ति ह्यक्षरात्परतः परः ॥
गोलोकवासी भगवानक्षरात्पर उच्यते ।
तस्मादपि परः कोऽसौ गीयते श्रुतिभिः सदा ॥
उद्दिष्टो वेदवचनैर्विशेषो ज्ञायते कथम् ।
श्रुतेर्वाऽर्थोऽन्यथा बोध्यः परतस्त्वक्षरादिति ॥
श्रुत्यर्थे संशयापन्नो व्यासः सत्यवतीसुतः ।
विचारयामास चिरं न प्रपेदे यथातथम् ॥

—वायुपुराण अ० १०४, श्लो० ४४–५५ ।

३

शृणु विप्र प्रवक्ष्यामि पुराणं वायवीयकम् ।
यस्मिन् श्रुते लभेद्धाम रुद्रस्य परमात्मनः ॥ १ ॥
चतुर्विंशतिसाहस्रं तत्पुराणं प्रकीर्तितम् ।
श्वेतकल्पप्रसंगेन धर्मानत्राह मारुतः ॥ २ ॥
तद्वायवीयमुदितं भागद्वयसमाचितम् ।
सर्गादिलक्षणं यत्र प्रोक्तं विप्र सविस्तरम् ॥ ३ ॥
मन्वन्तरेषु वंशाश्च राज्ञां ये यत्र कीर्तिताः ।
गयासुरस्य हननं विस्तराद्यत्र कीर्तितम् ॥ ४ ॥
मासानां चैव माहात्म्यं माघस्योक्तं फलाधिकम् ।
दानधर्मा राजधर्मा विस्तरेणोदितास्तथा ॥ ५ ॥
भूपातालककुब्व्योमचारिणां यत्र निर्णयः ।
व्रतादीनां च पूर्वोऽयं विभागः समुदाहृतः ॥ ६ ॥
उत्तरे तस्य भागे तु नर्मदातीर्थवर्णनम् ।
शिवस्य संहितोक्ता वै विस्तरेण मुनीश्वर ॥ ७ ॥
संहितेयं महापुण्या शिवस्य परमात्मनः ।
नर्मदाचरितं यत्र वायुना परिकीर्तितम् ॥ ८ ॥

—नारदपुराण

४

पुराणं यन्मयोक्तं हि चतुर्थं वायुसंज्ञितम् ।
चतुर्विंशतिसाहस्रं शिवमाहात्म्यसंयुतम् ॥ ९ ॥
महिमानं शिवस्याह पूर्वे पाराशरः पुरा ।
अपरार्द्धे तु रेवाया माहात्म्यमतुलं मुने ॥ १० ॥
पुराणेषूत्तरं प्राहुः पुराणं वायुनोदितम् ।
शिवभक्तिसमायोगान्नमद्वयविभूषितम् ॥ ११ ॥

—रेवामाहात्म्य

५

श्वेतकल्पप्रसंगेन धर्मान् वायुरिहाब्रवीत् ।
यत्र यद्वायवीयं स्याद्रुद्रमाहात्म्यसंयुतम् ॥ १२ ॥
चतुर्विंशत्सहस्राणि पुराणं तदिहोच्यते ॥

—मत्स्यपुराण

६

प्रवक्ष्यामि परमं पुण्यं पुराणं वेदसम्मितम् ।
शिवज्ञानार्णवं साक्षाद् भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥
शब्दार्थन्यायसंयुक्तैरागमार्थैर्विभूषितम् ।
श्वेतकल्पप्रसंगेन वायुना कथितं पुरा ॥

—वायुसंहिता

(ङ) श्रीमद्भागवत की महापुराणता

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस को प्रभावित करनेवाले संस्कृत ग्रन्थों में श्रीमद्भागवत अन्यतम है। भागवत के दार्शनिक दृष्टिकोण को अपनाकर गोस्वामीजी ने अपने रामायण को सर्वजन तथा सर्वलोक के लिए उपादेय तथा आवर्जक बनाया है। रामचरितमानस के दार्शनिक दृष्टिकोण के विषय में मानसमर्मज्ञ विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोक अद्वैत को तथा इतर लोग विशिष्टाद्वैत को ही रामायण का प्रतिपाद्य दार्शनिक सिद्धान्त मानते हैं। मेरी दृष्टि में इस विषय में भागवत से तुलसीदास ने अत्यधिक स्फूर्ति तथा प्रेरणा ग्रहण की है। भागवत का सिद्धान्तपक्ष है अद्वैत तथा साधनापक्ष है भक्ति और रामचरितमानस का भी यही प्रतिपाद्य है—अद्वैत से समन्वित भक्तियोग। श्रीमद्भागवत के स्वरूप निर्णय करने का यहाँ प्रयास किया जा रहा है कि भागवत पुराण है अथवा उपपुराण तथा इसके प्रणेता अन्य पुराणों के रचयिता व्यासदेव हैं या बोपदेव नामधारी कोई विद्वान् ?

अष्टादश पुराणों तथा पुराणस्थ अनुक्रमणी में 'भागवत' का नाम ही सर्वत्र पुराणरूप से निर्दिष्ट किया गया है। परन्तु आजकल 'भागवत' नामधारी दो पुराण की सत्ता विद्यमान है · (१) विष्णु की महिमा का प्रतिपादक श्रीमद्भागवत तथा (२) देवी के गौरव का प्रतिपादक देवीभागवत। ऐसी स्थिति में विचारणीय प्रश्न यह है कि इन दोनों में कौन पुराण 'भागवत' नाम से उल्लिखित तथा प्रमाणित किया जाय। इस प्रश्न के समाधानार्थ कतिपय प्रमाण नीचे दिए जाते हैं—

(१) पद्मपुराण में सात्त्विक पुराणों के अन्तर्गत विष्णु, नारद, गरुड, पद्म तथा वाराह के साथ 'भागवत' का भी स्पष्ट संकेत है।[1] गरुड पुराण में सात्त्विक पुराणों की तीन श्रेणियाँ—उत्तम, मध्यम तथा अधम-स्थापित कर उनका विभाजन किया गया है—(क) मत्स्य तथा कूर्म को 'सत्त्वाधम' (ख) वायु को 'सात्त्विकमध्यम' तथा (ग) गरुड, विष्णु और भागवत को 'सत्त्वोत्तम' पुराण माना गया है।[2] प्रश्न यह है कि पुराण की सात्त्विकता की कसौटी

---

१. वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्।
गारुड़ं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने ॥
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै ॥ —पद्मपुराण।

२. सत्त्वाधमे मात्स्य—कौर्मे समाहुर्वायुं चाहुः सात्त्विकं मध्यमं च।
विष्णोः पुराणं भागवतं पुराणं सत्त्वोत्तमे गारुडं चाहुरार्याः ॥—गरुडपुराण

क्या है? इसके उत्तर में कूर्म तथा गरुड पुराण की स्पष्ट सम्मति है कि जिन पुराणों में हरि का माहात्म्य अधिकता से प्रतिपादित हो तथा विष्णु के स्वरूप तथा चरित का विशेष उपन्यास हो उन्हें 'सात्त्विक' कहा जाता है।[1] गरुड पुराण के साक्ष्य पर भागवत सर्वोत्तम पुराण इसीलिए है कि उसमें विष्णुचरित सर्वापेक्षया अधिकता से चर्चित है।

इस कसौटी पर कसने से देवीभागवत सात्त्विक पुराण की कोटि में आता ही नहीं, क्योंकि उसमें विष्णु के माहात्म्य का प्रतिपादन न होकर देवीमहिमा का ही उत्कृष्ट विवरण है। फलतः इस दृष्टि से श्रीमद्भागवत ही, जिसके समस्त स्कन्धों में हरि का ही यश विशेष रूप से उनके नाना अवतारों के चित्रण के अवसर पर वर्णित हैं, अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत होने की योग्यता रखता है।

(२) भागवत का लक्षण—पुराणों में स्थान स्थान पर भागवत का वैशिष्ट्य तथा लक्षण का निर्देश मिलता है। मत्स्यपुराण[2] तथा वामनपुराण[3] में निर्दिष्ट लक्षणों के समन्वय करने पर भागवत के तीन वैशिष्ट्यों के परिचय आलोचकों को मिलते हैं—(क) गायत्री से समारंभ; (ख) वृत्र के वध का प्रसंग; (ग) हयग्रीव ब्रह्मविद्या का विवरण।

इन तीनों वैशिष्ट्यों के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। देवीभागवत के आरम्भ में मंगलात्मक श्लोक का उपन्यास 'गायत्र्या समारंभ' का संकेत माना जाता है। वह मंगल श्लोक है—

सर्व-चैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि। बुद्धिं या नः प्रचोदयात्।

इस श्लोक में 'धीमहि' तथा 'प्रचोदयात्' दोनों ही गायत्री के साक्षात् पद हैं। यह तीन पादों का श्लोक है जो वेद की त्रिपदा गायत्री का बोधक माना गया है। परन्तु विचार करने से तो यही प्रतीत होता है कि किसी लेखक ने बुद्धिपूर्वक वैदिक गायत्री की समता की दृष्टि से इस अनुष्टुप्

---

१. अन्यानि विष्णोः प्रतिपादकानि।
सर्वाणि तानि सात्त्विकानीति चाहुः॥ —गरुडपुराण।
सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः॥ —कूर्मपुराण।

२. यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः।
वृत्रासुर-वधोपेतं तद् भागवतमिष्यते॥ —मत्स्यपुराण (५३।२०)

३. हयग्रीव-ब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा।
गायत्र्या च समारम्भस्तद् वै भागवतं विदुः॥ —वामनपुराण

में तीन ही चरणों की रचना की है। परन्तु 'गायत्र्या समारम्भः' का स्वारस्य गायत्री छंद की समता से निष्पन्न नहीं होता, क्योंकि इसमें गायत्री के प्रतिपाद्य विषय का कथमपि स्पर्श नहीं है। 'धीमहि' से ध्यान तथा तृतीय चरण (बुद्धि या नः प्रचोदयात्) के पदों से बुद्धि की प्रेरणा की चेतना अवश्य होती है; परन्तु 'सवितुः' 'वरेण्यं' 'भर्गो' आदि पदों का न तो समानार्थक कोई पद ही उपलब्ध होता है और न उसके प्रतिपाद्य अर्थ का ही कहीं संकेत मिलता है।

श्रीमद्भागवत का आदिम पद्य (प्रथम स्कन्ध का प्रथम श्लोक) अपने प्रतिपाद्य विषय की गम्भीरता तथा वैशिष्ट्य के निमित्त नितान्त प्रख्यात है—

> जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्।
> तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः॥
> तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।
> धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

—भाग० १।१।१

इस पद्य में गायत्री के कई पद और अर्थ विद्यमान हैं। गायत्री के 'सवितुः' शब्द का अर्थबोध 'जन्माद्यस्य यतः' अंश से होता है। 'देवस्य' = स्वराट्। 'वरेण्यं भर्गः' = धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्। 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' गायत्रीस्थ स्वराट् पद का प्रतिनिधि है। धीमहि = धीमहि। 'सत्यं परं धीमहि' का प्रयोग इस आदि श्लोक के समान भागवत के अन्तिम पद्य के अंत में भी है।[1] इस प्रकार पद्य में गायत्री[2] अर्थतः तथा शब्दतः उभय विधया प्रतिपादित है। फलतः 'यत्राधिकृत्य गायत्रीम्', 'गायत्र्या च समारम्भः' तथा 'गायत्री भाष्यरूपोऽसौ' आदि वचनों का लक्ष्य श्रीमद्भागवत ही है, देवीभागवत नहीं।

यहाँ विचारणीय प्रश्न है कि गायत्री के द्वारा प्रतिपाद्य देवता कौन है? इस विषय में पुराण तथा योगी याज्ञवल्क्य[3] नारायण विष्णु को ही

---

१. द्रष्टव्य-भा०, १२।१३।१९।

२ विशेष के लिए द्रष्टव्य इस पद्य की मधुसूदनी व्याख्या, प्र०-काशी संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

३. वरेण्यं वरणीयं च संसारभय-भीरुभिः।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वा मुमुक्षुभिः॥
जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रिविधस्य च।
ध्यानेन पुरुषो यस्तु द्रष्टव्यः स सूर्यमण्डले॥—योगी याज्ञवल्क्य।

गायत्री द्वारा प्रतिपाद्य देव स्वीकार करते हैं। अग्निपुराण के अध्याय २१६ में गायत्री के अर्थ के प्रसंग में इस विषय का गंभीरता के साथ विचार किया गया है। उसमें अग्नि, सूर्य; शिव तथा शक्ति के अर्थ को सूचित कर विष्णुपरक तात्पर्य को ही मान्यता दी गई है।[1] फलतः सवितृमंडलमध्यवर्ती नारायण ही गायत्री के द्वारा द्योत्य हैं और इस तात्पर्य की पूर्ण सत्ता भागवत के आद्य श्लोक में विशदतया वर्तमान है; इसके विषय में दो मत हो नहीं सकते।

(ख) वृत्रवध का प्रसंग दोनों भागवतों में मिलता है। श्रीमद्भागवत में यह प्रसंग वैशद्य के साथ वर्णित है।[2]

(ग) वामन पुराणस्थ भागवत लक्षण में हयग्रीव ब्रह्मविद्या का प्रधानतया निर्देश है। भागवत के कथनानुसार षष्ठ स्कंध के अध्याय आठ में वर्णित 'नारायण कवच' ही पूर्वोक्त 'हयग्रीव ब्रह्मविद्या' है। इस कवच के उपदेश की परंपरा भी अगले अध्याय (६।९) मे दी गई है। दधीचि ऋषि नितांत ब्रह्मज्ञानीं थे। अभ्यर्थना किए जाने पर उन्होंने अश्विनीकुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश देना स्वीकार किया। इंद्र ने इसका यह कह कर विरोध किया—'वैद्य होने के कारण अश्विनौ ब्रह्मविद्या के अधिकारी नहीं है। यदि मेरी आज्ञा का उल्लघन करोगे, तो मैं तुम्हारा शिर काट डालूँगा'। दधीचि से इस वार्ता की सूचना पाने पर अश्विनीकुमारों ने दधीचि का मूल शिर काट कर

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती।
नारायणः सरसिजासन-सन्निविष्टः॥
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी।
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः॥ —सूर्यस्तव का श्लोक १।

१. शिवं केचित् पठन्ति स्म शक्तिरूपं पठन्ति च।
केचित् सूर्यं केचिदग्निं वेदगा अग्निहोत्रिणः॥
अग्न्यादिरूपी विष्णुर्हि वेदादौ ब्रह्म गीयते।
तत् पदं परमं विष्णोर्देवस्य सवितुः स्मृतम्॥ —अग्नि०, २१६।८-९।

अग्निपुराण के तात्पर्य को देवीभागवत की तिलक व्याख्या के रचयिता शैव नीलकण्ठ ने नास्तिकमूल कहकर उसका खण्डन किया है। उन्होंने 'भर्गो वै रुद्रः' मैत्रायणी के इस वचन के आधार पर 'भर्ग' शब्द का अर्थ रुद्र किया है तथा नारायणपरक अर्थ की उपेक्षा की है। यदि नीलकण्ठ की दृष्टि में अग्निपुराण का वचन अर्थवाद तथा स्तावकमात्र है, तो मैत्रायणी श्रुति तथा प्रपंचसार आदि तंत्रों के वचन भी उसी प्रकार स्तावक माने जा सकते हैं।

२. द्रष्टव्य देवीभागवत, ६।२-६ तथा श्रीमद्भागवत, ६।९-१४।

अलग रख दिया और उसके स्थान पर घोड़े का शिर लगा दिया। दधीचि ने इसी 'अश्वशिर से' ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया जिसे क्रुद्ध इन्द्र ने काट डाला। तब इन स्ववैद्यों ने अपनी शल्य चिकित्सा की अलौकिक चातुरी से मूल शिर दधीचि को लगा दिया। 'अश्वशिर' से उपदिष्ट होने से यह नारायण कवच 'हयग्रीव ब्रह्मविद्या' के नाम से विख्यात हुआ। भागवत में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार है—

> स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम्।
> यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधाम् ॥[1]
>
> —भागवत, ६।९।५२।

इस कवच के संक्रमण की परंपरा इस प्रकार है—अथर्ववेदी दध्यङ् (या दधीचि) ऋषि→ त्वष्टा→ विश्वरूप—इन्द्र (भागवत, ६।९।५३)। यह कवच ही 'विद्या' के नाम से भागवत में बहुशः निर्दिष्ट किया गया है—

> 'न कुतश्चिद् भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत्'। —६।८।३७।
> 'इमां विद्यां पुरा कश्चित्'। —६।८।३८।
> 'एतां विद्यामधिगतो विश्वरूपाच्छतक्रतुः। —६।८।४२।

इस 'नारायण कवच' के स्वरूप तथा मन्त्रों का विशद विवरण भागवत के छठें स्कन्ध के अष्टम अध्याय में है। इस कवच का उपदेश वृत्रासुर के बध के अवसर पर भागवत में दिया गया है। वृत्रासुर की कथा देवीभागवत में भी अनेक अध्यायों में वर्णित है।[2] दोनों में अन्तर इतना ही है कि देवीभागवत के अनुसार वृत्र फेन के द्वारा मारा गया जिसमें पराशक्ति ने प्रवेश कर उसे शक्तिसम्पन्न बनाया था। अतः वृत्र-वध में पराशक्ति का ही विशेष हाथ है।[3] श्रीमद्भागवत में इसी प्रसंग में नारायण कवच का उपदेश तथा शक्तिसम्पन्न इन्द्र के द्वारा वृत्र-वध का स्पष्ट वर्णन है। निष्कर्ष यह है कि वैष्णव भागवत के स्वरूपानुसार 'नारायण कवच' के उपदेश की संगति वहीं बैठती है, देवीभागवत में नहीं, जिसमें इस कवच का नितांत अभाव है। फलतः 'गायत्र्या समारम्भः' तथा 'हयग्रीव ब्रह्मविद्योपदेशः' निःसन्देह श्रीमद्भागवत को ही पुराण-निर्दिष्ट 'भागवत' सिद्ध करने में पर्याप्त लक्षणयुक्त है।

---

१. इसकी विशिष्ट व्याख्या के लिए द्रष्टव्य इस श्लोक की श्रीधरी जिसमें प्राचीन पद्य इस कथानक के विषय में उद्धृत किए गए हैं।

२. द्रष्टव्य स्कन्ध—६, अ० २, ६।

३. इत्थं वृत्रः पराशक्ति-प्रवेशयुत-फेनतः।
तया कृतविमोहाच्च शक्रेण सहसा हतः॥ —देवीभाग०, ६।६।६७।

(३) निबन्ध ग्रन्थों का साक्ष्य—(क) मध्ययुगीय धर्मशास्त्र के निवन्ध ग्रन्थों में उद्धृत श्लोक श्रीमद्भागवत में ही उपलब्ध होते हैं, देवीभागवत में नहीं। निवन्धकारों में विशेषतः वल्लालसेन, हेमाद्रि, गोविदानंद, रघुनन्दन, गोपालभट्ट ने अपने-अपने निबंध ग्रन्थों में किसी 'भागवत' से जितने उद्धरण उद्धृत किए हैं उनमें अधिकांश श्रीमद्भागवत में ही उपलब्ध होते हैं, देवीभागवत में ऐसा एक भी श्लोक नहीं मिलता। इससे 'श्रीमद्भागवत' की प्राचीनता तथा पुराणत्वेन प्रख्याति निःसंदिग्ध है।

(ख) वल्लालसेन ने अपने 'दानसागर' (रचनाकाल १०९१ शक= ११६९ ई०) में जिन पुराणों से उद्धरण दिए हैं उनके तथ्यातथ्य के विषय में अपनी बहुमूल्य आलोचना भी दी है। उस युग के निवन्धकार में ऐसी आलोचना-शक्ति का सद्भाव सचमुच आश्चर्यकारी प्रतीत होता है। भागवत के विषय में वल्लालसेन का कथन है कि दानविषयक श्लोकों के नितांत अभाव के कारण ही इस पुराण से श्लोक उद्धृत नहीं किए गए हैं—

भागवतं च पुराणं ब्रह्माण्डं चैव नारदीयं च
दानविधिशून्यमेतत् त्रयमिह न निबद्धमवधार्य ॥

—उपोद्घात श्लोक ५७।

यह कथन श्रीमद्भागवत के महापुराणतत्त्व की सिद्धि के निमित्त निर्णायक माना जा सकता है। वर्तमान देवीभागवत में एक पूरा अध्याय ही (नवम स्कन्ध, ३० अ०) दान की प्रशंसा तथा विविधरूपता के विषय में उपलब्ध होता है, परन्तु श्रीमद्भागवत में दानविषयक पद्य का सचमुच नितांत अभाव है। यदि उनकी दृष्टि में 'देवीभागवत' भागवत नाम के द्वारा लक्षित होता तो इस कथन की आवश्यकता न होती और वे उसी में से दानविषयक पद्य उद्धृत करते। यह पद्य इस विषय में बड़े महत्त्व का है। अतः बल्लालसेन की दृष्टि में वैष्णव भागवत ही 'भागवत' नाम से अभिहित होने की योग्यता रखता है।

(ग) अलबरूनी (१०३० ई०) ने अपने भारतविषयक ग्रन्थ में वैष्णव भागवत को प्रधान पुराणों में अन्यतम माना है, परन्तु यह देवीभागवत से अपनी अभिज्ञता प्रकट नहीं करता। यहाँ पुराणों की दोनों सूचियों में से किसी भी सूची में इस भागवत का नाम निर्दिष्ट नहीं है। यह इसकी सत्ता के अभाव का प्रतिपादक है।

(घ) पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में तथा स्कन्दपुराण के विष्णुखण्ड में भागवत के माहात्म्य का वर्णन कई अध्यायों में मिलता है। इन दोनों स्थलों पर माहात्म्य की सूचिका आख्यायिका भी भिन्न-भिन्न हैं। यह माहात्म्य श्रीमद्भागवत का ही है, भागवत नामधारी किसी अन्य पुराण का नहीं। स्कन्दपुराण में पृथक्

से पाँच अध्यायों में देवीभागवत का माहात्म्य वर्णित है। इससे स्पष्ट है कि स्कन्दपुराण दोनों भागवतों का अस्तित्व पृथक् रूप से मानता है। दोनों में किसी प्रकार का सांकर्य नहीं करता। देवीभागवत का माहात्म्य स्कन्दपुराण के 'मानसखण्ड'[1] का बतलाया गया है जिसका अस्तित्व ही ज्ञात नहीं है।[2]

(ङ) नारदीय पुराण ने अपने पूर्वभाग के ९६ अध्याय में भागवत के वर्ण्य विषय का निर्देश किया है जो वैष्णव भागवत में आज भी उपलब्ध होता है, देवीभागवत में नहीं।

(च) श्रीमद्भागवत में देवीभागवत का कहीं भी उल्लेख नहीं है और न अपने आपको मुख्य पुराण सिद्ध करने का किञ्चिन्मात्र भी प्रयत्न है। परन्तु देवीभागवत के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह श्रीमद्भागवत से भलीभाँति परिचय रखता है। देवीभागवत का अष्टम स्कन्ध जिसमें भूगोल तथा खगोल का विस्तृत विवरण है, श्रीमद्भागदत के पंचम स्कन्ध का अक्षरशः अनुकरण है—अन्तर इतना ही है कि जहाँ श्रीमद्भागवत वैज्ञानिक विषयों के वर्णन के लिये उपयुक्त गद्य के नैसर्गिक माध्यम का आश्रय लेता है, वहाँ देवीभागवत अपनी अधमर्णता को छिपाने के लिए पद्य का कृत्रिम माध्यम पकड़ता है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। देवीभागवत के अष्टम स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय में भारतवर्ष का वर्णन है। यह अक्षरशः श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के उन्नीसवें अध्याय से आनुपूर्वी गृहीत है—आरंभ के ५ श्लोक = भागवत के ५।१९।११-१५ तथा इस अध्याय के अन्तिम ८१ श्लो० = भागवत के उसी अध्याय के २१-२८ श्लोक। भागवत के बीच के गद्यभाग देवीभागवत में पद्यात्मना परिणत कर दिए गए हैं। भारतवर्ष-विषयक ये सुंदर पद्य भागवत की शैली में ही निबद्ध हैं—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

---

१. 'स्कन्दपुराण' के सात ही खण्ड आज तक प्रख्यात थे और प्रकाशित भी थे। यह 'मानसखण्ड' उन सब से पृथक् तथा भिन्न है। इसकी एक प्रति कई वर्षों पूर्व सर्वभारतीय काशिराजन्यास (रामनगर) को नेपाल से मिली थी जिस उपलब्धि की सूचना गत व्यास-पूर्णिमा पर्व पर स्वयम् काशिराज डा० विभूतिनारायण सिंह ने दी। यदि यह अज्ञात खण्ड अन्य प्रमाणों के आधार पर सचमुच ही वास्तविक सिद्ध हो जाय तो पौराणिक संसार में यह निःसन्देह नूतन उपलब्धि है।

२. इस माहात्म्य के लिए देखिए देवीभागवत का मनसुखराय मोर द्वारा प्रकाशित संस्करण, पूर्वार्ध, पृ० १-२३, कलकत्ता—१९६०।

भुवन कोष के अन्य विभागों के वर्णन के लिये भी यही रीति अपनाई गई है। इससे देवीभागवत श्रीमद्भागवत से केवल परिचित ही नहीं है, प्रत्युत उसका विशेष-भावेन ऋणी भी है।

(छ) अपनी उत्कृष्टता दिखलाने के लिए देवीभागवत को उपपुराणों के अन्तर्गत रखने में नहीं हिचकता।[1] शुकदेव का चरित्र भी दोनों में पृथक् दिखलाया गया है। श्रीमद्भागवत में शुकदेव नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में चित्रित किए गए हैं, परंतु देवीभागवत में उनके गार्हस्थ्य धर्म के ग्रहण करने की विशद कथा दी गई है। यह वर्णन अवान्तरकालीन प्रतीत होता है, क्योंकि गार्हस्थ्यधर्म की महिमा का प्रदर्शन भारतीय समाज की प्रतिष्ठा के निमित्त नितांत आवश्यक समझने पर किया गया।

(ज) अष्टादश पुराणों में निर्दिष्ट 'भागवत' के निर्देश के विषय में शाक्तों में मतैक्य नहीं है। कुछ लोग कालिकापुराण को ही इस नाम से उल्लिखित करते हैं क्योंकि उसमें 'भागवती' के चरित्र का आमूल वर्णन है, कुछ लोग 'देवीपुराण' को यह गौरव देने के पक्षपाती हैं, तो दूसरे जन 'देवीभागवत' को। यह अनैकमत्य इस तथ्य का स्पष्ट द्योतक है कि वैष्णवभागवत की प्रतिष्ठा तथा महिमा से उद्विग्न होकर शाक्त लोग अपने लिए नाना शाक्त ग्रन्थों को 'भागवत' का गौरव प्रदान करने के लिए उत्सुक थे। ऐकमत्य का अभाव किसी पुष्ट परम्परा के अभाव का स्पष्ट सूचक है।

(झ) मत्स्यपुराण का कथन है—

सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युः नरोत्तमाः।
तद्वृत्तान्तोद्भवं लोके तद् भागवतमुच्यते ॥

—मत्स्य ५३।२१।

इसके अनुसार भागवत में सारस्वत कल्प की कथा होनी चाहिए, परन्तु द्वितीय स्कन्ध के 'पाद्मं कल्पमथो शृणु' वचन भागवत में पाद्मकल्प के चरित का वर्णन बतलाया गया है। यह विरोध क्यों? इसका तात्पर्य यह नहीं है कि श्रीमद्भागवत में सारस्वत कल्प कथा का अभाव है।

बृहद् वामनपुराण के वचन—

आगामिनि विरञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यमे।
कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ ॥

के अनुसार कृष्णकथा सारस्वत कल्प की ही है। फलतः मत्स्यपुराण के पूर्वोक्त वचन से कथमपि विरोध नहीं है।

१. द्रष्टव्य—देवीभागवत, १।३।१६।

इन तर्कों पर ध्यान देने से देवीभागवत की उपपुराणता तथा श्रीमद्भागवत की महापुराणता स्पष्टतः सिद्ध होती है।

भागवत तथा बोपदेव

भारतीय साहित्य में बोपदेव की कीर्ति न्यून नहीं है। ये श्रीमद्भागवत के विशेष मर्मज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने भागवत के विषय को लेकर तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया (१) हरिलीलामृत (या भागवतानुक्रमणी)—जिसमें श्रीमद्भागवत के समस्त अध्यायों की सूची विस्तार से दी गई हैं और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का प्रदर्शन मार्मिकता से किया गया है, (२) मुक्ताफल—यह भागवत के श्लोकों का रसानुयायी संग्रह है जिसमें श्लोकों का वर्गीकरण नवरस की दृष्टि से किया गया है, (३) परमहंस-प्रिया—श्रीमद्भागवत की टीका बतलायी जाती है, परन्तु अभी तक अप्रकाशित होने से इसके स्वरूप के विषय में विशेष नहीं कहा जा सकता। इन ग्रन्थों की संज्ञा का तो नहीं, परन्तु संख्या की ओर बोपदेव ने स्वयम् संकेत किया है—'साहित्ये त्रय एव भागवततत्वोक्तौ त्रयः'। बोपदेव ने श्रीमद्भागवत के अनुशीलन से भक्ति को रसरूप में प्रतिष्ठित किया तथा भक्ति को केवल भाव माननेवाले कश्मीरी आचार्यों के मतों की तीव्र आलोचना की। भक्तिरस का यह प्रथम विन्यास बोपदेव के महत्त्व का प्रतिपादक है। ये भगवान् में 'मनोनिवेश' को भक्ति का स्थायीभाव मानते हैं तथा इन्होंने भक्ति की रसरूपता की पुष्टि युक्ति तथा प्रमाण के आधार पर बड़े अभिनिवेश के साथ अपने 'मुक्ताफल' में की है।[1]

इन्होंने अपने को विद्वद्वर धनेश का शिष्य तथा भिषक् केशव का पुत्र बतलाया है। इनके ग्रन्थों की अंतरंग परीक्षा से सुस्पष्ट है कि ये रामगिरि के यादव नरेशों के माहामात्य धर्मशास्त्री हेमाद्रि के आश्रय में रहते थे तथा उन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने पूर्वोक्त ग्रंथों का प्रणयन किया। इनका समय ईसा की १३ वीं शती है।

ये ही बोपदेव श्रीमद्भागवत के रचयिता माने गए हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ही अपने सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में (पृ० ३३५ पर) इस बात का उल्लेख किया हो, ऐसी बात नहीं है। पंडित नीलकण्ठ शास्त्री ने भी देवीभागवत टीका के उपोद्घात में इस बात का उल्लेख इस प्रकार किया है—'द्वितीयैकपक्षैकदेशिनोऽपि विष्णुभागवतं बोपदेव-कृतमिति वदन्ति।' इस किंवदन्ती का उदय कैसे हुआ? ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। हरिलीलामृत

---

१. डा० रामनरेश वर्मा; हिंदी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० २८८-९०, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २०२०।

जैसे भागवताध्यायानुक्रमणी को लक्ष्य कर ही किसी ने यह प्रवाद चला दिया होगा, तो कोई आश्चर्य नहीं। अब इस प्रवाद के खण्डनार्थं कतिपय तर्क यहां उपस्थित किए जाते हैं—(१) बोपदेव के आश्रयदाता हेमाद्रि ने अपने 'चतुर्वर्ग चिंतामणि' में भागवत के श्लोकों को प्रमाण दिखलाने के निमित्त उद्धृत किया है। यह स्थिति भागवत को समकालीन रचना नहीं सिद्ध करती। अपने आश्रित की रचना को कोई भी विज्ञ पुरुष प्रमाण देने के लिए कभी नहीं उद्धृत करेगा।

(२) द्वैतमत के प्रतिष्ठापक आचार्य मध्व (या आनन्दतीर्थ) ने 'भागवत तात्पर्यनिर्णय' नामक ग्रंथ में भागवत के तात्पर्य का विश्लेषण किया है तथा भक्ति को ही सर्वातिशायी साधन बतलाया है। स्मृत्यर्थसागर के श्लोक के आधार पर मध्वाचार्य का जन्म १२५७ विक्रमी (१२०० ई०) में माना जाता है[1] अर्थात् मध्वाचार्य बोपदेव से लगभग सौ वर्ष पहिले उत्पन्न हुए। यह ऐतिहासिक तथ्य पूर्वोक्त मत का स्पष्ट खण्डन करता है।

(३) श्री वैष्णवमत के उन्नायक श्रीरामानुजाचार्य (जन्मकाल १०१७ ई०) ने अपने 'वेदान्त तत्त्वसार' में भागवत की वेदस्तुति १०।८७ से तथा एकादश स्कंध से कतिपय पद्यों को उद्धृत किया है।

श्रीशंकराचार्य के कतिपय स्तोत्रों के ऊपर भागवत की स्पष्ट छाप है। कहीं कहीं शब्द-साम्य इतना अधिक है कि उनका भागवत से परिचित होना नितान्त स्वाभाविक है। एक दो उदाहरण लीजिए। आचार्य के 'गोविंदाष्टक' का यह श्लोक जिसमें श्रीकृष्ण के मिट्टी खाने का वर्णन है, भागवत के आधार पर है—

मृत्स्नामत्सीहेति यशोदा-ताडन-शैशव-संत्रासम्।
व्यादितवक्त्रालोकित लोकालोक चतुर्दशलोकालम्॥

'प्रबोधसुधाकर' आदि शंकराचार्य की निःसंदिग्ध रचना मानी जाती है। इसमें श्रीकृष्ण की बाललीलाओं का, ब्रह्मा का मोहित होना, बछड़ों का चुराना, सब के रूप में श्रीकृष्ण का बदल जाना आदि के वर्णन भागवत का अनुसरण करते हैं। गोपियों के प्रेम का रसमय वर्णन तो बलात् भागवत की ही स्मृति दिलाता है जहाँ उसका परिपाक मधुरता से संपन्न है। शंकराचार्य ने इस पद्य में स्पष्टतः व्यास के वचनों की ओर संकेत किया है जो भागवत में निश्चयेन उपलब्ध है—

---

१. एकादशगते शाके विंशत्यद्वये गते।
अवतीर्णं मध्वमुनिं सदा वन्दे महागुरुम्॥
११२२ शाके = १२५७ विक्रमी = १२०० ईस्वी।

कापि च कृष्णायन्ती कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः ।
अपिबत् स्तनमिति साक्षाद् व्यासो नारायणः प्राह ।—शंकर ।
कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम् ।।—भागवत ।

श्रीमद्भागवत के वचन को शंकराचार्य ने यहाँ अक्षरशः उद्धृत किया है और स्पष्टतः कहा है कि यह व्यास का वचन है। फलतः भागवत वेदव्यास रचित है तथा शंकराचार्य से प्राचीनतर है—यह तथ्य स्वयमेव सिद्ध होता है।

(५) सरस्वती-भवन पुस्तकालय (संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) में बंगाक्षरों में लिखी हुई भागवत की एक प्रति विद्यमान है जो लिपि की परीक्षा से दशम शती में लिखी गई मानी जाती है—अर्थात् यह हस्तलेख बोपदेव से लगभग दो सौ वर्ष प्राचीन है।

(६) वेदांत की प्रख्यात मान्यता है कि आचार्य शंकर के गुरु थे गोविंद-पाद और उनके गुरु थे श्री गौडपादाचार्य। इन्हीं गौडपाद ने अपने 'पंचीकरण व्याख्यान' में 'जगृहे पौरुषं रूपम्' 'इति भागवतमुपन्यतम्' ऐसा लिखा है। यह श्लोक भागवत के प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय का प्रथम श्लोक है। इन्होंने उत्तरगीता की अपनी टीका में 'तदुक्तं भागवते'. लिखकर 'श्रेयः सृति भक्तिमुदस्य ते विभो' श्लोक उद्धृत किया है जो भागवत के दशम स्कन्ध के चौदहवें अध्याय का चौथा श्लोक है।

आचार्य शंकर का समय मेरी दृष्टि में सप्तम शती का उत्तरार्द्ध है। फलतः उनके दादागुरु गौडपाद का काल इससे लगभग पचास साल पूर्व सप्तम शती का आरम्भ होना चाहिए। उनके द्वारा उद्धृत किए जाने से स्पष्ट है कि श्रीमद्भा-गवत की रचना सप्तम शती से पूर्ववर्ती है अर्थात् तेरहवीं शती में उत्पन्न बोपदेव से छः सात सौ वर्ष पूर्व। ऐसी निश्चित परिस्थिति में बोपदेव को भागवत का प्रणेता मानना नितांत अनुचित, अप्रमाणिक तथा इतिहास-विरुद्ध है।

अलबरुनी और पुराण

अलबरुनी महमूद गज़नी के भारतवर्ष की यात्रा पर आया और यहाँ के विद्वज्जनों की सहायता से उसने भारतवर्ष के विषय से विशेष जानकारी प्राप्त की, विशेषतः ज्योतिष, तथा दर्शन के विषय में। भारत-विषयक अपने ग्रंथ के १२ वें परिच्छेद ने उसने हिन्दुओं के प्राचीन साहित्य का, विशेषतः धार्मिक साहित्य का, विशेष विवरण प्रस्तुतकिया है। १८ पुराणों की नामावली उसने दो प्रकार से दो है। एक सूची तो विष्णु पुराण के ऊपर आधारित है और इस सूची में पुराणों के नाम तथा क्रम

वे ही हैं जो आजकल प्रचलित हैं। दूसरी सूची में पुराण तथा उपपुराण का मिश्रण हैं। इस सूची के अनुसार १८ पुराणों के नाम तथा क्रम इस प्रकार हैं :—(१) आदि पु० (२) मत्स्य पु० (३) कूर्म, (४) वराह पु०, (५) नरसिंह पु०, (६) वामन पु०, (७) वायु पु०, (८) नन्दी पु०, (९) स्कंद पु०, (१०) आदित्य पु०, (११) सोम पु०, (१२) साम्ब पु०, (१३) ब्रह्माण्ड पु०, (१४) मार्कण्डेय, (१५) तार्क्ष्य पु० (= गरुड पु०), (१६) विष्णु पु० (१७) ब्रह्म पु०; (१८) भविष्य पु०। इस सूची के विश्लेषण करने से अनेक तथ्यों का पता लगता है—

(क) उस समय तक ६ उपपुराणों की रचना हो चुकी थी जिनके नाम ये हैं :—आदि, नरसिंह, नन्दी, आदित्य, सोम तथा साम्ब।

(ख) आदि पुराण ब्रह्म पुराण से भिन्न ही पुराण है।

(ग) सूर्य के विषय में आजकल प्रचलित उपपुराण 'सौर पुराण' है, परन्तु उस समय आदित्य पुराण का प्रचलन था जो आजकल प्रसिद्ध और प्रचलित नहीं है।

(घ) साम्ब पुराण का प्रचलन आज भी है, परन्तु सोम पुराण आदित्य पुराण के जोड़ पर बना हुआ चन्द्र-विषयक उपपुराण प्रतीत होता है।

अलबरुनी का कहना है कि इनमें से उसने केवल तीन पुराण के—आदित्य, मत्स्य तथा वायु के ही कतिपय अंशों को देखा है। ग्रन्थ के भौगोलिक तथा खगोलीय विवरण देने में उसने विष्णु पुराण और विष्णु-धर्म से बहुत ही उद्धरण दिये हैं जिससे प्रतीत होता है कि उस काल में ये दोनों ग्रन्थ बहुत ही अधिक लोकप्रिय थे। अलबरुनी के ग्रन्थ का समय ११ शती का उत्तरार्ध (लगभग १०६७ ई०) माना जाता है। पूर्वोक्त ग्रन्थों के निर्देश से यह निश्चित हो जाता है कि उसके युग से पहिले ही ये उपपुराण प्रणीत हो चुके थे और लोक-व्यवहार में आने लगे थे।

बल्लालसेन तथा पुराण

दानसागर बल्लालसेन का विशिष्ट धर्मशास्त्रीय निबन्ध है। दान के विषय में पुराणों तथा स्मृतियों में जिन जिन विषयों का वर्णन उपलब्ध है उन सबका यहाँ साङ्गोपाङ्ग सन्निवेश किया गया है। निबन्धकारों की शैली के अनुसार यत्र तत्र कठिन शब्दों का तात्पर्य भी प्रदर्शित किया गया है। बल्लालसेन ने ग्रन्थ के आरम्भ में अपना परिचय भी दिया है। ये बंगाल के अन्तिम स्वतन्त्र शासक सेनवंसावतंस, लक्ष्मण संवत् के संस्थापक तथा जयदेव, गोवर्धनाचार्य आदि प्रख्यात कविजनों के आश्रयदाता लक्ष्मणसेन (११६०–१२१०) के पिता थे। इनके पितामह का नाम था **हेमन्तसेन** तथा पिता का नाम था विजय-

सेन। इनका समय द्वादश शतक का (उत्तरार्ध है)। इन्होंने पाँच सागर-नामान्त ग्रन्थों का प्रणयन किया था जिनमें से 'अद्भुत सागर' (काशी से) तथा दानसागर (एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता से) प्रकाशित हुआ है। इनके अन्य तीन ग्रन्थ हैं प्रतिष्ठासागर तथा आचार-सागर (दानसागर के पृष्ठ ६, श्लोक ५५-५६ में निर्दिष्ट) तथा व्रत-सागर (दानसागर के पृ. ५२ पर निर्दिष्ट) जिनकी रचना 'दानसागर' से पहिले ही की गई थी। 'अद्भुत सागर' का आरम्भ १०८९ शक (११६७ ई०) में किया गया और उनके पुत्र लक्ष्मणसेन ने पूर्ण किया। 'दानसागर' १०९१ शक (=११६९ ई०) में प्रणीत हुआ। 'हारलता' तथा 'पितृदयिता' के प्रणेता अनिरुद्ध भट्ट इनके गुरु थे जिनकी विद्वत्ता तथा चारित्र्य की स्तुति दानसागर के आरम्भ में ही बड़े ही सुन्दर शब्दों में की गई है। इन्हीं से बल्लालसेन ने पुराणों तथा स्मृतियों का रहस्य सीखा; ऐसा उनका कथन है। इस प्रकार बल्लालसेन के साहित्यिक जीवन का काल ११५५ ई० से लेकर ११८० तक माना जाना चाहिए[1]।

दानसागर की उपक्रमणिका में बल्लालसेन ने पुराणों के स्वरूप के विवेचन प्रसग में जिस विवेचन शैल तथा प्रतिभा का परिचय दिया है वह मध्ययुगीय निबन्धकारों में नितान्त दुर्लभ है। पुराणों के वर्जन के विषय में उनकी युक्ति बड़ी सूक्ष्म तथा तलस्पर्शी है। दानसागर के लिए संगृहीत ग्रन्थों में जिनके श्लोक प्रमाण के रूप में उपन्यस्त हैं—में पुराण तथा धर्मशास्त्र का प्रामुख्य है। इन ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—ब्राह्म, वाराह, आग्नेय भविष्य, मत्स्य, वामन, वायवीय, मार्कण्डेय, विष्णु, शैव, स्कन्द, पद्म (१२ पुराण); शाम्बपुराण, कालिका, नन्दी, आदित्य, नरसिंह, मार्कण्डेय, विष्णुधर्मोत्तर, विष्णुधर्म (=८ उपपुराण), गोपथ ब्राह्मण, रामायण, महाभारत, मनु, वशिष्ठ, संवर्त आदि अनेक स्मृतियाँ (आरम्भ, श्लोक १६-२० जिन्हें अनावश्यक समझ कर पूरा नाम निर्देश यहाँ नहीं किया जाता)।

अन्य पुराण तथा उपपुराणों के श्लोक यहाँ संगृहीत नहीं किये गये हैं—इन ग्रन्थों के प्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में बल्लालसेन के विचार नितान्त आलोचनात्मक हैं तथा इनकी अलौकिक प्रतिभा और गाढ अध्ययन के द्योतक हैं। इन्हीं विचारों का संक्षेप के यहाँ उपन्यास किया जाता है। तथा मूलश्लोक टिप्पणी में दिये गये हैं।[2]

---

१. द्रष्टव्य काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र भाग १ पृ. ३४०-३४१ तथा खण्ड ५ भाग २ पृ. ८७०।

२. भागवतञ्च पुराणं ब्रह्माण्डञ्चैव नारदीयञ्च।
दानविधिशून्यमेतत् त्रयमिह न निबद्धमवधार्यं ॥ ५७ ॥

दानसागर का कथन है कि भागवत पुराण, ब्रह्माण्ड तथा नारदीय—इन तीनों पुराणों से श्लोकों का संग्रह इसलिए नहीं किया गया कि ये तीनों दानविधि से शून्य हैं। यह कथन भागवत के लिए निर्णायक माना जा सकता है कि बल्लाल सेन की दृष्टि में श्रीमद्भागवत ही वास्तव 'भागवत' पुराण है, क्योंकि सचमुच इसमें दानविधि का प्रतिपादन नहीं मिलता। देवीभागवत का भागवत शब्द से संकेत इन्हें मान्य नहीं है, क्योंकि इस भागवत में एक समग्र अध्याय (स्कन्ध ९, अ० ३०) ही दान के विषय का सांगोपांग वर्णन करता है। ग्रन्थकार की दृष्टि में 'देवीभागवत' अभिमत 'भागवत' पुराण होता, तो ऐसी आलोचना व्यर्थ होती। लिंगपुराण के श्लोकों का चयन इसलिए नहीं किया गया कि मत्स्यपुराण में वर्णित महादान का सार ही इस पुराण में

बृहदपि लिङ्गपुराणं मत्स्यपुराणोदितैर्महादानैः।
अवधार्य तुल्यसारं दाननिबन्धेऽत्र न निबद्धम् ॥ ५८ ॥
सप्तम्यैव पुराणं भविष्यमपि संगृहीतमतियत्नात्।
त्यक्त्वाष्टमी नवम्यौ कल्पौ पाषण्डिभिर्ग्रस्तौ ॥ ५९ ॥
लोकप्रसिद्धमेतद्विष्णु-रहस्यञ्च शिवरहस्यञ्च।
द्वयमिह न परिगृहीतं संग्रहरूपत्वमवधार्य ॥ ६० ॥
भविष्योत्तरमाचार-प्रसिद्धमविरोधि च।
प्रामाण्यज्ञापकादृष्टेर्ग्रन्थादस्मात् पृथक् कृतम् ॥ ६१ ॥
प्रचरद्रूपतः स्कन्दपुराणैकांशतोऽधिकम्।
यत् खण्डत्रितय पौण्डरेरावन्तिकथाश्रयम् ॥ ६२ ॥
तार्क्ष्यं पुराणमपरं ब्राह्ममाग्नेयमेव च।
त्रयोविंशतिसाहस्रं पुराणमपि वैष्णवम् ॥ ६३ ॥
षट् सहस्रमितं लैङ्गं पुराणमपरं तथा।
दीक्षाप्रतिष्ठापाषण्ड-युक्तिरत्नपरीक्षणैः ॥ ६४ ॥
मृषावंशानुचरितैः कोषव्याकरणादिभिः।
असङ्गतकथाबन्ध-परस्परविरोधतः ॥ ६५ ॥
तन्मीनकेतनादीनां भण्डपाषण्डलिङ्गिनाम्।
लोकवञ्चनमालोक्य सर्वमेवावधीरितम् ॥ ६६ ॥
तत्पुराणोपपुराणसंख्याबहिष्कृतं कश्मलकर्मयोगात्।
पाषण्डशास्त्रानुमतं निरूप्य देवीपुराणं न निबद्धमत्र ॥ ३७ ॥
ये दानधर्मविधि संस्तुतायेपुराणपुण्यागमस्मृतिगिरां बहवो विवर्त्ताः।
ते ग्रन्थविस्तरभयादविचित्य केचिदस्माभिरत्रकलिताः कलयन्तु सन्तः ॥ ६८ ॥

—दानसागर : उपक्रमणिका

उपलब्ध होता है। फलतः बल्लालसेन लिंगपुराण को मत्स्य में अवान्तर कालीन ही नहीं मानते, प्रत्युत महादान के विषय में उसे मत्स्य का अधमर्ण भी मानते हैं। भविष्यपुराण से सप्तमीं तिथि के वर्णन तक तो श्लोकों का संग्रह किया गया, अष्टमी तथा नवमी तिथि के परित्याग का कारण पाखंडियों के द्वारा उनका दूषित किया जाना है। शिवरहस्य और विष्णु रहस्य तो लोक में प्रचलित हैं, परन्तु इनसे श्लोक संग्रह इसीलिए नहीं किया गया कि ये संग्रहरूप हैं; मौलिक ग्रन्थ बिल्कुल नहीं हैं। भविष्योत्तर आचार वर्णन के कारण प्रसिद्ध तथा सिद्धान्तों से अविरोधी होने पर भी प्रामाण्य के ज्ञापन का कोई साधन नहीं है अर्थात् इस पुराण में दिये गये सिद्धान्तों की प्रामाणिकता की पुष्टि कथमपि नहीं की जा सकती और इसी कारण वह वर्जित कोटि में रखा गया है, यद्यपि इस पुराण में आचारों का वर्णन है तथा इसके कथन शिष्ट सिद्धान्तों से कथमपि विरुद्ध नहीं हैं। अन्य पुराणों के वर्णन का कारण नीचे दिया गया है—स्कन्द पुराण के तीन खण्ड जो पौण्ड, रेवा तथा अवन्ती की कथा पर आश्रित हैं—ये लोक में प्रचलितरूप से एकांश में अधिक हैं। गरुड पुराण, दूसरा ब्राह्म०, आग्नेय, तेइस हजार श्लोकों वाला विष्णुपुराण, ६ हजार श्लोकों वाला दूसरा लिंग पुराण-दीक्षा, प्रतिष्ठा, पाखण्डियों अर्थात् बौद्धो की युक्ति, रत्नपरीक्षण, मिथ्या वंशानुचरित, कोष-व्याकरण आदि, असंगत कथाओं का निवेश, परस्पर विरोध का अस्तित्व, कामदेव सम्बन्धी कथा, भण्ड, धूर्त, पाखण्ड (बौद्ध) तथा लिंगी (संन्यासी, पाशुपत, पाञ्चरात्र आदि) के द्वारा लोक का प्रवञ्चन देखकर ऊपर निर्दिष्ट पुराणों तथा उपपुराणों का तिरस्कार किया गया है। 'देवीपुराण' का भी यहाँ संग्रह नहीं किया गया है, क्योंकि एक तो यह पुराण तथा उपपुराण की संख्या से बहिष्कृत है, दूसरे निन्दित कर्मों (जैसे मारण, मोहन आदि) का यहाँ सन्निवेश है और तीसरे पाषण्ड-शास्त्र—तन्त्र शास्त्र के मत का यह अनुसरण करने वाला है। तात्पर्य है कि ऊपर लिखे गये ग्रन्थों का विभिन्न कारणों से प्रामाण्य है ही नहीं और इसी कारण इनके श्लोकों का संग्रह इस दानसागर में नहीं किया गया है।

दानसागर का रचनाकाल निश्चित होने से बल्लालसेन के पूर्वोक्त कथन बड़े महत्त्व तथा गौरव से सम्पन्न है। ऊपर इसका रचनाकाल ११६९ ईस्वी बतलाया गया है। फलतः १२वीं शती के मध्यकाल में पुराणों उपपुराणों की स्थिति के विषय में ये कथन नितान्त महत्त्व-शाली है। इन कथनों के प्रमुख परिणाम इस प्रकार हैं—

(क) श्रीमद्भागवत ही 'भागवत' नाम से अभिहित था। देवी भागवत नहीं। ऐसा यदि नहीं होता, तो दानविषयक एक पूरे अध्याय के रहने पर भागवत दानविधि से शून्य नहीं बतलाया जाता।

(ख) वायु तथा शिव दोनों पुराणों में परिगणित किये गये हैं, यद्यपि मेरी दृष्टि में वायु० ही महापुराण के अन्तर्गत है तथा शिव पुराण तान्त्रिक विधियों से सम्पन्न होने के हेतु उपपुराण ही है।

(ग) ब्राह्म, आग्नेय, लिंग तथा विष्णु—ये पुराण दो प्रकार से उस समय वर्तमान थे। ६ हजार श्लोकों वाला लिंग पुराण भी उसी प्रकार अप्रामाणिक था, जिस प्रकार २३ हजार श्लोकों वाला विष्णु पुराण। यह तथ्य कूर्म पुराण के एक विशिष्ट उल्लेख से भी समर्थित होता है। कूर्म (१।१७-२०) ने उपपुराणों का जो नाम निर्दिष्ट किया है उसमें स्कन्द, वामन, ब्रह्माण्ड तथा नारदीय पुराणों के समान ही नाम मिलते हैं। इससे यह परिणाम निकालना अनुचित न होगा कि बहुत से उपपुराण पुराणों के संक्षेप रूप थे और इसीलिए वे उन्हीं नामों से प्रख्यात थे। बल्लालसेन का पूर्वोक्त कथन इसकी सत्यता प्रमाणित कर रहा है। बृहत् लिंग पुराण के उल्लेख के साथ ही साथ निर्दिष्ट ६ हजार श्लोकों वाला लिंग पुराण प्रमाणित करता है कि इनमें से प्रथम तो महापुराण की कोटि में था और दूसरा उपपुराण था। दोनों यहाँ संगृहीत नहीं है और इसके निमित्त कारण भी भिन्न-भिन्न ही बतलाये गये हैं।

(घ) वह तान्त्रिक विधियों से घृणा करते थे और इसीलिए 'देवीपुराण' को वे प्रमाण से बहिष्कृत मानते थे तथा स्कन्द के कतिपय अंशों को भी।

(ङ) गरुड पुराण भी बल्लालसेन की दृष्टि में अनेक कारणों से जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है प्रमाण कोटि में नहीं आता।

दानसागर के विस्तृत निर्देशों के आधार पर निकाले गये ये सिद्धान्त १२वीं शती में पुराण-उपपुराणों की सत्ता-असत्ता तथा प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय पर विशेष प्रकाश डालते हैं जो ऐतिहासिक अनुशीलन के लिए विशेष उपयोगी और उपादेय है।

चतुर्थ परिच्छेद

पुराण का परिचय

(क) पुराण का लक्षण

पुराण के साथ 'पञ्चलक्षण' का सम्बन्ध प्राचीन तथा घनिष्ठ है। पञ्च-लक्षण के भीतर निम्नलिखित विषय इस प्रख्यात श्लोक के द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं—

> **सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।**
> **वंश्यानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥**

पुराण विषयक यह पद्य प्रायः प्रत्येक पुराण में उपलब्ध होता है।[1] 'पञ्च-लक्षण' शब्द पुराण का इतना अनिवार्य द्योतक माना जाता था कि अमरकोश में यह शब्द बिना किसी व्याख्या के ही प्रयुक्त किया गया है। व्याख्या-विहीन पारिभाषिक शब्द का प्रयोग उसकी सार्वभौम लोक-प्रियता का संकेतक माना जाता है। इस शब्द के विषय में भी यही तथ्य सर्वतोभावेन क्रियाशील माना जाना चाहिए।

पुराण की सर्वत्र मान्य परम्परा के अनुसार ये ही पाँच विषय वर्णनीय माने गये हैं :—

(१) सर्ग—

जगत् की तथा उसके नाना पदार्थों की उत्पत्ति अथवा सृष्टि 'सर्ग' कहलाती है।

> **अव्याकृतगुणक्षोभात् महतस्त्रिवृतोऽहमः।**
> **भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते॥**

—भाग० १२।७।११

---

१. यही लक्षण किञ्चित् पाठ भेद से या ऐक्यरूपेण इन पुराणों में प्राप्त होता है—विष्णु पुराण ३।६।२४; मार्कण्डेय १३४।१३; अग्नि १।१४, भविष्य २।५, ब्रह्मवैवर्त १३३।६, वराह २।४, स्कन्द पुराण (प्रभास खण्ड, २।८४), कूर्म (पूर्वार्ध १।१२), मत्स्य ५३।६४; गरुड (आचार काण्ड २।२८), ब्रह्माण्ड (प्रक्रियापाद १।३८); शिवपुराण (वायवीय संहिता, १।४१)।

आशय है कि जब मूल प्रकृति में लीन गुण क्षुब्ध होते हैं, तब महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत् तत्त्व से तीन प्रकार तामस, राजस तथा सात्त्विक—के अहंकार बनते हैं। त्रिविध अहंकार से ही पञ्चतन्मात्रा (भूतमात्र), इन्द्रिय तथा (पंच) भूतों की उत्पत्ति होती है। इसी उत्पत्ति क्रम का नाम सर्ग है।

(२) प्रतिसर्ग—

सर्ग से विपरीत वस्तु अर्थात् प्रलय। विष्णु पुराण में प्रतिसर्ग के स्थान पर 'प्रतिसंचर' शब्द का प्रयोग मिलता है (विष्णु १।२।२५)। श्रीमद्भागवत में इस शब्द के स्थान पर 'सस्था' शब्द प्रयुक्त हुआ है (१२।७।१७):—

> नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः।
> संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धाऽस्य स्वभावतः॥

इस ब्रह्माण्ड का स्वभाव से ही प्रलय हो जाता है और यह प्रलय चार प्रकार का है—नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य तथा आत्यन्तिक। यही 'संस्था' शब्द से अभिहित किया जाता है।[1]

(३) वंश—

> राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः॥
>
> —भाग० १२।७।१६

अर्थात् ब्रह्मा जी के द्वारा जितने राजाओं की सृष्टि हुई है, उनकी भूत, भविष्य तथा वर्तमानकालीन सन्तान-परम्परा को 'वंश' नाम से पुकारते हैं। भागवत के द्वारा व्याख्यात इस शब्द के भीतर राजाओं की ही सन्तान-परम्परा का उल्लेख प्राधान्यधिया है, परन्तु 'वंश' को राजवंश तक ही सीमित करना उपयुक्त नहीं है। इस शब्द के भीतर ऋषियों के वंश का ग्रहण अन्य पुराणों में किया गया है।

(४) मन्वन्तर—

पुराण के अनुसार सृष्टि के विभिन्न काल-मान का द्योतक यह शब्द है। पौराणिक काल-गणना का महत्त्व तथा स्वरूप आगे दिखलाया जायगा।

---

१. भागवत (३।१०।१४) में प्रलय के लिए प्रयुक्त प्रति संक्रम शब्द प्रतिसर्ग के समान ही संक्रम (सर्ग) से विपरीत तत्त्व का द्योतक है—

> काल-द्रव्य-गुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसंक्रमः॥

विष्णु पुराण का 'प्रतिसंचर' शब्द इसी शैली का शब्द है।

मन्वन्तर १४ होते हैं और प्रत्येक मन्वन्तर का अधिपति एक विशिष्ट मनु हुआ करता है जिसके सहयोगी पांच पदार्थ और भी होते हैं।

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
ऋषयोंऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥

—भाग० १२।७।१५

मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान् के अंशावतार—इन छ' विशिष्टताओं से युक्त समय को 'मन्वन्तर' कहते हैं।

(५) वंश्यानुचरित—

वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये। —भाग० १२।७।१६

पूर्वोक्त वंशों में उत्पन्न हुए वंशधरों का तथा मूलपुरुष राजाओं का विशिष्ट विवरण जिसमें वर्णित होता है वह 'वंशानुचरित' कहलाता है। यहाँ मनुष्य वंश में प्रसूत महर्षियों का तथा राजाओं का चरित भी समाविष्ट समझना चाहिए। महर्षियों के चरित्र की अपेक्षा राजाओं के चरित्र का ही विशेष विवरण पुराणों में उपलब्ध होता है।

राजनीति शास्त्र में 'पुराणं पञ्चलक्षणम्' का एक नया ही संकेत उपस्थित किया गया है जो पूर्व निर्दिष्ट लक्षण से नितान्त भिन्न है। कौटिल्य अर्थशास्त्र (१-५) की व्याख्या में जयमङ्गला ने किसी प्राचीन ग्रन्थ से यह श्लोक उद्धृत किया है—

सृष्टि-प्रवृत्ति-संहार-धर्म-मोक्षप्रयोजनम्।
ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

इसमें 'पञ्चलक्षण' की एक नितान्त नूतन व्याख्या दी गई है। ध्यान देने की बात है कि धर्म पुराण का एक अविभाज्य लक्षण स्वीकार किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि मूल रूप से ही पुराण में धार्मिक विषयों का सन्निवेश अभीष्ट था। धर्म का सम्बन्ध पुराण के साथ अवान्तर शताब्दियों की घटना है जब वह विकसित होकर अन्य विषयों को भी अपने में सम्मिलित करने लगा था—आधुनिक संशोधकों का प्रायः यही सर्वमान्य मत है। परन्तु जयमंगला के इस महत्त्वपूर्ण उल्लेख से यह मत यथार्थतः विशुद्ध नहीं प्रतीत होता। 'मन्वन्तराणि सद्धर्मः' कह कर भागवत ने भी मन्वन्तर के भीतर धर्म का उपन्यास न्याय्य माना है। यह कथन पूर्वोक्त सिद्धान्त का पोषक माना जा सकता है।[1]

---

१. द्रष्टव्य पुराण पत्रिका (भाग ४, अंक १) में पण्डित राजेश्वरशास्त्री द्रविड का लेख 'भारतीयराजनीतौ पुराणपञ्चलक्षणम्' पृ० २३६-२४४। जुलाई १९६४। प्रकाशक अखिल भारतीय काशिराज न्यास, रामनगर दुर्ग, वाराणसी।

इस संक्षिप्त विवरण में 'वंश' के अन्तर्गत देवताओं तथा ऋषियों के वंशों का भी समावेश समझना चाहिए। इन विषयों को पुराण का मौलिक वर्ण्य विषय मानने में प्रधान हेतु 'सूत' के कार्यो के साथ इसकी पूर्ण संगति है। पहिले कहा गया है कि पुराण का वाचन तथा व्याख्यान करना 'सूत' का प्रधान कार्य था। वायुपुराण के प्रथम अध्याय[1] में 'सूत' ने स्वयं ही 'स्वधर्म' का निर्देश इन महत्त्वपूर्ण शब्दों में किया है पुरातन सज्जनों के द्वारा दृष्ट या उपदिष्ट सूत का स्वधर्म है—देवताओं, ऋषियों, अमिततेज सम्पन्न राजाओं का तथा लोकविश्रुत महात्माओं के वंशों का धारण करना। ये महात्माजन आदि इतिहास-पुराणों में ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा दिष्ट होते हैं। सूत का अधिकार वेद में नहीं होता। वायुपुराण के इन वचनों के द्वारा इतिहास, पुराण और वेद का द्वैविध्य विशद-तया द्योतित किया गया है। यह पौराणिक वचन हमारे कथन की पुष्टि करता है कि पुराण की धारा वैदिकधारा से पृथक् विभिन्न धारा थी जिसके संरक्षण—संवर्धन, प्रचार-प्रसार का कार्य सूत की अधिकार सीमा के भीतर था।

पुराण का दश लक्षण

श्रीमद्भागवत में (२।१०।१–७ तथा १२।७।८–) दो स्थानों पर तथा ब्रह्मवैवर्त में दश लक्षण महापुराण के निर्दिष्ट हैं और पूर्वोक्त पांच लक्षणों को क्षुल्लक पुराण का लक्षण माना गया है। यहां दशलक्षण तथा पञ्चलक्षण के तुलनात्मक विवेचना का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया जा रहा है। एक बात ध्यातव्य हैं कि श्रीमद्भागवत के दोनों स्थलों पर दिये गये लक्षणों में मूलतः साम्य है, नामतः वैषम्य भले ही दृष्टिगोचर हो। इन दोनों स्थानों में शब्द-भेद अवश्य है, परन्तु अभिप्राय भेद नहीं। भागवत के द्वादश स्कन्ध के अनुसार ये दश लक्षण हैं :—

सर्गोऽथाथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥ —भाग १२।७।९

(१) सर्गः
(२) विसर्गः,
(३) वृत्तिः,
(४) रक्षा,
(५) अन्तराणि
(६) वंशः,
(७) वंशानुचरितम्
(८) संस्था
(९) हेतुः
(१०) अपाश्रयः

१. स्वधर्म एष सूतस्य सद्भिर्दृष्टः पुरातनैः।
देवतानामृषीणां च राज्ञां चामिततेजसाम् ॥ ३१ ॥
वंशानां धारणं कार्यं श्रुतानां च महात्मनाम्।
इतिहासपुराणेषु दिष्टा ये ब्रह्मवादिभिः ॥ ३२ ॥
न हि वेदेष्वधीकारः कश्चित् सूतस्य दृश्यते। —वायुपुराण, १ अध्याय

(१) सर्गः—पूर्ववर्णित 'सर्ग' से यह भिन्न नहीं है।

(२) विसर्ग—जीव की सृष्टि। परमेश्वर के अनुग्रह से ब्रह्मा सृष्टि का सामर्थ्य प्राप्त करके महत् तत्त्व आदि पूर्व कर्मों के अनुसार अच्छी और बुरी वासनाओं की प्रधानता के कारण जो यह चराचर शरीरात्मक उपाधि से विशिष्ट जीव की सृष्टि किया करते हैं इसे ही 'विसर्ग' कहते हैं। इसकी उपमा के विषय में कहा गया है कि जैसे एक बीज से दूसरे बीज का जन्म होता है, उसी प्रकार एक जीव से दूसरे जीव की सृष्टि को इस नाम से पुकारते हैं।[1] इस प्रकार विसृष्टिः =विविधा सृष्टिः, न तु वैपरीत्येन सृष्टिः प्रलयः।

(३) वृत्ति—जीवों के जीवन-निर्वाह की सामग्री। भागवत के अनुसार चर पदार्थों की अचर पदार्थ वृत्ति है।[2] मानव जीवन को चलाने के लिए जिन वस्तुओं का उपयोग मनुष्य करता है वही उसकी वृत्ति है। चावल, गेहूँ आदि अन्न सब वृत्ति के अन्तर्गत आते हैं। कुछ वृत्ति को तो मनुष्य ने स्वभाववश अपनी कामना से निश्चित कर लिया हैं और कुछ वृत्ति को शास्त्र के आदेश के कारण वह ग्रहण करता है। दोनों का उद्देश्य एक ही है-मानव जीवन का धारण तथा संरक्षण।

(४) रक्षा—इसका सम्बन्ध भगवान् के अवतारों से है। भगवान् युग-युग में पशु-पक्षी, मनुष्य, ऋषि, देवता आदि के रूप में अवतार ग्रहण कर अनेक लीलायें किया करते हैं। इन अवतारों के द्वारा वे वेदत्रयी वेदधर्म-से विरोध करने वाले व्यक्तियों का संहार भी किया करते हैं। इस कारण भगवान् की यह अवतार लीला विश्व की रक्षा के लिए ही होती है। इसलिए इसकी संज्ञा है—रक्षा।[3]

भागवत ने इस पद्य के द्वारा संक्षेप में अवतार-तत्त्व के हेतु पर प्रकाश डाला है। अवतार का लक्ष्य वेद के विरोधियों का संहार करना तथा वेदधर्म की

---

१. पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद् बीजं चराचरम्।

—भाग० १२।७।१२

इसका स्वरूप द्रष्टव्य देवीभागवत ९ स्कन्द, ३ अ०।

२. वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च।
कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा॥

—तत्रैव, श्लो० १३

३. रक्षाऽच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे।
तिर्यङ्-मर्त्यर्षि-देवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः॥

—भाग० १२।७।१४

रक्षा करना है। श्रीमद्भगवद् गीता के प्रख्यात श्लोकों की ओर यहां स्पष्ट संकेत है। परन्तु त्रयीद्वेषकों का हनन विभु भगवान् के लिए तो एक सामान्य कार्य है। इसी के लिए वे अवतार का ग्रहण नहीं करते; प्रत्युत लीला-विलास ही उसका प्रधान लक्ष्य है जिसका चिन्तन तथा कीर्तन करता हुआ जीव इस तापबहुल संसार से अपनी मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ होता है—

> नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
> अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥
>
> —भाग० १०।२९।१४

लीला के द्वारा आनन्द रस का आस्वादन कराना तथा करना ही भगवान् के अवतारों का लक्ष्य है। भगवान् अपनी इच्छा से ही देह का ग्रहण करते हैं, भक्तों की आर्त पुकार इसमें कारणभूत अवश्य होती है, परन्तु रहती है भगवान् की स्वेच्छा ही प्रधान प्रयोजिका। भक्तों का रक्षण करना भी उनकी ललित लीला से वहिर्भूत नहीं होता—

> स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये।
> सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः॥
>
> —भाग० १०।२७।११

जीव को मुक्ति प्रदान करना ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा का एकमात्र लक्ष्य होता है। भागवत की दशम स्कन्ध की प्रख्यात देवस्तुति में (१०।२) इसका बारबार निर्देश है—

> शृण्वन् गृणन् संस्मरयँश्च चिन्तयन्
> नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।
> क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-
> राविष्टचेता न भवाय कल्पते॥
>
> —भाग० १०।२।३७

इन समग्र तथ्यों का ग्रहण 'रक्षा' के अन्तर्गत समझना चाहिए।

(५) **अन्तराणि**—पूर्ववर्णित मन्वन्तर के समानही।

(६) **वंश**
(७) **वंशानुचरित** } पूर्ववत्

(८) **संस्था** = पूर्व सूची का 'प्रतिसर्ग'।

(९) **हेतु**—हेतु शब्द से जीव का ग्रहण अभीष्ट है। वह अविद्या के द्वारा कर्म का कर्ता है। संसार की सृष्टि में जीव को कारण मानने का रहस्य यह है कि जीव के अदृष्ट के द्वारा प्रयुक्त होने से विश्व का सर्ग तथा प्रतिसर्ग आदि होता है। फलतः

जीव अपने अदृष्ट के द्वारा विश्व—सृष्टि या विश्व-प्रलय का कारण होता है और इसी अभिप्राय से वह भागवत में 'हेतु'[1] जैसे सार्थक शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। चैतन्य के प्रधान से वह अनुशयी-साक्षी माना गया है और उपाधि प्राधान्य की विवक्षा से कुछ लोग उसे 'अव्याकृत' नाम से पुकारते हैं। जो लोग उसे चैतन्यप्रधान की दृष्टि में देखते हैं, वे उसे अनुशयी—प्रकृति में शयन करने वाला—कहते हैं, और जो उपाधि की दृष्टि से कहते हैं, वे उसे 'अव्याकृत' अर्थात् प्रकृतिरूप कहते हैं।

(१०) अपाश्रय—ब्रह्म का द्योतक महनीय अभिधान है। जीव की तीन वृत्तियाँ या अवस्थायें होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति और इन दशाओं में चैतन्य का निवास है जो क्रमशः विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ के नाम से प्रख्यात है। इन मायामयी वृत्तियों में साक्षिरूपेण जो सन्तत प्रतीत होता है वही अधिष्ठानरूप अपाश्रय तत्त्व है। वह इन अवस्थाओं परे तुरीय तत्त्व के रूप में लक्षित होता है वही ब्रह्म है और उसे 'अपाश्रय'[2] कहते हैं। नाम—विशेष (देवदत्त, घट, पट आदि) तथा रूप—विशेष (कोई मानव आकार का है, तो पशु आकार का है आदि आदि) के युक्त पदार्थों पर विचार करें, तो वे सत्तामात्र-वस्तु के रूप में सिद्ध होते हैं और उनकी बाहरी विशेषतायें नष्ट हो जाती हैं। वह सत्ता ही एकमात्र उन विशिष्टताओं के रूप में प्रतीत होती है और वह उनसे पृथक् भी है। ठीक यही दशा है देह तथा ब्रह्म के सम्बन्ध में। इस देह का आदि बीज है तथा पञ्चता (पञ्चत्व, नाश) है इसका अन्त (बीजादि पञ्चतान्तासु)। शरीर तथा विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से लेकर मृत्यु और महाप्रलय पर्यन्त जितनी नाना विशेष अवस्थायें होती उन सब में सब रूपों में परम सत्य ब्रह्म ही प्रतीत होता है और वह उनसे पृथक् भी है। वह 'युतायुत'[3] रूप में प्रतीत हो रहा है अनुस्यूत होने से अर्थात् वह

---

१. हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः।
तं चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे॥ —भाग० १२।७।१८

२. व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु
मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिस्वपाश्रयः॥
—भाग० १२।७।१९

जाग्रदादिस्ववस्थासु जीवतया वर्तन्ते इति जीववृत्तयः विश्व-तैजस-प्राज्ञाः। तेषु मायामयेषु साक्षितयान्वयः समाध्यादौ च व्यतिरेको यस्य तद् ब्रह्म संसार-प्रतीति-बाधयोरधिष्ठानावधिभूतमपाश्रय उच्यते।
—श्रीधरी

३. पदार्थेषु यथा द्रव्यं सन्मात्रं रूपनामसु।
बीजादि पञ्चतान्तासु ह्यवस्थासु युतायुतम्। वही, २०।

नाम रूपात्मक पदार्थों के साथ 'युत' भी है और उनसे पृथक् रूप में रहने के कारण 'अयुत' भी है। यही अधिष्ठान और साक्षी रूप में प्रतिभासित होने वाला ब्रह्म ही भागवत-सम्मत अपाश्रय तत्त्व हैं।

इसी ब्रह्म के ज्ञान होने से ईहा (चेष्टा या जगत्) की निवृत्ति हो जाती है। कब ? और कैसे ? इसका उत्तर संक्षेप में भागवतकार देते हैं—जब[1] चित्त स्वयं आत्मविचार से अथवा योगाभ्यास के द्वारा सत्त्व-रज-तम गुणों से सम्बन्ध रखने वाली व्यावहारिक वृत्तियों का और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि स्वाभाविक वृत्तियों का परित्याग कर जगत् के व्यापार से विराम पा लेता है-शान्त हो जाता है, तब शान्त वृत्ति के उदय होने पर 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों के द्वारा आत्म-ज्ञान का उदय होता है—वह आत्मा को जान लेता है। उस समय आत्मज्ञानी पुरुष अविद्याजनित कर्म-वासना से और कर्म प्रवृत्ति से निवृत्त हो जाता है।

संक्षेप में यही आश्रय तत्त्व है और यही भागवत का अन्तिम ध्येय है। इसीकी विशुद्धि के लिए पूर्व नव लक्षणों का उपपादन किया गया है। आत्मा की उपलब्धि ही वास्तव परम ध्येय है, परन्तु इस ज्ञान की पुष्टि के लिए पूर्व नव—सर्ग, विसर्ग आदि—लक्षणों का इसी निमित्त से विवरण दिया गया है—

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तिम दशम अध्याय में दश लक्षणों का निवेश है जो पूर्वोक्त लक्षणों के साम्य रखने पर भी नामतः भिन्न हैं:—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥

—भाग० २।१०।१

दश लक्षणों के नाम इस प्रकार हैं:—

(१) सर्गः
(२) विसर्गः
(३) स्थानम्,
(४) पोषणम्
(५) ऊतयः
(६) मन्वन्तरम्
(७) ईशानुकथा
(८) निरोधः
(९) मुक्तिः
(१०) आश्रयः।

१. विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तिभयं स्वयम्
योगेन वा तदात्मानं वेदेहाया निवर्तते ॥२१

—भाग० १२।७ अध्याय।

पूर्वोक्त लक्षणों के साथ तुलना करने से पहिले इनके स्वरूप से परिचित होना आवश्यक है। इस सूची में कतिपय नूतन लक्षण अवश्य प्रतीत होते हैं। फलतः उनके विश्लेषण की आवश्यकता है :—

(१) सर्गः — पूर्ववत् सर्गः
(२) विसर्गः — ,, विसर्गः ।
(३) स्थानम् = 'स्थिति-वैकुण्ठविजयः'

वैकुण्ठ भगवान् के विजय का नाम है स्थिति या स्थान। भगवान् ने पूर्व दोनों लक्षणों के द्वारा जिस विश्व ब्रह्माण्ड का निर्माण किया है वह अपनी नियमित मर्यादा के भीतर ही रहकर अपनी उन्नति या उत्कर्ष को धारण करता है। मर्यादा का उल्लंघन कर वह कभी अपना अभ्युदय प्राप्त नहीं कर सकता। प्रकृति के गुणवैषम्य से जो विराट् सृष्टि होती है, उसका नाम 'सर्ग' है। विराट् के एक अण्ड में ब्रह्मा के द्वारा जो व्यष्टि सृष्टि या विविधा सृष्टि होती है, उसका नाम 'विसर्ग' है। जिस सर्ग के पदार्थ अनुभूत होने पर जगत् की समष्टि का पूर्ण परिचय करा देते हैं सर्ग के रूप में। सर्ग से परे परमात्मा का दर्शन कर जीव कृतकृत्य हो जाता है, उसी भाँति 'विसर्ग' भी परमात्मा के अनुभव कराने का एक साधन है। अन्तर दोनों में इतना ही है कि सर्ग होता है महान् और विसर्ग होता है अपेक्षाकृत अल्प। फलतः दोनों तत्त्वों के वर्णन के पश्चात् उनकी स्थिति का विवरण भी न्याय-प्राप्त है।

भुवन कोश का समस्त विषय स्थिति या स्थान के भीतर अन्तर्निविष्ट समझना चाहिए। एक ब्रह्माण्ड में कितने लोक हैं, लोकों का विस्तार कितना है और उनका धारण किस प्रकार होता है, किन मर्यादाओं के पालन से ब्रह्माण्ड में स्थिरता है—आदि विषयों का विचार इस तृतीय लक्षण के भीतर निश्चित रूप से किया जाता है। भागवत का पञ्चम स्कन्ध, जिसमें भूगोल तथा खगोल का विशद विस्तृत विवरण प्रस्तुत है, 'स्थान' का उज्ज्वल उदाहरण है। इस विशाल आकाश में विचरणशील इन संख्यातीत ब्रह्माण्डों के जनक, स्थापक, मर्यादापालक भगवान् ही हैं। 'स्थिति वैकुण्ठविजयः' इसीलिए इसका यह विलक्षण लक्षण है। भगवान् के विजय का, सर्व-श्रेष्ठता का, लोकाधिपत्य का, सूचक तत्त्व ही 'स्थिति' नाम से भागवत में अभिहित है।

(४) पोषणम् = तदनुग्रहः ।

पोषण का अर्थ है भगवान् का अनुग्रह, भगवान् की दया। यह लक्षण पूर्व लक्षण के साथ नैसर्गिकरूपेण सम्बद्ध है। ब्रह्माण्ड के नियन्त्रण को, नियमन को तथा न्याय को अवलोकन कर जीव भगवान् की अलौकिक-घटना-पटीयसी माया-शक्ति के रहस्य को समझने लगता है। वह जान लेता है कि यह समग्र विश्व

ही भगवान् की कृपा का विलास है। भगवान् ताप-संताप से पीडित जन्तुओं के ऊपर अहैतुकी कृपा का वर्षण किया करते हैं। 'पोषण' जीव को भगवदुन्मुख बनाने में एक प्रेरक तत्त्व है। भागवत के षष्ठ स्कन्ध में तीनों प्रकार के जीवों—मानव, देवता तथा दैत्य के ऊपर भगवान् की नैसर्गिक कृपा का बड़ा ही विस्तृत विवरण है। अजामिल जैसा दुराचारी मानव, गुरु का अपकर्ता तथा विश्वरूप ब्राह्मण का हन्ता देवराज इन्द्र, हाथी समेत इन्द्र को निगल जाने वाला अत्याचारी दैत्य वृत्रासुर—इन तीनों जीवों पर भगवान् ने अपनी अचिन्त्य-शक्तिमयी कृपा का स्वाभाविक विलास दिखलाया था और तीनों का उद्धार किया था। इन आख्यानों के सिद्ध होता है कि भगवान् साधक के हृदय की रुझान, अभिरुचि, तथा प्रेम-प्रवणता के पारखी हैं।

एक ही वार के नामस्मरण से ही अगणित जन्म के पातक बालू की भीत के समान छिन्न भिन्न हो जाते हैं, तब साक्षात् दर्शन के प्रभाव की बात क्या कहीं जाय ? चित्रकेतु का यह वचन इस विषय में कितना औचित्यपूर्ण है—

> न हि भगवन्नघटितमिदं
> त्वद्दर्शनान् नृणामखिलपापक्षयः।
> यन्नामसकृच्छ्रवणात्
> पुल्कसकोऽपि विमुच्यते संसारात्।
>
> —भाग० ६।१६।४४

भागवत का यह 'पोषण' तत्त्व शाक्ततन्त्र के 'शक्तिपात' का प्रतिनिधि माना जा सकता है। यह वैदिक तत्त्व है; इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। श्री वल्लभाचार्य जी ने इस 'पोषण' को अपने वैष्णव सम्प्रदाय का अनिवार्य तत्त्व मानकर अपने मार्ग की ही संज्ञा इसी के आधार पर रखी है—**पुष्टिमार्ग**। फलतः यह लक्षण भागवत के संग विशदरूप से अनुस्यूत है।

(५) ऊतयः[1] = कर्मवासनाः

विचारणीय प्रश्न है कि भगवान् की अहैतुकी कृपा की वृष्टि प्रतिक्षण होती रहती है, तब भी जीव इतना दुःखी क्यों है ? उस वृष्टि का एक फीका छींटा

---

१. 'ऊति' की व्याख्या श्रीधर स्वामी के अनुसार यह है—

कर्मणां वासनाः वेञ् तन्तुसंचाने। ऊयन्ते कर्मभिः- संतन्यन्त इत्यूतयः। यद्वा वृध्यर्थात्संश्लेषार्थाद्वाऽवतेर्धातोरिदं रूपम। ऊयन्ते कर्मभिवृ॑ह्यन्ते संश्लिष्यन्त इति वा ऊतय इत्यर्थः ॥ ४ ॥

—श्रीधरी, भाग० २।१०।४

मिल जाने पर भी वह सौख्य-शान्ति से प्रफुल्लित हो उठता। इस प्रश्न का समाधान यह पञ्चम लक्षण कर रहा है। ऊति के कारण ही ऐसी दयनीय स्थिति है जीव की। ऊति का अर्थ है कर्मवासना—कर्म करने के लिए या करने से जो वासना जीव में उत्पन्न होती है वही प्रतिपक्षी होता है दया से लाभ न उठाने का। ऊति है कर्म-बन्धन जिससे जकड़ा हुआ जीव भगवत्सान्निध्य रूपी अमृत की ओर लपकता ही नहीं। वासना के दो प्रकार होते हैं शुभ-वासना और अशुभ वासना। शुभ वासना का दृष्टान्त है प्रह्लाद स्वयं जिसे गर्भ-स्थिति की दशा में ही नारद जी का सत्संग प्राप्त हुआ था और माता कयाधू के दानवी होने पर भी जिसकी प्रवृत्ति भगवान् की ओर स्वतः प्रसूत हुई। अशुभ वासना का उदाहरण है जय-विजय का चरित्र जिन्होंने वैकुण्ठ के द्वारपाल होकर भी सनकादिकों से द्वेष किया और जिसके कारण उन्हे तीन जन्मों तक असीम क्लेश भोगना पड़ा था।

(६) मन्वन्तराणि = सद्धर्मः

मन्वन्तर काल का विशिष्ट रूप माना है जिसमें सज्जनों के धर्म का प्रत्यक्षी-करण साधकों को होता है। पौराणिक कालतत्त्व का विश्लेषण विशदरूप से आगे किया जायगा।

(७) ईशानुकथा—

> अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्
> सतामीशकथा प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः॥

एक मन्वन्तर के बाद दूसरा मन्वन्तर और एक कल्प के बाद दूसरा कल्प आता है और सृष्टि का प्रवाह सदा जारी रहता है। सृष्टि में प्रवाह-नित्यता है। जीव इस सृष्टि में पड़ा हुआ इसके बाहर निकल की कोशिश किया करता है। परन्तु उसे सफलता अपने प्रयत्न में तभी मिलेगी जब वह भगवान् की लीलाओं की अमृतधारा में डुबकी लगाता रहेगा। इसीलिए मन्वन्तर के पश्चात् 'ईशानु कथा' का लक्षण निर्दिष्ट है। भगवान् तथा उनके नित्य पार्षदों के अवतारों की कथा 'ईशानुकथा' कहलाती है।

(८) निरोध

> निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः॥
>
> —भाग० २।१०।६

जब आत्मा अपनी शक्तियों के साथ सो जाता है, तब सारे जगत् का निरोध अर्थात् प्रलय हो जाता है। पञ्चलक्षण में 'प्रतिसर्ग' का यह प्रतिनिधि लक्षण है।

(९) मुक्ति

मुक्तिर्हित्वाऽन्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।

—तत्रैव, श्लो० ६

जब जीव अपने अन्यथा रूप को छोड़ कर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तब उसे मुक्ति कहते है। संसार-दशा में जीव अपने को देह इन्द्रियों के साथ अध्यस्त कर अपने को देह ही तथा इन्द्रियां ही मान बैठता है और उसी के अनुसार आचरण भी करता है। 'ऋते ज्ञानान्मुक्तिः' इस मान्य कथन के आधार पर ज्ञान के उदय होने पर 'मुक्ति' प्राप्त होती है। उस समय जीव मिथ्या ज्ञान या अध्यासजात समस्त भ्रमों से उन्मुक्त होकर अपने यथार्थ सच्चिदानन्द रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। दुःखों के आत्यन्तिक विलयन होने से यह 'मुक्ति' कहलाती है।

(१०) आश्रय

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥

—तत्रैव श्लोक ७

जिस तत्त्व से सृष्टि तथा प्रलय प्रकाशित होते हैं, वही आश्रय है—पर ब्रह्म तथा परमात्मा शास्त्रों में वही कहा गया है। जो नेत्र आदि इन्द्रियों का अभिमानी द्रष्टा जीव है, वही इन्द्रियों के अधिष्ठात देवता सूर्य आदि के रूप में भी है और नेत्र-गोलक आदि से युक्त जो यह देह है, वही उन दोनों को अलग-अलग करता है। इन तीनों में यदि एक का भी अभाव हो जाय, तो इतर दोनों की उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः जो इन तीनों को जानता है वही परमात्मा सबका अधिष्ठान आश्रय तत्त्व है। उसका आश्रय वह स्वयं ही है, दूसरा कोई नहीं (भाग० २।१०।८-९)

दोनों की पारस्परिक तुलना

भागवत के दो विभिन्न स्कन्धों में प्रतिपादित १० लक्षणों का स्वरूप संक्षेप में ऊपर निर्दिष्ट किया गया है। दोनों की तुलना करने पर दोनों में विशेष पार्थक्य प्रतीत नहीं होता।

द्वादशस्कन्ध	द्वितीयस्कन्ध
१. सर्ग २. विसर्ग	दोनों में समानभावेन गृहीत हैं।
३. 'अन्तराणि' के स्थान पर	स्पष्टतः 'मन्वन्तर' का उल्लेख।
४. 'अपाश्रय'—	„ 'आश्रय' का निर्देश।

५. हेतु—जीव का बोधक है। जीव की संसार प्राप्ति कराने वाले वासना रूप अविद्या कर्मादि ही हैं। उसके लिए 'ऊति' शब्द का प्रयोग पाते हैं। फलतः हेतु तथा ऊति के समानार्थक लक्षण निष्पन्न होते हैं।

६ + ७ वंश तथा वंशानुचरित का ग्रहण 'ईशानुकथा' में समझना चाहिए, क्योंकि हरि तथा उनके अनुवर्ती जनों की कथा के भीतर ऋषि तथा राजवंशों का समावेश अनुचित नहीं माना जा सकता।

८ संस्था के चार प्रकार :

(क) नैमित्तिक, प्रलय
(ख) प्राकृतिक „
(ग) नित्य „
} का अन्तर्भाव निरोध में

(घ) आत्यन्तिक प्रलय = मोक्ष में अन्तर्भाव

९ 'रक्षा'—के भीतर भगवान् के अवतार का तथा उसके लिए उनके हृदय में जगने वाली कृपा का भी बोध समझना चाहिए। द्वितीय स्कन्ध में इसी लक्षण को दो लक्षणों में विभक्त कर दिया है—ईशानुकथा तथा पोषण। फलतः

रक्षा = (क) ईशानुकथा
(ख) पोषण

१० वृत्ति—वृत्तिशब्द के द्वारा जीवों की आपस में संघर्षात्मक जीवन स्थिति का द्योतन होता है। इसी का द्योतन करता है स्थान या स्थिति शब्द द्वितीय स्कन्ध में। 'वैकुण्ठ विजय' का अर्थ होगा 'स्वकार्य साधकता' = जीवों का परस्पर उपमर्दक-भावेन अवस्थान।

ब्रह्माण्ड पुराण में निर्दिष्ट दश लक्षण प्रायः वही भागवत वाले ही हैं। थोड़ा ही यत्रक्वापि पार्थक्य है। यथा (१) सर्ग, (२) विसर्ग, (३) स्थितिः, (४) कर्मणां वासना, (५) मनूनां वार्ता, (६) प्रलयानां वर्णनम्, (७) मोक्षस्य निरूपणम्—ये सातों लक्षण समान ही हैं। (८) हरेः कीर्तनम्—के भीतर आश्रय तथा पोषण समझना चाहिए। (९ 'वेदानां च पृथक्-पृथक्' ईश की कथा का द्योतन करता है, क्योंकि वेदों में 'हरिः सर्वत्र गीयते' के अनुसार भगवान् की ही तो कथा अनुवर्णित है। (१०) वंशानुचरित का पृथग् से निर्देश है। इस प्रकार ये दश लक्षण भी पूर्वोक्त लक्षणों से साम्य रखते ही हैं।

ऊपर प्रतिपादित दश लक्षणों को पंचलक्षणों का ही आवश्यकतानुसारी विस्तार समझना चाहिए। सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तराणि तथा वंशानुचरित—ये पंचलक्षण तो भागवत के १२ स्कन्ध (अध्याय ७) में स्वशब्देन प्रतिपादित है—इसमें किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। इतर अवशिष्ट पञ्च लक्षणों का भी समावेश इन्हीं पञ्चलक्षण में भली भाँति किया जा सकता

है। उदाहरणार्थ देखिये। विसर्ग सर्ग का ही अवान्तर भेद है। सर्ग ठहरा ब्रह्माण्ड की सृष्टि और विसर्ग ठहरा उसी के अन्तर्गत जीव-जन्तुओं की सृष्टि। फलतः विसर्ग की गतार्थता सर्ग में मानना ही न्याय्य है। अपाश्रय (या आश्रय) शब्द से उपात्त परमात्मा का सर्ग के कर्ता होने से प्रतिपादन उचित है। हेतु (जीव) तथा ऊति (= कर्मवासना) का सर्ग-हेतु होने के कारण 'सर्ग' के भीतर अन्तर्भाव यथार्थ है। वृत्ति या स्थान का भी ग्रहण वंशानुचरित के भीतर समझना चाहिए। भगवान् के अवतारों की उत्पत्ति तो किसी वंश को ही लेकर ही होती है। इसलिए तद्-विषय-द्योतक ईशानुकथा, पोषण अथवा रक्षा का भी अन्तर्भाव 'वंशानुचरित' के भीतर करना सर्वथा मान्य है। इसलिए भगवान् की लीला के बोधक चरित का—अवतार कथा का समावेश वंशानुचरित में करना उचित ही है। इस प्रकार तारतम्य परीक्षण करने पर भागवत की दशलक्षणी पञ्चलक्षणी का ही विकसित अथ च परिबृंहित स्वरूप है।

दशलक्षण पुराण-सामान्य का लक्षण न होकर पुराण-मूर्धन्य श्रीमद्भागवत का ही निजी लक्षण है – यही मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। भगवान् के स्वरूप का तथा भागवत धर्म का विवेचन ही श्रीमद्भागवत के उदय का प्रधान हेतु है। फलतः भगवान् ही वहाँ प्राधान्येन विवेच्य तत्त्व हैं। इतर नव लक्षण तो उन्हीं के पोषक होने के कारण यहाँ उपन्यस्त हैं अर्थात् वे केवल ईश्वर-स्वरूप के परिज्ञान के लिए ही विवेचित हैं। उनका विवेचन प्रकृत परमेश्वर के स्वरूपाधायक होने के कारण है; उनमें अपनी कोई भी पृथग् उपयोगिता अथवा सत्ता नहीं है। इसीलिए भागवतकार की स्पष्ट उक्ति है—

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।

आदि के नव लक्षण दशमतत्त्व अथाश्रम तत्त्व की विशुद्धि अर्थात् यथार्थ निश्चय के लिए हैं। परमात्मा तथा जीव के परस्पर सम्बन्ध का अवलम्बन कर इन तत्त्वों का प्रतिपादन भागवत में किया गया है। पंचकृत्यकारी परमशिव के समान ही परमेश्वर के पंचकृत्यकारिता की कल्पना कथमपि अप्रासङ्गिक नहीं है[1]। सर्ग, स्थिति, निरोध, विसर्ग तथा पोषण परमशिव के पञ्चकृत्य उत्पत्ति, स्थिति, लय, निग्रह तथा अनुग्रह के क्रमशः भागवत प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। पञ्चकृत्यकारी परमेश्वर के दो रूप होते हैं—

(क) उपासना के निमित्त ग्राह्य अनुग्राहक रूप, जिसका अभिधान 'अपाश्रय' या 'आश्रय' है।

---

१. द्रष्टव्य "पुराणम्" (१ वर्ष, २ संख्या) में पुराणलक्षणानि 'शीर्षकलेख'। —पृ० १३५-१३८ (फरवरी १९६०)

(ख) जगत् का परिचालन करने वाला कालरूप, जिसका संकेत 'मन्वन्तर' शब्द से किया गया है ।

निगृहीत जीवभाव को प्राप्त होने वाले व्यक्ति को संसार में बन्धन में डालने वाला है ऊति (कर्मवासना), संसार से विमुक्त करने वाला साधन है है ईशानुकथा और भगवान् के पोषण तत्त्व (अनुग्रह) का साक्षात् फल है मुक्ति । इस प्रकार ये दशों भगवान् तथा उनके स्वरूप से ही सम्बन्ध रखते हैं । फलतः ये श्रीमद्भागवत के निजी वैशिष्ट के प्रतिपादक होने से भागवत के ही लक्षण है, पुराण-सामान्य के नहीं । इसीलिए भागवत में इनका द्विः उल्लेख या पुनरावृत्ति मीमांसकों के द्वारा अर्थनिर्णय के लिए निर्धारित 'अभ्यास' का ही अभिव्यक्त रूप है ।

श्रीमद्भागवत का वर्ण्य विषय ही है भगवान् और इस भगवान् के साथ तन्मयता की प्राप्ति के लिए आवश्यक भागवत धर्मों का भी विश्लेषण इसी निमित्त उपादेय मानकर किया गया है । भागवत का समग्र शरीर ही इस तात्पर्य को अग्रसर करता है, परन्तु भागवत के प्रथम स्कन्ध में (५।१०–१७) तथा द्वादश स्कन्ध में १२ वें अध्यायमें पुनरावृत्त उन्हीं पद्यों को पढ़कर किसी को भी सचेता को समझते देर न लगेगी कि भगवान् ही भागवत का साध्यतत्त्व है और भक्तियोग ही साधनतत्त्व है । फलतः पूर्वोक्त दशलक्षणों का भागवतके साथ अविनाभाव सम्बन्ध मानना सर्वथा न्याय्य और सुसंगत है। भागवतकार का यह बड़ा ही मार्मिक कथन है कि वर्णाश्रम के अनुकूल आचरण, तपस्या और अध्ययन आदि के लिए जो बहुत बड़ा परिश्रम किया जाता है उसका फल है यश अथवा लक्ष्मी की प्राप्ति । परन्तु भगवान के गुण, लीला आदि के कीर्तन का फल है श्रीधर के चरणों की अविस्मृति । और इसीके द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होने से भक्ति तथा विज्ञान, वैराग्य-युक्त ज्ञान की उपलब्धि होती है जो मानवजीवन का परमोच्च लक्ष्य है :—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानं च विज्ञानविराग-युक्तम् ॥

— भाग० १२।१२।५४

(ख) पुराणों का परिचय

(१) ब्रह्मपुराण

यह पुराण 'आदि ब्राह्म' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके अध्यायों की संख्या २४५ है और श्लोकों की संख्या १४,००० के आस-पास है। पुराण-सम्मत समस्त विषयों का वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। सृष्टि-कथन के अनन्तर सूर्यवंश तथा सोमवंश का अत्यन्त संक्षिप्त विवरण है। पार्वती-आख्यान बड़े विस्तार से १० अध्यायों में—(३० अध्याय मे ५० तक)—दिया गया है। मार्कण्डेय के आख्यान (अध्याय ५२) के अनन्तर गौतमी, गंगा, कृत्तिका तीर्थ, चक्रतीर्थ, पुत्रतीर्थ, यमतीर्थ, आपस्तम्व–तीर्थ आदि अनेक प्राचीन तीर्थों के माहात्म्य गौतमी माहात्म्य के अन्तर्गत (अ० ७०—१७५) दिये गये हैं। भगवान् कृष्ण के चरित्र का भी वर्णन ३२ अध्यायों (अध्याय १८० से २१२ तक) में बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। कथानक वही है जिसका वर्णन भागवत के दशम स्कन्ध में है। मरण के अनन्तर होनेवाली अवस्था का वर्णन अनेक अध्यायों में किया गया है। इस पुराण में भूगोल का विशेष वर्णन नहीं है। परन्तु उड़ीसा में स्थित कोणादित्य (कोणार्क) नामक तीर्थ तथा तत्सम्बद्ध सूर्य-पूजा का वर्णन इस पुराण की विशेषता प्रतीत होती है। सूर्य की महिमा तथा उनके व्यापक प्रभुत्व का निर्देश छ अध्यायों (अ० २८—३३) में हैं।

इस पुराण में सांख्ययोग की समीक्षा भी बड़े विस्तार के साथ दस अध्यायों (अ० २३४—४४) में की गई है। कराल जनक के प्रश्न करने पर महर्षि वसिष्ठ ने सांख्य के महनीय सिद्धान्तों का विवेचन किया है। ध्यान देने की बात है कि इन पुराणों में वर्णित सांख्य अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में अवान्तरकालीन सांख्य से भेद रखता है। पिछले सांख्य में तत्त्वों की संख्या केवल २५ हीं है। परन्तु यहाँ मूर्धस्थानीय २६ वें तत्त्व का भी वर्णन है। पौराणिक सांख्य निरीश्वर नहीं है तथा उसमें ज्ञान के साथ भक्ति का भी विशेष पुट मिला हुआ है। इस ग्रन्थ में एक और भी विशेषता है। इसके कतिपय अध्याय महाभारत के १२ वें पर्व (शान्ति पर्व) के कतिपय अध्यायों से अक्षरशः मिलते हैं। धर्म ही परम पुरुषार्थ है; इस तत्त्व का प्रतिपादन इस पुराण के अन्त में कितनी सुन्दर भाषा में किया गया हैं :—

> धर्मे मतिर्भवतु वः पुरुषोत्तमानां,
> स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
> अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना,
> नैव प्रभावमुपयन्ति न च स्थिरत्वम् ॥
>
> (ब्र० पु० २४५।३५)

(२) पद्म पुराण

यह पुराण परिमाण में स्कन्दपुराण को छोड़कर अद्वितीय है। इसके श्लोकों की संख्या ५०,००० बतलाई जाती है। इस प्रकार से इसे महाभारत का आधा और भागवतपुराण से तिगुना परिणाम में समझना चाहिये। इसके दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। (१) बंगाली संस्करण और (२) देवनागरी संस्करण। बंगाली संस्करण तो अभी तक अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों में पड़ा है। देवनागरी संस्करण आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली में चार भागों में प्रकाशित हुआ है। आनन्दाश्रम संस्करण में छः खण्ड हैं ;-(१) आदि (२) भूमि (३) ब्रह्मा (४) पाताल (५) सृष्टि और (६) उत्तर खण्ड। परन्तु भूमिखण्ड (अध्याय १२५—४८।४९ ने ही पता चलता है कि छः खण्डों की कल्पना पीछे की है। मूल में पांच ही खण्ड थे जो बंगाली संस्करण में आज भी उपलब्ध होते है।

> प्रथमं सृष्टिखण्डं हि, भूमिखंडं द्वितीयकम्।
> तृतीयं स्वर्गखंडं च, पातालश्च चतुर्थकम्॥
> पंचमं चोत्तरं खंडं, सर्वपापप्रणाशनम्।

अब इन्हीं मूलभूत पाँच खंडों का वर्णन क्रमशः किया जा रहा है।

(१) सृष्टि खण्ड—इसमें ८२ अध्याय हैं। इसके प्रथम अध्याय (श्लोक ५५—६०) से पता चलता है इसमें ५५,००० श्लोक थे तथा यह पुराण पाँच पर्वों में विभक्त था—(१) पौष्कर पर्व—जिसमें देवता, मुनि, पितर तथा मनुष्यों की ९ प्रकार की सृष्टि का वर्णन है। (२) तीर्थपर्व—जिसमें पर्वत, द्वीप तथा सप्त सागर का वर्णन है। (३) तृतीय पर्व—जिसमें अधिक दक्षिणा देनेवाले राजाओं का वर्णन है। (४) राजाओं का वंशानुकीर्तन है। (५) मोक्ष पर्व में मोक्ष तथा उसके साधन का वर्णन किया गया है। इस खंड में समुद्र-मंथन, पृथु की उत्पत्ति, पुष्कर तीर्थ के निवासियों का धर्मकथन, वृत्रासुर-संग्राम, वामनावतार, मार्कण्डेय की उत्पत्ति, कार्तिकेय की उत्पत्ति, रामचरित, तारकासुरवध आदि कथाएँ विस्तार के साथ दी गई हैं।

(२) भूमि-खण्ड—इस खंड के आरम्भ में शिवकर्मा नामक ब्राह्मण की पितृभक्त के द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति का वर्णन है। राजा पृथु के जन्म और चरित्र का वर्णन है। किसी छद्मवेशधारी पुरुष के द्वारा जैनधर्म का वर्णन सुन कर वेन उन्मार्गगामी बन जाता है। तब सप्तर्षियों के द्वारा उसकी भुजाओं का मन्थन होता है जिससे पृथु की उत्पत्ति होती है। नाना प्रकार के नैमित्तिक तथा आभ्युदयिक दानों के अनन्तर सती सुकला की पातिव्रतसूचक कथा बड़े विस्तार के साथ दी गई है। ययाति और मातलि के अध्यात्म-विषयक

सम्वाद में पाप और पुण्य के फलों का वर्णन और विष्णुभक्ति की प्रशंसा की गई है। महर्षि च्यवन की कथा भी बड़े विस्तार के साथ दी गई है। यह पद्मपुराण विष्णु-भक्ति का प्रधान ग्रन्थ है। परन्तु इसमें अन्य देवताओं के प्रति अनुदार भावों का प्रदर्शन कहीं भी नहीं किया गया है। शिव और विष्णु की एकता के प्रतिपादक ये श्लोक कितने महत्त्वपूर्ण हैं:—

> शैवं च वैष्णवं लोकमेकरूपं नरोत्तम।
> द्वयोश्चाप्यन्तरं नास्ति एकरूपं महात्मनोः॥
> शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे।
> शिवस्य हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये शिवः॥
> एकमूर्तिस्त्रयो देवाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
> त्रयाणामन्तरं नास्ति, गुणभेदाः प्रकीर्तिताः॥

(३) स्वर्ग-खण्ड—इस खंड में देवता, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष आदि के लोकों का विस्तृत वर्णन है। इसी खण्ड में शकुन्तलोपाख्यान है जो महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से सर्वथा भिन्न है; परन्तु कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' से बिलकुल मिलता-जुलता है। इससे कुछ विद्वानों का कहना है कि कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध नाटक की कथावस्तु महाभारत से न लेकर इसी पुराण से ली है। 'विक्रमोर्वशी' के सम्बन्ध में भी यही बात है।

(४) पाताल खण्ड—इसमें नागलोक का विशेष रूप से वर्णन है। प्रसंगतः रावण के उल्लेख होने से पूरे रामायण की कथा इसमें कही गई है। इसमें विशेष बात यह है कि कालिदास के द्वारा 'रघुवंश' में वर्णित राम की कथा से यह कथा मिलती-जुलती है। रावण के वध के अनन्तर सीता-परित्याग तथा रामाश्वमेध की कथा भी इसमें सम्मिलित है। यह कथा भवभूति के उत्तर रामचरित' में वर्णित रामचरित से बहुत-कुछ मिलती है। इस पुराण में व्यासजी के द्वारा १८ पुराणों के रचे जाने की बात उल्लिखित है जिसमें भागवत पुराण की विशेष रूप से महिमा गाई गई है।

(५) उत्तरखण्ड—इस पाँचवें खण्ड में विविध प्रकार के आख्यानों का संग्रह है। इसमें विष्णुभक्ति की विशेष रूप के प्रशंसा की गई है। क्रिया-योगसार' नामक इसका एक परिशिष्ट अंश भी है जिसमें यह दिखलाया गया है कि विष्णु भगवान् व्रतों तथा तीर्थों के सेवन से विशेषरूप से प्रसन्न होते हैं।

पद्मपुराण विष्णुभक्ति का प्रतिपादक सबसे बड़ा पुराण है। भगवान् का नामकीर्तन किस प्रकार सुचारु रूप से किया जा सकता है? कितने नामापराध हैं? आदि प्रश्नों का उत्तर इस पुराण में बड़ी प्रामाणिकता से दिया गया है। इसीलिये अवान्तर-कालीन वैष्णव-सम्प्रदाय के ग्रन्थों ने इसका महत्त्व बहुत

अधिक माना है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह बहुत सुन्दर है। पुराणों में तो अनुष्टुप् का ही साम्राज्य रहता है; परन्तु इस पुराण में अनुष्टुप् के अतिरिक्त अन्य बड़े छन्दों का भी समावेश है। भगवान् की स्तुति के ये दोनों पद्य कितने सुन्दर हैं :—

संसारसागरमतीव गभीरपारं,
दुःखोर्मिभिर्विविधमोहमयैस्तरंगैः।
सम्पूर्णमस्ति निजदोषगुणैस्तु प्राप्तं,
तस्मात् समुद्धर जनार्दन मां सुदीनम्॥
कर्माम्बुदे महति गर्जति वर्षतीव,
विद्युल्लतोल्लसति पातकसंचयैर्मे।
मोहान्धकारपटलैर्मयि नष्टदृष्टे;
दीनस्य तस्य मधुसूदन देहि हस्तम्॥

(३) विष्णुपुराण

दार्शनिक महत्त्व की दृष्टि से यदि भागवतपुराण पुराणों की श्रेणी में प्रथम स्थान रखता है, तो विष्णुपुराण निश्चय ही द्वितीय स्थान का अधिकारी है। यह वैष्णव-दर्शन का मूल आलम्बन है। इसीलिये आचार्य रामानुज ने अपने 'श्रीभाष्य' में इसका प्रमाण तथा उद्धरण बहुलता से दिया है। परिमाण में यह न्यून होते हुए भी महत्त्व में अधिक है। इसके खंडों को 'अंश कहते हैं। इसके अंशों की संख्या ६ है तथा अध्यायों की संख्या १२६ है। इस प्रकार परिमाण में इस भागवतपुराण का तृतीयांश-मात्र है। प्रथम अंश में सृष्टि-वर्णन है (अ० ११—२०)। द्वितीय अंश (खण्ड) में भूगोल का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। तृतील अंश में आश्रम सम्बन्धी कर्तव्यों का विशेष निर्देश है। इसके तीन अध्यायों (अ० ४—६) में वेद की शाखाओ का विशिष्टवर्णन है जो वेदाभ्यासियों के लिये बड़े काम की वस्तु है। चतुर्थ अंश विशेषतः ऐतिहासिक है जिसमें सोमवंश के अन्तर्गत ययाति का चरित वर्णित है। यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु, पुरु,—इन पाँच प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशों का भिन्न-भिन्न अध्यायों में वर्णन मिलता है। पंचम वंश के ३८ अध्याय में भगवान् कृष्ण का अलौकिक चरित वैष्णव-भक्तों का आलम्बन है। इस खण्ड में दशम स्कन्ध के समान कृष्ण-चरित पूर्णतया वर्णित है परन्तु इसका विस्तार कम है। षष्ठ अंश केवल आठ अध्यायों का है जिसमें प्रलय तथा भक्ति का विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

साहित्यिक दृष्टि से यह पुराण बड़ा ही रमणीय, सरस तथा सुन्दर है। इसके चतुर्थ अंश में प्राचीन सुष्ठु गद्य की झलक देखने को मिलती है। ज्ञान के

साथ भक्ति का सामञ्जस्य इस पुराण में बड़ी सुन्दरता से दिखलाया गया। विष्णु की प्रधान रूप से उपासना होने पर भी इस पुराण में साम्प्रदायिक संकीर्णता का लेश भी नहीं है। भगवान् कृष्ण ने स्वयं महादेव शिव के साथ अपनी अभिन्नता प्रकट करते हुए अपने श्रीमुख से कहा है :—

योऽहं स त्वं जगच्चेदं, सदेवासुरमानुषम्।
मत्तो नान्यदशेषं यत्, तत्त्वं ज्ञातुमिहार्हसि॥
अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः।
वदन्ति भेदं पश्यन्ति, चावयोरन्तरं हर॥

(५।३३।४८-९)

सुन्दर भाषण के लाभ का यह कितना अच्छा वर्णन है :—

हितं, मितं, प्रियं काले, वश्यात्मा योऽभिभाषते।
स याति लोकानाह्लादहेतुभूतान् नृपाक्षयान्॥

(४) वायुपुराण

यह पुराण अत्यन्त प्राचीन है। बाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी में इसका उल्लेख 'पुराणे वायुप्रलपितम्' लिखकर किया है। अतः इससे जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ की रचना बाणभट्ट से बहुत पहले हो चुकी थी। यह पुराण परिमाण में अन्य पुराणों से अपेक्षाकृत न्यून है। इसके अध्यायों की संख्या केवल ११२ है तथा श्लोकों की ११,००० के लगभग है। इस पुराण में चार खण्ड हैं जो 'पाद' कहलाते हैं--(१) प्रक्रिया पाद (२) अनुषङ्ग पाद (३) उपोद्घात पाद (४) उपसंहार पाद। इसके आरम्भ में सृष्टि-प्रकरण बड़े विस्तार के साथ कई अध्यायों में दिया गया है। तदन्तर चतुराश्रम विभाग प्रदर्शित किया गया है। यह पुराण भौगोलिक वर्णनों के लिये विशेषरूप से पाठनीय है। जम्बू द्वीप का वर्णन विशेषरूप से है ही, परन्तु अन्य द्वीपों का भी वर्णन बड़ी सुन्दरता से यहाँ (अ० ३४—३९) किया गया है। खगोल का वर्णन भी इस ग्रन्थ में विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है (अ० ५०-५३)। अनेक अध्यायों में युग, यज्ञ, ऋषि, तीर्थ का वर्णन समुपलब्ध है। अध्याय ६० में चारों वेदों की शाखाओं का वर्णन किया गया है जो साहित्यिक दृष्टि से विशेष अनुशीलन करने योग्य है। प्रजापति-वंशवर्णन (अ० ६१—६५), कश्यपीय प्रजासर्ग (अ० ६६—६९) तथा ऋषिवंश (अ० ७०) प्राचीन ब्राह्मण-वंशों के इतिहास को जानने के लिये बड़े ही उपयोगी हैं। श्राद्ध का भी वर्णन अनेक अध्यायों में है। अध्याय ८६ और ८७ में संगीत का विशद वर्णन उपलब्ध है। ९९ वाँ अध्याय प्राचीन राजाओं का

विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है।

इस पुराण की सबसे बड़ी विशेषता शिव के चरित्र का विस्तृत वर्णन है। परन्तु यह साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से दूषित नहीं है। विष्णु का भी वर्णन इसमें अनेक अध्यायों में मिलता है। विष्णु का महत्त्व तथा उनके अवतारों का वर्णन कई अध्यायों में यहाँ उपलब्ध है। पशुपति की पूजा से संबद्ध 'पाशुपत योग' का निरूपण इस पुराण की महती विशेषता है। पाशुपत योग का वर्णन अन्य पुराणों में नहीं मिलता। परन्तु इस पुराण में उसकी पूरी प्रक्रिया बड़े विस्तार के साथ (अ० ११—१५) दी गई है। यह अंश प्राचीन योगशास्त्र के स्वरूप को जानने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। अध्याय २४ में वर्णित 'शार्वस्तव' साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अध्याय ३० में दक्ष प्रजापति ने जो शिव की स्तुति की है वह भी बड़ी सुन्दर है। ये स्तुतियाँ वैदिक 'रुद्राध्याय' के पौराणिक रूप हैं—

> नमः पुराण-प्रभवे, युगस्य प्रभवे नमः।
> चतुर्विधस्य सर्गस्य, प्रभवेऽनन्त-चक्षुषे ॥
> विद्यानां प्रभवे चैव, विद्यानां पतये नमः।
> नमो व्रतानां पतये, मन्त्राणां पतये नमः ॥

(५) श्रीमद्भागवत

यह पुराण संस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है। भक्तिशास्त्र का तो यह सर्वस्व है। यह निगम-कल्पतरु का स्वयं गलित अमृतमय फल है। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है। वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की समाधिभाषा' कहते हैं अर्थात् भागवत के तत्त्वों का प्रभाव वल्लभसम्प्रदाय और चैतन्यसम्प्रदाय पर बहुत अधिक पड़ा है। इन सम्प्रदायों ने भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण अपनी-अपनी पद्धति से किया है। इन ग्रन्थों में आनन्दतीर्थ कृत 'भागवततात्पर्यनिर्णय' से जीवगोस्वामी का 'षट्सन्दर्भ' व्यापकता तथा विशदता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। भागवत के गूढार्थ को व्यक्त करने के लिए प्रत्येक वैष्णवसम्प्रदाय ने इस पर स्वमतानुकूल व्याख्या लिखी है, जिनमें कुछ टीकाओं के नाम यहाँ दिये जाते हैं – रामानुज मत में सुदर्शनसूरि की शुकपक्षीय' तथा वीरराघवाचार्य की 'भागवतचन्द्रचन्द्रिका' माध्वमत में विजयध्वज की 'पदरत्नावली'; निम्बार्कमत में शुकदेवाचार्य का 'सिद्धान्तप्रदीप'; वल्लभमत में स्वयं आचार्य वल्लभ की 'सुबोधिनी' तथा गिरिधराचार्य की आध्यात्मिक

टीका; चैतन्यमत में श्रीसनातन की 'वृहद्वैष्णवतोषिणी' (दशमस्कन्ध पर), जीवगोस्वामी का 'क्रमसन्दर्भ', विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सारार्थदर्शिनी'। सबसे अधिक लोकप्रिय श्रीधरस्वामी की 'श्रीधरी' है। श्री हरि नामक भक्तवर का 'हरिभक्तिरसायन' पूर्वार्ध दशम का श्लोकात्मक व्याख्यान है। इन सम्प्रदायों की मौलिक आध्यात्मिक कल्पनाओं का आधार यही अष्टादश सहस्रश्लोकात्मक भगवद्विग्रहरूप भागवत है।

श्रीमद्भागवत अद्वैततत्त्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। श्री भगवान् ने अपने विषय में ब्रह्मा जी को इस प्रकार उपदेश दिया है:—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥

—भाग० २।९।३२

सृष्टि के पूर्व मैं ही था- मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूल भाव न था, असत्—कारणात्मक सूक्ष्मभाव न था। यहाँ तक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें लीन था। सृष्टि का यह प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय में सब पदार्थों के लीन हो जाने पर मैं ही एकमात्र अवशिष्ट रहूँगा।' इससे स्पष्ट है कि भगवान् निर्गुण, सगुण, जीव तथा जगत् सब वही हैं। अद्वयतत्त्व सत्य है। उसी एक, अद्वितीय, परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते हैं[1]। वही जब सत्त्वगुणरूपी उपाधि से अवच्छिन्न न होकर अव्यक्त निराकाररूप से रहते हैं, तब 'निर्गुण' कहलाते हैं और उपाधि से अवच्छिन्न होने पर 'सगुण' कहलाते हैं। 'परमार्थभूत[2] ज्ञान सत्य, विशुद्ध, एक, बाहर-भीतर-भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख तथा निर्विकार है—वही भगवान् तथा वासुदेव शब्दों के द्वारा अभिहित होता है। सत्त्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वही निर्गुण ब्रह्म प्रधानतया विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष चार प्रकार का सगुणरूप धारण करता है। शुद्धसत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'विष्णु' कहते हैं, रजोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'ब्रह्मा' तमोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'रुद्र' और तुल्यबल रज तम से मिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'पुरुष'

---

१. वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

—भाग० १।२।११.

२. ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद् वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥

—भाग० ५।१२।११.

कहते हैं। जगत् के स्थिति, सृष्टि तथा संहार-व्यापार में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते हैं; 'पुरुष' उपादान कारण होता है। ये चारों ब्रह्म के ही सगुणरूप हैं। अतः भागवत के मत में ब्रह्म ही अभिन्न-निमित्तोपादान कारण हैं।

परब्रह्म ही जगत् के स्थित्यादि व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न अवतार धारण करते हैं। आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य (भाग० २।६।४१)। परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है, मायासम्बन्ध से रहित होते हुए भी माया से युक्त रहता है, सर्वदा चित् शक्ति से समन्वित रहता है, उसे 'पुरुष' कहते हैं। इस पुरुष से ही भिन्न-भिन्न अवतारों का उदय होता है।

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः॥

—भाग० १।४।३

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र परब्रह्म के गुणावतार हैं। इसी प्रकार कल्पावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार आदि का वर्णन भागवत में विस्तार के साथ दिया गया है।

भगवान् अरूपी होकर भी रूपवान् है (भाग० ३।२४।३१)। भक्तों की अभिरुचि के अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं (भाग० ३।९।११)। भगवान् की शक्ति का नाम 'माया' है जिसका स्वरूप भगवान् ने इस प्रकार बतलाया है—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥

—२।९।३४

वास्तविक वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश में एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती (जैसे विद्यमान भी राहु नक्षत्रमण्डल में नहीं दीख पड़ता) वही 'माया' है। भगवान् अचिन्त्यशक्तिसमन्वित हैं। वह एक समय में भी एक होकर भी अनेक हैं। नारद जी ने द्वारिकापुरी में एक समय में ही श्रीकृष्ण को समस्त रानियों के महलों में विद्यमान भिन्न-भिन्न कार्यों में संलग्न देखा था। यह उनकी अचिन्तनीय महिमा का विलास है। जीव और जगत् भगवान् के ही रूप हैं।

साधन-मार्ग—इस भगवान् की उपलब्धि का सुगम उपाय बतलाना भागवत की विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन भी भक्तितत्व का

निरूपण है। वेदार्थोपबृंहित विपुलकाय महाभारत की रचना करने पर भी अतृप्त होनेवाले वेदव्यास का हृदय भक्तिप्रधान भागवत की रचना से वितृप्त हुआ। भागवत के श्रवण करने से भक्ति के निष्प्राण ज्ञान वैराग्य-पुत्रों में प्राण का ही संचार नहीं हुआ, प्रत्युत वे पूर्ण यौवन को भी प्राप्त हो गये। अतः भगवान् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय 'भक्ति' ही है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

—११।१४।२०

परमभक्त प्रह्लादजी ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया है कि भगवान् चरित्र, बहुज्ञता, दान, तप आदि से प्रसन्न नहीं होते। वे तो निर्मल भक्ति से प्रसन्न होते है। भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधन उपहासमात्र हैं—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥

—७।७।५१-५२.

भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्तिप्राप्ति में प्रधान साधन है। ज्ञान, कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सार्थक होते हैं, अतः परम्परया साधक हैं, साक्षाद्रूपेण नहीं। कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने में है। जब तक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय, तब तक वर्णाश्रम विहित आचारों का निष्पादन नितान्त आवश्यक है (भाग० ११।२०।९)। कर्मफलों को भी भगवान् को समर्पण कर देना ही उनके 'विषदन्त' को तोड़ना है (भाग० १।५।१२)। श्रेय की मूलस्रोतरूपिणी भक्ति को छोड़कर केवल बोध की प्राप्ति के लिए उद्योगशील मानवों का प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल तथा क्लेशोत्पादक है जिस प्रकार भूसा कूटने वालों का यत्न (१०।१४।४)।

श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते, नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

भक्ति की ज्ञान से श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाला यह श्लोक ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वशाली है, क्योंकि आचार्य शंकर के दादा गुरु श्रीगौडपादाचार्य ने 'उत्तरगीता' की अपनी टीका में 'तदुक्तं भागवते' कहकर इस श्लोक को उद्धृत किया है। अतः भागवत का समय गौडपाद (सप्तम शतक) से कहीं अधिक प्राचीन है। त्रयोदशशतक में उत्पन्न बोपदेव को भागवत का कर्ता मानना एक भयंकर ऐतिहासिक भूल है।

अतः भक्ति की उपादेयता मुक्तिविषय में सर्वश्रेष्ठ है। भक्ति दो प्रकार की मानी जाती है—'साधनरूपा भक्ति' तथा 'साध्यरूपा भक्ति' साधनभक्ति नौ प्रकार की होती है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्म-निवेदन। भागवत में सत्सङ्गति की महिमा का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया गया है। साध्यरूपा या फलरूपा भक्ति प्रेममयी होती है जिसके सामने अनन्य भगवत्पदाश्रित भक्त ब्रह्मा के पद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद, लोकाधिपत्य तथा योग की विविध विलक्षण सिद्धियों को कौन कहे, मोक्ष को भी नहीं चाहता। भगवान के साथ नित्य वृन्दावन में ललित विहार की कामना करने वाले भगवच्चरणचञ्चरीक भक्त शुष्क नीरस मुक्ति को प्रयासमात्र मानकर तिरस्कार करते है :—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत्॥

—भाग० ११।१०।१४.

भक्त का हृदय भगवान् के दर्शन के लिए उसी प्रकार छटपटाया करता है, जिस प्रकार पक्षियों के पंखरहित बच्चे माता के लिए, भूख से व्याकुल बछड़े दूध के लिए तथा प्रिय के विरह में व्याकुल सुन्दरी अपने प्रियतम के लिए छटपटाती है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

—भाग० ६।११।२६

इस प्रेमाभक्ति की प्रतिनिधि व्रज की गोपिकायें थीं जिनके विमल प्रेम का रहस्यमय वर्णन व्यास जी ने रासपञ्चाध्यायी में किया है। इस प्रकार भक्ति-शास्त्र के सर्वस्व भागवत से भक्ति का रसमय स्रोत भक्तजनों के हृदय को आप्यायित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है। भागवत के श्लोकों में एक विचित्र अलौकिक माधुर्य भरा है। अतः भाव तथा भाषा उभयदृष्टि से श्रीमद्भागवत (१२।१३।१८) का कथन यथार्थ है :—

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं,
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं,
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥

(६) नारद-पुराण

वृहन्-नारद-पुराण नामक एक उपपुराण भी मिलता है। अतः उससे इसे पृथक् करने के लिये इसे नारदीय पुराण नाम दिया गया है। इस ग्रन्थ में

दो भाग हैं। पूर्वभाग में अध्यायों की संख्या १२५ है और उत्तरभाग में ८२ है। सम्पूर्ण श्लोकों की संख्या २५,००० है। डाक्टर विलसन इस पुराण का रचना-काल १६ वीं शताब्दी बतलाते हैं तथा इसे विष्णु-भक्ति का प्रतिपादक एक सामान्य ग्रन्थ मानते हैं। परन्तु ये दोनों बातें सर्वथा निराधार हैं। १२ वीं शताब्दी में बल्लालसेन ने अपने 'दानसागर' नामक ग्रन्थ में इस पुराण के श्लोकों को उद्धृत किया है। अलबरुनी (११ वीं शताब्दी) ने भी अपने यात्राविवरण में इस पुराण का उल्लेख किया है। अतः यह पुराण निश्चय ही इन दोनों ग्रन्थकारों के काल से प्राचीन है। इस ग्रन्थ के पूर्वभाग में वर्ण और आश्रम के आचार (अ० २४।२५) श्राद्ध (अ० २८) प्रायश्चित्त आदि का वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द आदि शास्त्रों का अलग-अलग एक-एक अध्याय में विवेचन है। अनेक अध्यायों में विष्णु, राम, हनुमान, कृष्ण, काली, महेश के मन्त्रों का विधिवत् निरूपण किया गया है। विष्णुभक्ति को ही मुक्ति का परम साधन सिद्ध किया गया है। इसी प्रसंग को लेकर उत्तरभाग में (अ० ७-३७ तक) विख्यात विष्णुभक्त राजा रुक्माङ्गद का चारु चरित्र वर्णित किया गया है।

यह पुराण ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अठारहों पुराणों के विषयों की विस्तृत अनुक्रमणी यहाँ (अ० ९२–१०९ पूर्वभाग) दी गई है। यह अनुक्रमणी सभी पुराणों के विषयों को जानने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसकी सहायता से हम वर्तमान पुराणों के मूलरूप तथा प्रक्षिप्त अंश की छानबीन बड़ी सुगमता के साथ कर सकते हैं। विष्णुभक्ति की इसमें प्रधानता होने पर भी यह पुराण पुराणों के पञ्च लक्षणों से रहित नहीं है।

(७) मार्कण्डेयपुराण

इस पुराण का नामकरण मार्कण्डेय ऋषि द्वारा कथन किये जाने से हुआ है। परिमाण में यह पुराण छोटा है। इसके अध्यायों की संख्या १३७ है और श्लोकों की संख्या ९,००० है। इस पूरे पुराण का अंग्रेजी में अनुवाद पार्जिटर साहब ने किया है (बिब्लोथिका इण्डिका सीरीज कलकत्ता; १८८८ से १९०५ ई०) तथा इसके आरम्भिक कतिपय अध्यायों का अनुवाद जर्मन भाषा में भी हुआ है जिसमें मरणोत्तर जीवन की कथा कही गई है। इन पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में यह पुराण बहुत प्राचीन, बहुत लोकप्रिय तथा नितान्त उपादेय है। हमारी दृष्टि में भी यह सम्मति ठीक ही जान पड़ती है। प्राचीनकाल की प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी महिषी मदालसा का पवित्र जीवन-चरित्र इस ग्रंथ में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। मदालसा ने अपने पुत्र अलर्क को शैशव से ही ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया जिससे उसने राजा होने पर भी ज्ञानयोग के साथ कर्मयोग का अपूर्व सामंजस्य कर दिखाया। इसी ग्रन्थ का 'दुर्गा, सप्तशती' एक विशिष्ट

अंश है। इसमें देवीभक्तों के लिए सर्वस्वरूप दुर्गा का पवित्र चरित बड़े विस्तार के साथ दिया गया है।

(८) अग्निपुराण

इस पुराण को यदि समस्त भारतीय विद्याओं का विश्वकोश कहें तो किसी प्रकार अत्युक्ति न होगी। इन पुराणों का उद्देश्य जन-साधारण में ज्ञातव्य विद्याओं का प्रचार करना भी था, इसका पूरा परिचय हमें इस पुराण के अनुशीलन से मिलता है। इस पुराण के ३८३ अध्यायों में नाना प्रकार के विषयों का सन्निवेश कम आश्चर्य का विषय नहीं है। अवतार की कथाओं का संक्षेप में वर्णन कर रामायण और महाभारत की कथा पर्याप्त विस्तार के साथ दी गई है। मन्दिर-निर्माण की कला के साथ प्रतिष्ठा तथा पूजन के विधान का विवेचन संक्षेप में सुचारु रूप से किया गया है। ज्योतिष-शास्त्र, धर्मशास्त्र, व्रत, राजनीति, आयुर्वेद आदि शास्त्रों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ मिलता है। छन्दःशास्त्र का निरूपण आठ अध्यायों में किया गया मिलता है। अलंकार-शास्त्र का विवेचन बड़े ही मार्मिक ढंग से किया गया है। व्याकरण की भी छानवीन कितने ही अध्यायों में की गई है। कोष के विषय में भी कई अध्याय लिखे गये हैं जिनके अनुशीलन से पाठकों को शब्द-ज्ञान की विशेष वृद्धि हो सकती है। योगशास्त्र के यम, नियम आदि आठों अंगों का वर्णन संक्षेप में बड़ा ही सुन्दर है। अन्त में अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का सार-संकलन है। एक अध्याय में गीता का भी सारांश एकत्रित किया गया है। इस प्रकार इस पुराण के अनुशीलन से समस्त ज्ञान-विज्ञान का परिचय मिलता है। इसीलिये इस पुराण का यह दावा सर्वथा सच्चा ही प्रतीत होता है कि—

आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वाः विद्याः प्रदर्शिताः।

—अ० ३८३।५२

(९) भविष्यपुराण

इस पुराण के विषय में सबसे अधिक गड़बड़ी दिखाई पड़ती है। इसके नामकरण का कारण यह है कि इसमें भविष्य में होनेवाली घटनाओं का वर्णन किया गया है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि समय-समय पर होनेवाले विद्वानों ने इसमें अपने समय में होनेवाली घटनाओं को भी जोड़ना प्रारम्भ कर दिया। और तो क्या इसमें 'इंग्रेज' नाम से उल्लिखित अंग्रेजों के आने का भी वर्णन मिलता है। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र को इस पुराण की विभिन्न चार हस्तलिखित प्रतियाँ मिली थीं जो आपस में विषय की

दृष्टि से नितान्त भिन्न थीं। उनका कहना हैं कि आजकल जो भविष्य पुराण उपलब्ध होता है उसमें इन उपर्युक्त चारों प्रतियों का मिश्रण है। यही इस पुराण की गड़बड़ी का कारण है। नारदपुराण के अनुसार इसके पाँच पर्व हैं— (१) ब्राह्म पर्व (२) विष्णु पर्व (३) शिव पर्व (४) सूर्य पर्व (५) प्रतिसर्ग पर्व। इसके श्लोकों की संख्या १४,००० है। इस पुराण में सूर्यपूजा का विशेष रूप से वर्णन है। कृष्ण के पुत्र शाम्ब को कुष्ठ रोग हो गया था जिसकी चिकित्सा करने के लिये गरुड़ शाकद्वीप से ब्राह्मणों को लिवा लाये जिन्होंने सूर्य भगवान् की उपासना से शाम्ब को रोगमुक्त कर दिया। इन्हीं ब्राह्मणों को शाकद्वीपी, मग या भोजक ब्राह्मण कहते हैं। सूर्योपासना के रहस्य तथा कलि में उत्पन्न विभिन्न ऐतिहासिक राजवंशों के इतिहास जानने के लिए यह पुराण नितान्त उपादेय है।

(१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण

इस पुराण के श्लोकों की संख्या १८००० के लगभग है। इस प्रकार यह पुराण भागवत की अपेक्षा परिमाण में छोटा नहीं है। इस पुराण में चार खंड हैं—(१) ब्रह्म खंड (२) प्रकृति खंड (३) गणेश खंड (४) कृष्णजन्म खंड। इसमें कृष्णजन्म खंड आधे से भी अधिक है। इस खंड में १३३ अध्याय हैं। कृष्ण-चरित्र का विस्तृत रूप से वर्णन करना इस पुराण का प्रधान लक्ष्य है। राधा कृष्ण की शक्ति है और इस राधा का वर्णन बड़े साङ्गोपाङ्ग रूप से यहाँ दिया गया है। इस राधा-प्रसङ्ग के कारण अनेक ऐतिहासिक इस पुराण को बहुत ही पीछे का बतलाते हैं। परन्तु राधा की कल्पना बड़ी प्राचीन है। महाकवि भास ने अपने 'बालचरित' नाटक में कृष्ण की बाललीला तथा राधा का वर्णन विस्तार के साथ किया है। भास का काल तृतीय शतक है। अतः इस पुराण की रचना तृतीय शतक से पहिले हो चुकी होगी। सच पूछिये तो भागवत के दशम स्कन्ध के अनन्तर श्रीकृष्ण की लीला का इतना अधिक विस्तार और कहीं नहीं मिलता।

(१) **ब्रह्म खण्ड**—इसमें केवल तीस (३०) अध्याय हैं जिसमें कृष्ण के द्वारा जगत् की सृष्टि का वर्णन है। इसका १६ वाँ अध्याय आयुर्वेद शास्त्र के विषय का वर्णन करता है। (२) **प्रकृति खण्ड**—इसमें प्रकृति का वर्णन है जो भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री तथा राधा के रूप में अपने को समय-समय पर परिणत किया करती है। इस खंड में सावित्री तथा तुलसी की कथा बड़े विस्तार के साथ उपलब्ध होती है। (३) **गणेश खण्ड**—इसमें गणपति के जन्म, कर्म तथा चरित का वर्णन है। गणेश कृष्ण के अवतार के रूप में दिखलाये गये हैं। इस पुराण के नामकरण का कारण

स्वयं इसी पुराण में इस प्रकार दिया हुआ है कि कृष्ण के द्वारा ब्रह्म के विवृत (प्रकाशित) किये जाने के कारण इसका नाम 'ब्रह्मवैवर्त' पड़ा।

विवृतं ब्रह्म कात्स्र्न्येन, कृष्णेन यत्र शौनक।
ब्रह्म–वैवर्तकं तेन, प्रवदन्ति पुराविदः॥

ब्र० वै० १।१।१०

दक्षिण भारत में यह पुराण ब्रह्म कैवर्त के नाम से प्रसिद्ध है। इस नामकरण का कारण स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता। नारदपुराण में जो इस पुराण की अनुक्रमणी उपलब्ध होती है, उससे वर्तमान पुराण से पूरा सामञ्जस्य है। कृष्णपरक होने के कारण कृष्णभक्त वैष्णवों में इस पुराण की बड़ी मान्यता है। विशेषतः गौड़ीय वैष्णवों में इस पुराण का बड़ा आदर है।

(११) लिङ्गपुराण

इसमें भगवान् शंकर की लिङ्गरूप से उपासना विशेष रूप से दिखलाई गई है। शिवपुराण का कहना हैं कि—

"लिङ्गस्य चरितोक्तत्वात् पुराणं लिङ्गमुच्यते"

यह पुराण अपेक्षाकृत छोटा है क्योंकि इसमें अध्यायों की संख्या १६३ और श्लोकों की संख्या ११००० है। इसमें दो भाग है (१) पूर्व भाग (२) उत्तर भाग। यहाँ लिङ्गोपासना की उत्पत्ति दिखलाई गई है। सृष्टि का वर्णन भगवान् शंकर के द्वारा बतलाया गया है। शंकर के २८ अवतारों का वर्णन भी हमें यहाँ उपलब्ध होता है। शिवपरक होने के कारण से शैव-व्रतों का और शैव-तीर्थों का यहाँ अधिक वर्णन होना स्वाभाविक ही है। उत्तर भाग में पशु, पाश तथा पशुपति की जो व्याख्या (अ० ९) की गई है, वह शैव-तन्त्रों के अनुकूल है। यह पुराण शिवतत्त्व की मीमांसा के लिए बड़ा ही उपादेय तथा प्रामाणिक है।

(१२) वराहपुराण

विष्णु ने वराहरूप धारण कर पृथ्वी का पाताल लोक से उद्धार किया था। इस कथा से मुख्यतः सम्बन्ध रखने के कारण इस पुराण का नाम वराह पुराण पड़ा है। हेमाद्रि (१३ वीं शताब्दी) ने अपने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में इस पुराण में वर्णित बुद्ध द्वादशी का उल्लेख किया है तथा गौडनरेश बल्लालसेन (१२ वीं शताब्दी) ने 'दानसागर' नामक ग्रन्थ में इस पुराण से अनेक श्लोक उद्धृत किये है। अतः यह पुराण १२ वीं शताब्दी से प्राचीन अवश्य है। इस पुराण के दो पाठ-भेद उपलब्ध होते हैं (१) गौड़ीय (२) दाक्षिणात्य। इनमें अध्यायों की संख्याओं में भी अन्तर है। आजकल

गौड़ीय पाठवाला संस्करण ही अधिक प्रसिद्ध है। इस पुराण में २१८ अध्याय हैं। श्लोकों की संख्या २४,००० है। परन्तु कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी से इस ग्रन्थ का जो संस्करण प्रकाशित हुआ है उसमें केवल १०,७०० श्लोक हैं। इससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा भाग अब तक नहीं मिला है। इस पुराण में विष्णु से सम्बद्ध अनेक व्रतों का वर्णन है। विशेषकर द्वादशी व्रत—भिन्न-भिन्न मासों की द्वादशी व्रत—का विवेचन मिलता है तथा इन द्वादशी व्रतों का भिन्न-भिन्न अवतारों से सम्बन्ध दिखलाया गया है जो निम्नांकित हैं :—

मास	शुक्ल द्वादशी का नाम
अगहन	मत्स्य द्वादशी
पौष	कूर्म ,,
माघ	वराह ,,
फाल्गुन	नृसिंह ,,
चैत्र	वामन ,,
वैशाख	परशुराम ,,
ज्येष्ठ	राम ,,
आषाढ़	कृष्ण ,,
श्रावण	बुद्ध ,,
भाद्रपद	कल्कि ,,
आश्विन	पद्मनाभ ,,
कार्तिक	× ,,

इस पुराण के दो अंश विशेष महत्त्व के हैं :—(१) मथुरा महात्म्य (अ० १५२–१७२) जिसमें मथुरा के समग्र तीर्थों का बड़ा ही विस्तृत वर्णन दिया गया है। ये अध्याय मथुरा का भूगोल जानने के लिए बड़े ही उपयोगी हैं। (२) **नचिकेतोपाख्यान** (अ० १९३–२१२) जिसमें नचिकेता का उपाख्यान बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। इस उपाख्यान में स्वर्ग तथा नरकों के वर्णन पर ही विशेष जोर दिया गया है। कठोपनिषद् की आध्यात्मिक दृष्टि इस उपाख्यान में नहीं है।

(१३) स्कन्द-पुराण

इस पुराण में स्वामी कार्तिकेय ने शैवतत्त्वों का निरूपण किया है, इसीलिये इसका नाम स्कन्दपुराण है। सबसे बृहत्काय पुराण यही है। इसकी मोटाई का इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि यह भागवत पुराण से पाँचगुना

मोटा है। इसकी श्लोक संख्या ८१,००० है जो लक्ष श्लोकात्मक महाभारत से केवल एक पंचमांश ही कम है। इन पुराण के अन्तर्गत अनेक संहितायें, खण्ड तथा महात्म्य हैं। इसी पुराण के अन्तर्गत सूतसंहिता (अ० श्लो० २०-१२) के अनुसार इस पुराण में छः संहितायें हैं जो अपने ग्रन्थ-परिमाण के साथ इस प्रकार हैं :—

संहिता	श्लोक संख्या
(१) सनत्कुमार संहिता	३६,०००
(२) सूत संहिता	६,०००
(३ शंकर संहिता	३०,०००
(४) वैष्णव संहिता	५,०००
(५) ब्राह्म संहिता	३,०००
(६) सौर संहिता	१,०००
	८१,००० श्लोक

इन संहिताओं के विषय में विस्तृत निर्देश नारद पुराण में दिया गया है स्कन्द पुराण के विभाजन का एक दूसरा भी प्रकार खण्डों में हैं। ये खंड संख्या में सात हैं :—(१) माहेश्वर खंड (२) वैष्णव खंड (३) ब्रह्मखंड (४) काशी खंड (५) रेवा खंड (६) तापी खंड (७) प्रभास खण्ड।

संहिताओं में सूत संहिता शिवोपासना के विषय में एक अनुपम खंड है। यह संहिता वैदिक तथा तान्त्रिक उभय प्रकार की पूजाओं का विस्तार के साथ वर्णन करती है। इस संहिता की इसी विलक्षणता के कारण विजय-नगर. साम्राज्य के मन्त्री माधवाचार्य[1] की दृष्टि इस पर पड़ी और उन्होंने 'तात्पर्य दीपिका नामक बड़ी ही प्रमाणिक तथा विस्तृत व्याख्या लिखी हैं जो आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली पूना (नं० २५) से प्रकाशित हुई है। इस संहिता में चार खण्ड हैं:—(१) पहला खण्ड जिसका नाम 'शिव माहात्म्य' है १३ अध्याओं में शिव-महिमा का विशेष रूप से प्रतिपादन करता है। (२) ज्ञान योग खण्ड—यह २० अध्यायों में आचार-धर्मो के वर्णन करने के अनन्तर हठयोग की प्रक्रिया का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत करता है। (३) मुक्तिखण्ड—यह ९ अध्यायों में मुक्ति के उपाय का वर्णन करता है। (४) यज्ञ वैभव खण्ड—यह सब खण्ड़ों में बड़ा है। इसके दो भाग हैं—(१) पूर्व

१. माधवाचार्य की जीवनी के लिए देखिए—
बलदेव उपाध्याय : 'आचार्य सायण और माधव'।
प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद

भाग और (२) उत्तर भाग। पूर्व भाग में ४७ अध्याय हैं जिनमें अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का शैव भक्ति के साथ सम्पुटित कर बड़ा ही सुन्दर आध्यात्मिक विवेचन किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह खण्ड बड़ा ही उपादेय प्रमेय-बहुल तथा मीमांसा करने योग्य है। इसके उत्तर भाग में दो गीतायें सम्मिलित हैं—(१) ब्रह्मगीता और (२) सूतगीता। पहली गीता १२ अध्यायों में विभक्त है और दूसरी ८ अध्यायों में। इनका भी विषय अध्यात्म ही है। आत्मस्वरूप का कथन तथा उसके साक्षात्कार के उपाय बड़ी ही सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किये गये हैं। इस संहिता में शिव के प्रसाद से ही सब कर्मों की सिद्धि का वर्णन किया गया है। इस विषय के दो श्लोक नीचे दिये जाते हैं:—

प्रसाद-लाभाय हि धर्मसंचयः
प्रसाद-लाभाय हि देवतार्चनम्।
प्रसाद-लाभाय हि देवतास्मृतिः,
प्रसाद-लाभाय हि सर्वमीरितम्॥
शिवप्रसादेन विना न भुक्तयः,
शिवप्रसादेन विना न मुक्तयः।
शिवप्रसादेन विना न देवताः,
शिवप्रसादेन हि सर्वमास्तिकाः॥

शंकर[1] संहिता—यह अनेक खण्डों में विभक्त है। इसका प्रथम खण्ड शिवरहस्य कहलाता है जो पूरी संहिता का आधा भाग है जिसमें १३,००० श्लोक हैं तथा ७ काण्ड हैं, जिनके नाम ये हैं:—(१) सम्भव काण्ड (२) आसुर काण्ड (३) माहेन्द्र कांड (४) युद्ध कांड (५) देव काण्ड (६) दक्षकाण्ड (७) उपदेश काण्ड। छठवीं संहिता **सौर संहिता** हैं जिसमें शिवपूजा सम्बन्धी अनेक वातों का वर्णन किया गया है। पहली संहिता—

सनत्कुमार संहिता बीस-बाइस अध्याओं की एक छोटी सी संहिता है। इस संहिताओं को छोड़कर अन्य संहितायें उपलब्ध नहीं होतीं।

अब खण्डों के क्रम से इस पुराण का वर्णन किया जाता है:—

(१) माहेश्वर खंड—इसके भीतर दो छोटे खंड हैं (क) केदार खंड (ख) कुमारिका खण्ड। इन दोनो खंडों में शिव पार्वती की नाना प्रकार की विचित्र लीलाओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है।

---

१. इन दोनों संहिताओं की विस्तृत विषयानुक्रमणी के निमित्त देखिये अष्टादशपुराणदर्पण पृ० ३२१-३२७।

(२) वैष्णव खंड—इस खण्ड के अन्तर्गत उत्कल खंड है जिसमें उड़ीसा के जगन्नाथ जी के मन्दिर, पूजाविधान, प्रतिष्ठा तथा तत्सम्बद्ध अनेक उपाख्यानों का वर्णन मिलता है। राजा इन्द्रद्युम्न ने नारद जी के उपदेश से किस प्रकार जगन्नाथ जी के स्थान का पता लगाया, इसका विस्तृत वर्णन इस खण्ड में पाया जाता है। इस प्रकार जगन्नाथपुरी का प्राचीन इतिहास जानने के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

(३) ब्रह्म खंड—इसमें दो खण्ड हैं (१) ब्रह्मारण्य खण्ड (२) ब्रह्मोत्तर खण्ड। प्रथम खण्ड में तो धर्मारण्य नामक स्थान के माहात्म्य का विशद प्रतिपादन है। दूसरे खण्ड में उज्जैनी में स्थित महाकाल की प्रतिष्ठा तथा पूजन का विशेष विधान हैं।

(४) काशी खण्ड—इसमें काशी की महिमा का वर्णन है। काशी के समस्त देवताओं, शिव लिङ्गों के आविर्भाव तथा माहात्म्य का प्रतिपादन यहाँ विशेष रूप से किया गया है। काशी का प्राचीन भूगोल जानने के लिये यह खण्ड अत्यन्त आवश्यक है।

(५) रेवा खण्ड—इसमें नर्मदा की उत्पत्ति तथा उनके तट पर स्थित समस्त तीर्थों का विस्तृत वर्णन मिलता हैं। सत्यनारायण व्रत की सुप्रसिद्ध कथा इसी खण्ड की है।

(६) अवन्ति खण्ड—अवन्ति (उज्जैन) में स्थित भिन्न-भिन्न शिवलिङ्गों की उत्पत्ति तथा माहात्म्य का वर्णन इस खण्ड में किया गया है। महाकालेश्वर का वर्णन बड़े ही विस्तृत रूप में दिया गया हैं। प्राचीन अवन्ती की धार्मिक स्थिति का पूरा दिग्दर्शन यहाँ मिलता है।

(७) तापी खण्ड—इसमें नर्मदा की सहायक नदी तापी के किनारे स्थित नाना तीर्थों का वर्णन मिलता है। नारद पुराण के मत से इसके षष्ठ खंड का नाम नागर खण्ड है। आजकल जो नागर खण्ड उपलब्ध होता है उसमें तीन परिच्छेद हैं। (१) विश्वकर्मा उपाख्यान (२) विश्वकर्मा वंशाख्यान (३) हाटकेश्वर माहात्म्य। इस तीसरे खण्ड में नागर ब्राह्मणों की उत्पत्ति का वर्णन है। भारत की सामाजिक दशा जानने के लिये यह खंड अत्यन्त उपादेय है।

(८) प्रभास खण्ड—इसमें प्रभास क्षेत्र का बड़ा ही विस्तृत वर्णन है। द्वारिका के आसपास का भूगोल जानने के लिए यह खण्ड अत्यन्त उपयोगी है।

महापुराणों में महाकाय स्कन्द पुराण का यह स्वल्पकाय वर्णन है। इस पुराण में जगन्नाथ जी के मन्दिर का वर्णन होने से कुछ पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि यह पुराण १३ वीं शताब्दी में लिखा गया। क्योंकि १२६४

ई० के आसपास जगन्नाथ जी के मन्दिर का निर्माण हुआ था। परन्तु यह मत नितान्त भ्रान्त है क्योंकि ९३० शक (१००८ ई०) में लिखी गई इसकी हस्त-लिखित प्रति कलकत्ते में उपलब्ध हुई है। परन्तु इससे भी प्राचीन ७ वीं शताब्दी में लिखित इसकी हस्तलिखित प्रति नैपाल के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है जिसका उल्लेख डा० हरप्रसाद शास्त्री ने वहाँ के सूचीपत्र में किया है। इससे सिद्ध होता है कि यह पुराण बहुत ही प्राचीन है। इसका मूलरूप क्या था और यह कैसे धीरे-धीरे इतना विशालकाय हो गया? यह भी पुराण के पण्डितों के लिये अनुसन्धान का विषय है।

(१४) वामन पुराण

इस पुराण का सम्बन्ध भगवान् के वामनावतार से है। यह एक छोटा पुराण है। इसमें केवल ९५ अध्याय हैं तथा १०,००० श्लोक हैं। विष्णुपरक होने के कारण इसमें विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारों का वर्णन होना स्वाभाविक है परन्तु वामनावतार का वर्णन विशेषरूप से दिया हुआ है। इस पुराण में शिव, शिव का माहात्म्य, शैवतीर्थ, उमा-शिव-विवाह, गणेश की उत्पत्ति और कार्तिकेय चरित आदि विषयों का वर्णन मिलता है जिससे पता चलता है कि इसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं है।

(१५) कूर्म पुराण

इस पुराण से पता चलता है कि इसमें चार संहितायें थीं—(१) ब्राह्मी संहिता (२) भागवती (३) सौरी (४) वैष्णवी। परन्तु आजकल केवल ब्राह्मी संहिता ही उपलब्ध होती है और उसी का नाम कूर्म पुराण है। भागवत तथा मत्स्य पुराणों के अनुसार इसमें १८,००० श्लोक होने चाहिये परन्तु उपलब्ध पुराण में केवल ६००० ही श्लोक मिलते है। अर्थात् मूल ग्रन्थ का केवल तृतीयांश भाग ही उपलब्ध हैं। विष्णु भगवान् ने कूर्म अवतार धारण कर इन्द्रद्युम्न नामक विष्णुभक्त राजा को इस पुराण का उपदेश दिया था। इसीलिये यह कूर्म पुराण के नाम से अभिहित किया जाता है। इसमें सब जगह शिव ही मुख्य देवता के रूप में वर्णित हैं और यह स्पष्ट उल्लिखित है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। ये एक ही ब्रह्म की पृथक्-पृथक् तीन मूर्तियाँ हैं। इस-ग्रन्थ में शक्ति-पूजा पर भी बड़ा जोर दिया गया है। शक्ति के सहस्र नाम यहाँ दिये गये हैं (१।१२)। विष्णु शिव के रूप तथा लक्ष्मी गौरी की प्रतिकृति बतलाई गई हैं। शिव देवाधिदेव के रूप में इतने महत्त्वपूर्ण रूप से वर्णित किये गये हैं कि उन्हीं के प्रसाद से भगवान् कृष्ण जाम्बवती की प्राप्ति में समर्थ होते हैं।

इस पुराण में दो भाग हैं। पूर्व भाग में ५२ अध्याय और उत्तर भाग में ४४ अध्याय हैं। पूर्वभाग में सृष्टि-प्रकरण के अनन्तर, पार्वती की तपश्चर्या तथा इनके सहस्र नाम का वर्णन है। इसी भाग में काशी और प्रयाग का माहात्म्य (अ० ३५-३७) दिया गया है। उत्तर भाग में ईश्वर गीता तथा व्यास गीता है। ईश्वर गीता (१-११ अ०) में भगवद्गीता के ढंग पर ध्यानयोग के द्वारा शिव के साक्षात्कार का वर्णन है। व्यासगीता में चारों आश्रमों के कर्तव्य-कर्मों का वर्णन महर्षि व्यास के द्वारा किया गया है (१२-४६ अ०)। इस पुराण के उपक्रम से ही पता चलता है कि मूल रूप में इसमें चार संहितायें थीं और आजकल ब्राह्मी संहिता (६,००० श्लोक) ही उपलब्ध होती है—

> ब्राह्मी भागवती सौरी वैष्णवी च प्रकीर्त्तिताः।
> चतस्रः संहिताः पुण्या धर्मकामार्थमोक्षदाः॥
> इयं तु संहिता ब्राह्मी चतुर्वेदैश्च सम्मता।
> भवन्ति षट् सहस्राणि श्लोकानामत्र संख्यया॥
>
> —१।२५

(१६) मत्स्यपुराण

यह पुराण भी पर्याप्त रूप से विस्तृत है। इसमें अध्यायों की संख्या २९१ है तथा श्लोकों की संख्या १५,००० के लगभग है। इस पुराण के आरम्भ में मन्वन्तर के समान्य वर्णन के अनन्तर पितृवंश का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। वैराज पितृवंश का १३ वें अध्याय में, अग्निष्वात्त पितरों का १४ वें में तथा बर्हिषद् पितरों का वर्णन १५ वें अध्याय में विशेष रूप से वर्णित है। श्राद्ध-कल्प का विवेचन ७ अध्यायों (अ० १६-२३ तक) में किया है। सोमवंश का वर्णन बड़े विस्तार के साथ यहाँ उपलब्ध है, विशेषतः ययाति के चरित्र का (अ० २७ से ४२ तक)। अन्य राजन्य वंशों का भी वर्णन है। व्रतों का वर्णन इस पुराण की महती विशेषता है (अ० ५५-१०२)। प्रयाग का भौगोलिक वर्णन तथा महिमा कथन १० अध्यायों (अ० १०३-११२) में किया गया है। भगवान् शंकर का त्रिपुरासुर के साथ जो संग्राम हुआ था उसका वर्णन यहाँ हम बड़े विस्तार के साथ पाते हैं (अ० १२९-१४०)। तारक-वध का भी बड़ा विस्तार यहाँ मिलता है। मत्स्यावतार के वर्णन के लिए तो यह पुराण लिखा ही गया है। काशी का माहात्म्य भी अनेक अध्यायों में यहाँ (अ० १८०-१८५) विराजमान है। वही दशा नर्मदा माहात्म्य की भी (अ० १८७ से १९४) है।

इस पुराण में तीन-चार बातें विशेष महत्त्व की दीख पड़ती हैं। पहली बात यह है कि इस पुराण के ५३ वें अध्याय में समस्त पुराणों की विषयानुक्रमणी

दी गई है जिससे हम पुराणों के क्रमिक विकास का बहुत कुछ परिचय पा सकते हैं। दूसरी विशेषता है प्रवर ऋषियों के वंश का वर्णन। भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, विश्वामित्र, कश्यप, वशिष्ठ, पराशर, अगस्त्य—इन ऋषियों के वंशों का वर्णन बड़े सुचारु रूप से हम १९५ अध्याय से लेकर २०२ अध्याय तक क्रमपूर्वक पाते हैं। तीसरी विशेषता है राजधर्म का विशिष्ट वर्णन। २१५ वें अध्याय से लेकर २४३ तक दैव, पुरुषकार, साम, दाम, दण्ड, भेद, दुर्ग, यात्रा, सहायसंपत्ति और तुलादान आदि का वर्णन इस ग्रन्थ को राजनैतिक महत्त्व प्रदान करता है। इसी राजधर्म के अन्तर्गत अद्भुत शान्ति का खण्ड भी बड़ी नवीनता लिये हुए है (अ० २२८ से ३३८)। चौथी विशेषता है प्रतिमा-लक्षण अर्थात् भिन्न-भिन्न देवताओं की प्रतिमा का मापपूर्वक निर्माण। हमारा प्रतिमा-शास्त्र वैज्ञानिक पद्धति पर अवलम्बित है। भिन्न-भिन्न देवताओं की मूर्तियों की रचना तालमान के अनुसार होती है। उनकी प्रतिष्ठा-पीठ का निर्माण भी एक विशिष्ट शैली से होता है। इन सब विषयों का वर्णन इस पुराण में अनेक अध्यायों (अ० २५७-२७०) में बड़े प्रामाणिक रूप से दिया गया है। राजा को अपने शत्रु पर चढ़ाई करते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए—इसका कितना सुन्दर वर्णन इस पुराण के राजधर्म में दिया गया है :—

विज्ञाय राजा द्विजदेशकालौ,
दैवं त्रिकालं च तथैव बुद्ध्वा।
यायात् परं कालविदां मतेन,
संचिन्त्य सार्धं द्विजमन्त्रविद्भिः॥

(१७) गरुड-पुराण

इस पुराण में विष्णु ने गरुड़ को विश्व की सृष्टि बतलाई थी। इसीलिये इसका नाम गरुड पुराण पड़ गया। इसमें १८,००० श्लोक हैं और अध्यायों की संख्या २६४ है। इसमें दो खंड हैं। पूर्वखंड में उपयोगिनी नाना विद्याओं के विस्तृत वर्णन हैं। आरम्भ में विष्णु तथा उनके अवतारों का माहात्म्य कथित है। इसके एक अंश में नाना प्रकार के रत्नों की परीक्षा है जैसे मोती की परीक्षा (अ० ६९), पद्मराग की परीक्षा (अ० ७०), मरकत, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुष्पराग, करकेतन, भीष्मरत्न, पुलक, रुधिराख्य रत्न, स्फटिक तथा विद्रुम की परीक्षा (अ० ७१-८० तक) क्रमशः की गई है। राजनीति का भी वर्णन बड़े विस्तार के साथ यहाँ (अ० १०८ से ११५ तक) उपलब्ध होता है। आयुर्वेद के आवश्यक निदान तथा चिकित्सा का कथन अनेकों अध्यायों (अ० १५०-१८१) मे किया गया है। नाना प्रकार के रोगों के दूर करने के लिए औषधि-व्यवस्था भी यहाँ (अ० १७०-१९६ तक) की गई है। इसके अतिरिक्त

एक अध्याय (१९७) में पशु-चिकित्सा का भी वर्णन इसमें पाया गया है जो समधिक महत्त्वपूर्ण है। एक दूसरा अध्याय (अ० १९९) बुद्धि के निर्मल बनाने के लिये औषधि की व्यवस्था करता है। अच्छा होता कि आयुर्वेद के प्रतिपादक ये ५० अध्याय अलग पुस्तकाकार प्रकाशित किये जाते और अन्य आयुर्वेद के ग्रन्थों के साथ इसका भी अनुशीलन किया जाता। छन्दःशास्त्र के विषय में ६ अध्याय (अ० २११-२१६) यहाँ मिलते हैं। सांख्ययोग का भी इसमें (अ० २३० और अ० २४३) वर्णन है। एक अध्याय (अ० २४२) में गीता का सारांश भी वर्णित है। इस प्रकार गरुड़ पुराण का यह पूर्व अंश अग्निपुराण के समान ही समस्त विद्याओं का विश्वकोष कहा जाय तो अनुचित न होगा।

इस पुराण का उत्तरखंड 'प्रेत कल्प' कहा जाता है जिसमें ४५ अध्याय हैं। मरने के बाद मनुष्य की क्या गति होती है? वह किस योनि में उत्पन्न होता है तथा कौन-कौन सा भोग भोगता है? इसका वर्णन अन्य पुराणों में यत्र तत्र पाया जाता है; परन्तु इस पुराण में इस विषय का अत्यन्त विस्तृत तथा साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इसमें गर्भावस्था, नरक, यम-नगर का मार्ग, प्रेतगण का वासस्थान, प्रेतलक्षण तथा प्रेतयोनि से मुक्ति, प्रेतों का रूप, मनुष्यों की आयु, यमलोक का विस्तार सपिण्डीकरण की विधि, वृषोत्सर्ग-विधान आदि विषयों का भिन्न-भिन्न अध्यायों में बड़ा रोचक तथा विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। श्राद्ध के समय इस पुराण का पाठ किया जाता है। इस 'उत्तर खण्ड' का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ है।

(१८) ब्रह्माण्ड पुराण

इस पुराण में समस्त ब्रह्माण्ड के वर्णन होने के कारण इसका नाम ब्रह्माण्ड पुराण पड़ा है। भुवन-कोष का वर्णन प्रायः हर एक पुराण में उपलब्ध होता है; परन्तु इस पुराण में पूरे विश्व का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। आजकल उपलब्ध पुराण में जो वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ है—प्रक्रियापाद तथा उपोद्घात पाद आदि चारों पाद उपलब्ध हैं। नारद पुराण से पता चलता है कि प्रारम्भ में इसके १२,००० श्लोक थे तथा प्रक्रिया,

---

१. शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि, ब्रह्माण्डाख्यं पुरातनम्।
यच्च द्वादश साहस्रं, भाविकल्प-कथायुतम्॥
प्रक्रियाख्योऽनुषङ्गाख्यः उपोद्घातः तृतीयकः।
चतुर्थ उपसंहारः, पादाश्चत्वार एव हि॥

अनुषङ्ग, उपोद्घात और उपसंहार नामक चार पाद[1] थे। इन चारों पादों की विषय सूची भी नारदपुराण में दी हुई है। कूर्म पुराण की विषय-सूची में इस पुराण को 'वाय्वीय ब्रह्माण्ड पुराण' कहा गया है। इस नामकरण ने अनेक पश्चिमी विद्वानों को भ्रम में डाल दिया है। उनके मत से इस पुराण का मूल वायुपुराण है और ब्रह्माण्डपुराण उसी वायुपुराण का विकसित रूप है। परन्तु यह धारणा नितान्त निराधार है। नारदपुराण के वचन से हम जानते हैं कि व्यासजी को वायु ने इस पुराण का उपदेश दिया था। इसलिये इसका वायु-प्रोक्त ब्रह्माण्ड पुराण नाम पड़ना उचित ही है। नारद पुराण का महत्त्वपूर्ण वाक्य यह है:—

व्यासो लब्ध्वा ततश्चैतत्, प्रभञ्जनमुखोद्गतम्।
प्रमाणीकृत्य लोकेऽस्मिन्, प्रावर्तयदनुत्तमम्॥

इस पुराण के प्रथम खण्ड में विश्व के भूगोल का विस्तृत तथा रोचक वर्णन है। जम्बू द्वीप तथा उसके पर्वत, नदियों का वर्णन अनेक अध्यायों में (अ० ६६-७२ तक) है। भद्राश्व, केतुमाल, चन्द्र द्वीप, किंपुरुषवर्ष, कैलाश, शाल्मलि द्वीप, कुश द्वीप, क्रौञ्च द्वीप, शाक द्वीप, पुष्कर द्वीप आदि समग्र वर्षों तथा द्वीपों का भिन्न-भिन्न अध्यायों में बड़ा ही रोचक तथा पूर्ण वर्णन है। इसी प्रकार ग्रहों, नक्षत्रों तथा युगों का भी विशेष विवरण इसमें दिया गया है। इस पुराण के तृतीय पाद में भारतवर्ष के प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशों का वर्णन इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है।

इस पुराण के विषय में एक विशेष बात उल्लेखनीय है। ईसवीं सन् ५ वीं शताब्दी में इस पुराण को ब्राह्मण लोग जावा द्वीप ले गये थे जहां उसका जावा की प्राचीन 'कवि भाषा' में अनुवाद आज भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार इस पुराण का समय बहुत ही प्राचीन सिद्ध होता है।

पञ्चम परिच्छेद

पुराण में अवतारतत्त्व

'अवतार' शब्द की व्युत्पत्ति 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'तॄ' धातु से घञ् प्रत्यय से सिद्ध होती है। इस विषय में पाणिनि का विशिष्ट सूत्र है—अवे तृस्त्रोर्घञ् (३।३।१२०) जिससे 'अवतार' शब्द का अर्थ है किसी ऊँचे स्थान से नीचे उतरने की क्रिया अथवा उतरने का स्थान। इस सामान्य अर्थ के अतिरिक्त इसका एक विशिष्ट अर्थ भी है— किसी महनीय शक्तिसम्पन्न भगवान् या देवता का नीचे के लोक में ऊपर से उतरना तथा मानव या अमानवरूप का धारण करना। इसी अर्थ में पुराणों में 'आविर्भाव' शब्द का भी प्रयोग पाया जाता है। 'अवतार' की सिद्धि दो दशाओं में मानी जाती है—एक तो रूप का परिवर्तन (स्वीय रूप का परित्याग कर कार्यवश नवीन रूप का ग्रहण), दूसरा है नवीन जन्म ग्रहण कर तत्तद्रूप में आना जिसमें माता के गर्भ में उचित काल तक स्थिति की वात भी सन्निविष्ट है। भगवान् के लिए ये दोनों अवस्थायें उपयुक्त तथा सुलभ हैं। 'अवतार' की बात किसी अलौकिक शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति-भगवान् विष्णु, शंकर या इन्द्र आदि-के लिए ही उपयुक्त मानी जाती है। कार्य-वश भगवान् का विना रूप परिवर्तन किये ही आविर्भाव होना 'अवतार' के भीतर ही माना जाता है। जैसे प्रह्लाद को विपत्ति से उद्धार के लिए विष्णु का अपने ही रूप में आविर्भाव विष्णु पुराण[1] में तथा गजेन्द्र के उद्धार के लिए विष्णु का स्वरूपतः प्रादुर्भाव भागवत पुराण (१।३) में वर्णित है। इन अवतारों में रूप-परिवर्तन की बात नहीं है।

अवतार की प्रक्रिया

भगवान् के अवतार धारण करने के विषय में पुराण तथा इतिहास में चार मत बतलाये गये हैं जिनमें अवतार की कल्पना का स्पष्ट विकास लक्षित होता है।

---

१. तस्य तच्चेतसो देवः स्तुतिमित्थं प्रकुर्वतः।
आविर्बभूव भगवान् पीताम्बरधरो हरिः॥

—विष्णु १।२०।१४

(१) प्रथम[1] मत-इसको हम लोकप्रिय सामान्य मत कह सकते हैं। इस मत के अनुसार भगवान् अपनी दिव्य मूर्ति का सर्वथा परित्याग कर ही भूतल पर अवतीर्ण होते हैं—चाहे नवीन जन्म धारण करके या विना जन्म धारण के ही रूप परिवर्तन करके। यह मत आदिम मानवों की कल्पना तथा विश्वास से प्रसूत माना जा सकता है। (२) द्वितीय[2] मत यह है कि भगवान् का केवल एक अंश ही—चाहे वह आधा हो, चतुर्थांश हो या एक बहुत ही छोटा भाग हो—इस धरातल पर अवतीर्ण होता है। अवतीर्ण अंश से अवशिष्ट भाग मूल स्थान में ही निवास करता है और ये दोनों भाग एक साथ ही एक ही काल में विभिन्न व्यापार करते हैं। अवतीर्ण अंश जिस समय एक विशिष्ट (जैसे संरक्षण) कार्य करता है, अवतारी अंश उसी समय अन्य कार्य में निषक्त पाया जाता है। श्रीकृष्ण के अवतार काल में विष्णु का स्वर्ग में भूमि के साथ वार्तालाप का वर्णन महाभारत करता है। तात्पर्य यह है कि दो भिन्न कार्य एक साथ ही निष्पन्न होते हैं।

(३) तृतीय मत है कि विष्णु ने अपनी मूर्ति का दो भाग कर दिया। पहिली मूर्ति स्वर्ग में स्थित होकर दुश्चर तपस्या करती है और दूसरी मूर्ति योग-निद्रा का आश्रयण कर प्रजाओं के संहार तथा सृष्टि के विषय में विचार किया करती है। एक सहस्र युगों तक यह मूर्ति शयन करने के बाद अपनी समुद्री शय्या से उत्थित होती है तथा कार्य के अनुकूल आविर्भूत होती है। हरिवंश (१।४१।१८ आदि) के इस मत के प्रतिपादक पद्यों की व्याख्या में नीलकण्ठ प्रथम मूर्ति को 'सात्त्विकी' तथा द्वितीय मूर्ति को 'तामसी' कहते हैं। इस मत के अनुसार अवतार-कार्य भगवान् के अर्धभाग का विलास है। प्रथम मूर्ति जो तपस्या के निष्पादन में ही संलग्न रहती है, अवतार के कार्य से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखती। महाभारत प्रथम मूर्ति को वासुदेव तथा द्वितीय मूर्ति को 'संकर्षण' नाम से पुकारता है।[3]

---

१. त्यक्त्वा दिव्यां तनुं विष्णुर्मानुषेस्विह जायते।
युगे त्वथ परावृत्ते काले प्रशिथिले प्रभुः॥ —मत्स्य ४७।३४

२. यदा यदा त्वधर्मस्य वृद्धिर्भवति भो द्विजाः।
धर्मश्च ह्रासमभ्येति तदा देवो जनार्दनः॥
अवतारं करोत्यत्र द्विधाकृत्वाऽऽत्मनस्तनुम्।
सर्वदैव जगत्यर्थे स सर्वात्मा जगन्मयः।
स्वल्पांशेनावतीर्योर्व्यां धर्मस्य कुरुते स्थितिम्।—ब्रह्म ७२।२–३ तथा ९

३. तस्यैका महाराज मूर्तिर्भवति सत्तम।
नित्यं दिविष्ठा या राजन्! तपश्चरति दुश्चरम्॥

(४) चतुर्थमत-जो इस विषय में विशेषतः विकसित मत प्रतीत होता है। यह है ब्रह्मपुराण का कथन कि समस्त जगत को व्याप्त करने वाले नारायण ने अपनी मूर्तिको चार भागों में विभाजत किया जिन में एक मूर्ति 'निर्गुण' तथा अन्य तीन 'सगुण' रूप हैं। निर्गुण मूर्ति का नाम है (१) वासुदेव तथा सगुणमूर्ति के नाम है—(२) संकर्षण, (३) प्रद्युम्न तथा (४) अनिरुद्ध। इन चारों मूर्तियों को महाभारत में क्रमशः पुरुष, जीव, मनः तथा अहंकार कहा गया है और इस प्रकार इनका दार्शनिक रूप अभिहित किया गया है। ब्रह्मपुराण के अनुसार 'वासुदेव' मूर्ति निर्देश-विहीन शुक्ल, ज्वाला के समूह से दीप्तमान शरीरवाली, योगियों के द्वारा उपास्य, दूर तथा अन्तिक दोनों जगह रहने वाली तथा गुणों से अतीत होती है'। दूसरी मूर्ति का नाम है शेष या संकर्षण जो अपने मस्तक पर नीचे से पृथ्वी को धारण करती है और सर्परूप को धारण करने के हेतु, वह तामसी कही जाती है। तृतीय मूर्ति —प्रद्युम्न का कार्य धर्म का संस्थापन तथा प्रजा का पालन है और इसी लिए यह सत्त्वप्रधान मूर्ति मानी गई है। चतुर्थ मूर्ति अनिरुद्ध —समुद्र के बीच सर्प की शय्या पर शयन करती है। रज इसका गुण होता है और इसी से यह संसार की सृष्टि करने वाली होती है। इन चारों मूर्तियों में से तृतीय मूर्ति जिसका कार्य प्रजा का पालन है नियतरूप से धर्म की व्यवस्था करती है। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब यह अपने को स्पष्ट कर भूतल अर अवतीर्ण होती है। 'अवतार' करने वाली यह प्रद्युम्न मूर्ति है जिसका मुख्य कार्य रक्षण कार्य की निष्पत्ति है। इस मत के अनुसार भगवान् की प्रद्युम्न मूर्ति का ही कार्य अवतार लेना तथा धर्म की व्यवस्था करना है अर्थात् अवतार भगवान् के चतुर्थ अंश का ही विलास है। इस पुराण का यह और भी कथन

द्वितीया चास्य शयने निद्रायोगमुपाययौ।
प्रजासंहार सर्गार्थं किमध्यात्मविचिन्तकम् ॥
सुप्त्वा युग सहस्रं स प्रादुर्भवति कार्यतः।
पूर्णे युगसहस्रे तु देवदेवो जगद् पतिः॥

—हरिवंश प्रथम खण्ड ४११८—२०।

१. स देवो भगवान् सर्वं व्याप्य नारायणो विभुः।
चतुर्धा संस्थितो ब्रह्मा सगुणो निर्गुणस्तथा।
एका मूर्तिरनुद्देश्या शुक्लां पश्यन्ति तां बुधाः।
ज्वालामालाऽवनद्धाङ्गी निष्ठा सा योगिनां परा॥
दूरस्था चान्तिकस्था च विज्ञेया सा गुणातिगा।
वासुदेवाभिधानासौ निर्ममत्वेन दृश्यते॥

है कि देव, मनुष्य तथा तिर्यंग्योनि में जहाँ कहीं यह मूर्ति अवतीर्ण होती है वहाँ वह उसके स्वभाव को ग्रहण[1] करती है तथा पूजित होने पर वह अभिमत कामना की पूर्ति करती है। देव तथा गन्धर्व, जो धर्म के रक्षण में तत्पर रहते हैं, को तो वह बचाती है, परन्तु उद्धत असुरों को, जो धर्म के नाश करने में आसक्त होते हैं, सर्वथा नष्ट कर[1] देती है। इस प्रकार धार्मिक सन्तुलन की व्यवस्था करना, जो अवतार का मुख्य उद्देश्य होता है, प्रद्युम्न मूर्ति के ही द्वारा सम्पन्न होता है[2]।

इस प्रकार अवतार का सम्बन्ध पुराणों की दृष्टि में चतुर्व्यूहवाद से सिद्ध होता है। चतुर्व्यूहवाद भागवतों का विशिष्ट सिद्धान्त था जैसा शंकरभाष्य से स्पष्टतः संकेतित होता है (शारीरिकभाष्य २।२।४२) अवतार के विकसित सिद्धान्त की प्रतिपादिका श्रीमद्भगवद्गीता चतुर्व्यूह के सिद्धान्त का उल्लेख नहीं करती। महाभारत के नारायणीय पर्व में चतुर्व्यूह का वर्णन उपलब्ध

द्वितीया पृथिवीं मूर्ध्ना शेषाख्या धारयत्यधः।
तामसी सा समाख्याता तिर्यक्त्वं समुपागता॥
तृतीया कर्म कुरुते प्रजापालनतत्परा।
सत्त्वोद्रिक्ता च सा ज्ञेया धर्मसंस्थानकारिणी॥
चतुर्थी जलमध्यस्था शेते पन्नगतल्पगा।
रजस्तस्या गुणः सर्गं सा करोति सदैव हि॥
या तृतीया हरेर्मूर्तिः प्रजापालनतत्परा
सा तु धर्मं व्यवस्थानं करोति नियतं भुवि॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः समुपजायते।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजत्यसौ॥
इति सा सात्विकी मूर्तिरवतारं करोति च
प्रद्युम्नेति समाख्याता रक्षा-कर्मण्यवस्थिता॥

ब्रह्म० ७१।१६ आदि। इस कल्पना को महा० शान्तिपर्व (अ० ३४२, ३४७ तथा ३५६) से मिलाइए।

१. देवत्वेऽथ मनुष्यत्वे तिर्यग्योनौ च संस्थिता।
गृह्णाति तत्-स्वभावं च वासुदेवेच्छया सदा।
ददात्यभिमतान् कामान् पूजिता सा द्विजोत्तमाः॥

—ब्रह्म० ७१।४१-४२

२. प्रोद्धतानसुरान् हन्ति धर्मव्युच्छित्तिकारिणः।
पाति देवान् सगन्धर्वान् धर्मरक्षापरायणान्॥

—तत्रैव ७१।२४

है। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि महाभारत के मूल में (जैसा प्राचीन हस्तलेखों से सिद्ध होता है) वासुदेव तथा संकर्षण केवल इन्हीं दोनों व्यूहों का ही उल्लेख था। प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की कल्पना अवान्तर युग की घटना है क्योंकि ये दोनों व्यूह पिछले हस्तलेखों में ही निर्दिष्ट किये गये हैं। महाभाष्य के एक उदाहरण—जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव—को डाक्टर भाण्डारकर इस चतुर्व्यूह वाद का समर्थक मानते हैं। यदि यह मत ठीक हो, तो चतुर्व्यूह का सिद्धान्त ईसापूर्व द्वितीय शती से निःसन्देह प्राचीन सिद्ध होता है। आचार्य शङ्कर के मतानुसार परमात्मा के प्रतीकभूत वासुदेव से जीवप्रतीक संकर्षण की उत्पत्ति होती है और संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) की (शाङ्करभाष्य २।२।४२)। शंकर के मत में जीव की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त अवैदिक है, परन्तु रामानुज के मत में यह पूर्ण वैदिक है[1]। पाञ्चरात्र ग्रन्थों में अवतार का सिद्धान्त विशेषरूप से उपलब्ध नहीं होता, परन्तु वैखानस आगम में इसकी संक्षेप मे सूचना मिलती है। जो कुछ भी हो, पुराणों के आधार पर अवतार का सिद्धान्त पाञ्चरात्रों के चतुर्व्यूहवाद के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है और इस तरह अवतार के विकास के ऊपर इस तन्त्र का विशेष प्रभाव लक्षित होता है।

अवतार का प्रयोजन

यह अवतार-तत्त्व पुराण के प्रधान विषयों में अन्यतम है। अवतार का तत्त्व भगवान् के धर्म नियामकत्व रूप पर प्रतिष्ठित है। इस विश्व को एक सूत्र में धारण करने वाला, नियमित रखने वाला तत्व धर्म है। इस धर्म का नियमन सर्वशक्तिमान् परमात्मा की एक विशिष्ट शक्ति का विलास है। जब-जब इस धर्म की ग्लानि होती है तथा अधर्म का अभ्युत्थान (उदय) होता है तब-तब भगवान् अपने को इस विश्व में पैदा करते हैं। ऊर्ध्व लोक से इस अधो लोक में भगवान् का उतर कर् आना ही 'अवतार' पद वाच्य होता है। भगवान् श्रीकृष्ण का यह स्वतः कथन है कि साधुओं (दूसरेके कार्य को सिद्ध करने वाले व्यक्तियों) के परित्राण (सर्वत , चारों ओर से रक्षा) के निमित्त तथा पापियों के नाश के लिए मैं युग-युग में अपनी माया का आश्रयण कर स्वयं उत्पन्न होता हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता के ये श्लोक अवतारवाद का मौलिक तथ्य प्रकट करते हैं—

---

१. आगम के प्रमाण्य पर द्रष्टव्य यामुनाचार्य का 'आगम प्रामाण्य', वेदान्त देशिक की 'पाञ्चरात्र रक्षा' तथा भट्टारक वेदोत्तम का 'तन्त्रशुद्ध', भागवत सम्प्रदाय पृ० १०९-१११

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

—गीता ४।३-४

ये श्लोक अवतारवाद के मानों रीढ़ है और इन्हीं वचनों का प्रभाव पुराणों पर पड़ा है। इसलिए इस तथ्य के द्योतक श्लोक इसी रूपमें उपलब्ध होते हैं।[1]

इस प्रयोजन के अतिरिक्त भागवत में एक अन्य प्रयोजन की सूचना मिलती है जिसे इसकी अपेक्षा उदात्ततर स्थान दिया गया है—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥

—भाग० १०।२९।१४

---

१. अवतार की आवश्यकता के समर्थक पौराणिक वचन अनेक हैं। उनमें से कुछ चुने हुए वचन यहाँ दिये जाते हैं :—

(१) जज्ञे पुनः पुनर्विष्णुर्यज्ञे च शिथिलः प्रभुः
कर्तुं धर्मव्यवस्थानम् अधर्मस्य च नाशनम् ॥

'—वायु० ९८।६९।

मत्स्यपुराण (४७।२३५) में यह श्लोक मिलता है पाठभेद के साथ—धर्मे प्रशिथिले तथा असुराणां प्रणाशनम्'—ये दो नये पाठ हैं।

(२) बह्वीः संसरमाणो वै योनीर्वर्तामि सत्तम।
धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ॥

आश्वमेधिक पर्व ५४।१३

(३) असतां निग्रहार्थाय धर्मसंरक्षणाय च।
अवतीर्णो मनुष्याणामजायत यदुक्षये।
स एव भगवान् विष्णु कृष्णेति परिकीर्त्यते ॥

—वनपर्व, २७२।७१-७२

(४) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भूधर
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदा वेषान् बिभर्म्यहम् ॥

—देवी भागवत (७।३९)

(५) ब्रह्मपुराण (१८०।२६-२७ तथा १८१।२-४) में गीता के पूर्वोक्त वचनों से सदृश वचन पाये जाते हैं।

अव्यय, अप्रमेय, गुणहीन तथा गुणात्मक भगवान् की अभिव्यक्ति—अवतार—मनुष्यों के परमकल्याणभूत मोक्ष के साधन के लिए है। यदि भगवान् का प्राकट्य इस जगतीतल पर नहीं होता, तो उनके अशेष गुण-समुच्चय का पता ही अल्पज्ञ जीव को किस प्रकार चलता ? भगवान् का भौतिक सौन्दर्य, चारित्रिक माधुर्य, अप्रमेय आकर्षण का परिचय जीव को तभी मिलता है, जब उनकी अभिव्यक्ति अवतार के रूप में इस धराधाम के ऊपर होती है। भगवान् के विलास, हास, अवलोकन और भाषण अत्यन्त रमणीय होते हैं तथा उनके अवयवों से अलौकिक आभा निकलती है। इनके द्वारा भक्तों का मन तथा प्राण विषयों से आहृत होकर भगवान् में ही केन्द्रित हो जाता है और न चाहने पर भी भक्तिमुक्ति का वितरण करती है; परन्तु यह तभी संभव है जब भगवान् का अवतार भूतल पर होता है। भागवत के शब्दों से—

तैर्दर्शनीयावयवैरुदार-विलासहासेक्षितवामसूक्तैः।
हृतात्मनो हृतप्राणाँश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुंक्ते॥

—भाग० ३।२५।३६

अलौकिक रागात्मिका भक्ति का वितरण ही भगवान् के प्राकट्य का उच्चतर तात्पर्य है जिसके सामने धर्मका व्यवस्थापन एक लघुतर व्यापार है।

ज्ञान का वितरण भी भगवान् के अवतार का प्रयोजन हैं। भगवान् ही सब गुरुओं के गुरु है तथा सब ज्ञानों के आधार हैं। वहीं से ज्ञान की धारा लोक-मंगल के लिए प्रवाहित होती है जिसके कतिपय बिन्दुओं को पाकर भी मानव धन्य हो जाता है। 'कपिल' अवतार का उद्देश्य ही तत्त्व-प्रसंख्यान-तत्त्वों का निरूपण- तथा आत्मा की उपलब्धि का मार्ग बतलाना था। कर्दम तथा देवहूति के घर कपिलरूप से अवतरण के समय भगवान् का अपना कथन है—

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात्।
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शने॥

—भाग० ३।२४।३६

अन्यत्र (३।२५।१) भी इसी का संकेत किया गया है—

कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवान् आत्ममायया।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम्॥

फलतः जीव को मोक्ष प्रदान करना ही भगवान् के अवतरण का मुख्य उद्देश्य है। वद्ध जीव दूसरे वद्ध को मुक्त नहीं कर सकता—

स्वयं वद्धः कथमपरान् तारयति।

शुद्ध बुद्ध-मुक्त भगवान् ही बद्ध जीव के बन्धन को काटने का मार्ग बतला कर उसे मुक्त कर सकते हैं। यही मुख्य तात्पर्य है अवतार का। भौतिक क्लेश

का विनाश तो एक लघुतर अभिप्राय है अवतार का। श्रीमद्भागवत का यह शंखनाद इस विषय का चूडान्त विमर्श है :—

मर्त्यावतारः खलु मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ॥

अवतार का वीज

अवतार का वीज वैदिक ग्रन्थों में स्पष्टतः मिलता है। ऋक् संहिता के अनुशीलन से इसके बीजों का संकेत इसके अनेक मन्त्रों में उपलब्ध होता है। अवतार का सम्वन्ध पुनर्जन्मवाद के साथ घनिष्ठरूप से माना जाता है और विद्वानों की दृष्टि में पुनर्जन्म अथवा आत्मा के संसरण के सिद्धान्त ऋग्वेद के मन्त्रों में यत्र तत्र पाये जाते हैं। ऋग्वेद के इन मन्त्रों में इन्द्र को अपनी माया के द्वारा नाना रूपों के धारण करने का तत्त्व प्रतिपादित किया गया है—

(क) रूपं रूपं मघवा वोभवीति
मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।
त्रिर्यद् दिवः परिमुहूर्तमागात्
स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥ ३।५३।८

(ख) रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते
युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ ६।४७।१८

इन मन्त्रों में इन्द्र मायाओं के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप धारण करने वाले वतलाये गये हैं। 'माया' का वैदिक अर्थ अवान्तर लोक-प्रचलित अर्थ से भिन्न माना जाता है। इसीलिए सायण ने इसका अर्थ ज्ञान, शक्ति अथवा आत्मीय संकल्प किया है। परन्तु महाभारत के काल में इसका व्यवहार प्रचलित अर्थ में हो गया था, क्योंकि पूर्वोक्त मन्त्रों के आधार पर ही वहाँ इन्द्र को 'वहुमायः' वतलाया गया है।[1] यह प्रयोग नवीन अर्थ में ही किया गया है। ऋग्वेद (१।५१।१३) में इन्द्र वृषणश्व की मेना नाम्नी दुहिता का रूप धारण करने वाले कहे गये हैं। सायण के इस मन्त्र के अर्थ का आधार

---

१. स (इन्द्रः) हि रूपाणि कुरुते विविधानि भृगूत्तम।
वहुमायः स विप्रर्षे वलहा पाकशासनः ॥

—महा० भा० अनुशासन ७५।२५

शाट्यायन तथा ताण्ड्य ब्राह्मण के तत्तत् स्थल हैं जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्राह्मणयुग में यह आख्यायिका बहुशः प्रचलित हो गई थी। ऋग्वेद (८।१७।१३) में इन्द्र 'शृंगवृष' के पुत्र का रूप धारण करने वाले माने गये हैं। इन दोनों स्थलों पर इन्द्र के अवतार का स्पष्ट आभास मिलता है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान् का प्रथम अवतार 'पुरुष'[1] है जिसका वर्णन ऋग्वेद के प्रख्यात पुरुषसूक्त मे किया गया है। भागवत इस रूप को ही नाना अवतारों का बीज मानता है जिसके अंशांश से देव, तिर्यक् तथा नर आदि की सृष्टि होती है[2]। निष्कर्ष यह है कि अवतार का संकेत ऋग्वेद के पूर्वोक्त मन्त्रों में, अस्पष्ट रूप से सही, अवश्यमेव विद्यमान है। यह तो इन्द्र-विषयक मन्त्रों के आधार पर है। पुरुषसूक्त में वर्णित 'पुरुष' को भागवत भगवान् का आद्य अवतार ही नहीं, प्रत्युत नाना अवतारों का वीज (उद्गम स्थान) तथा निधान (संहार स्थान) भी मानता है।

अवतारवाद[3] के ऋग्वेद-संहिता में दिये गये बीज ब्राह्मण ग्रन्थों में विशेष विकसित दृष्टिगोचर होते हैं—इस भावना का स्पष्टरूप हमें शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। प्रजापति ने ही मत्स्य (१. ८. १. १) का, कूर्म का (७ ५. १. ५, १४. १. २–११) तथा वराह का (१४. १. २. ११) अवतार लिया था, ऐसा शतपथ ब्राह्मण का स्पष्ट कथन हैं। प्रजापति के वराहरूप धारण करने की कथा तैत्तिरीय-ब्राह्मण (१. १. ३. ५) में तथा काठक संहिता में भी (८. २) बीजरूप से मिलती है। रामायण में भी वराह अवतार का वर्णन है (रामा० २।११०) तथा महाभारत में ब्रह्मा के द्वारा मत्स्यरूप लेने का संकेत है (३।१८७)। अभीतक इन अवतारों का सम्बन्ध अधिकतर प्रजापति के साथ था, कालान्तर में विष्णु के प्राधान्य की स्थापना होने पर ये अवतार विष्णु के ही माने गये। परन्तु वामनावतार के विषय में

---

१. जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः।
संभूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥

—भाग० १।३।१

२. एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥

—भाग० १।३।५

३. द्रष्टव्य याकोबीः इनकार नेशन, इ. आर. ए० भाग ७;
काणे : हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, भाग २, पार्ट २, पृ. ३१७ आदि।
रायचौधरीः अर्ली हिस्ट्री आव वैष्णव सेक्ट पृ. ९६.

ऐसा नहीं कहा जा सकता। आरम्भ से ही ऋग्वेद में विष्णु 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' के विशेषणों से मण्डित किये गये हैं और तीन डगों में पृथ्वी को माप लेना (विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः) उनका एक विशिष्ट वीर्यसम्पन्न कार्य माना गया है तथा शतपथ ब्राह्मण में (१. २. ५. १) विष्णु के वामन होने की विस्तार से कथा दी गई है। अतः वामनावतार का सम्बन्ध मूलतः विष्णु से है, अन्य अवतारों (मत्स्य, कूर्म, वाराह) का प्रजापति के साथ वैदिक साहित्य में वर्णित सम्बन्ध विष्णु के प्रधान देव होने पर उन्हीं के साथ जोड़ दिया गया; ऐसा मानना अनुचित न होगा।

एक बात ध्यान देने योग्य है। अवतारवाद ब्राह्मण साहित्य में अवश्यमेव वर्तमान था, परन्तु न तो उस समय विष्णु का प्राधान्य था और न इन अवतारों की पूजा ही होती थी। भागवत सम्प्रदाय के उदय होने पर जब कृष्ण-बलराम की भक्ति उद्घोषित हुई, तब अवतार वाद का उत्कर्ष सम्पन्न हुआ। वासुदेव कृष्ण के विष्णु के अवतार होने की कल्पना का उदय आरण्यक युग में हो गया था जब तैत्तिरीय आरण्यक (प्रपाठक १०, अनुवाक १) उनकी गायत्री इस मन्त्र में दे रहा है—

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि।
तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्॥

पाणिनि ने अपने सूत्र (वासुदेवार्जुनाभ्यां वुञ्) में वासुदेव तथा अर्जुन की भक्ति का उल्लेख किया है। वैष्णव-आगम के उदय होने पर वासुदेव कृष्ण का नारायण के साथ ऐक्य स्थापित हो गया और अवतारवाद के विकास का युग आ गया। श्रीमद्भगवद्गीता के युग में (ईस्वी पूर्व चतुर्थ-पंचम शती में) अवतार-वाद वैष्णवधर्म का एक विशद तथ्य स्वीकृत हो गया था; इसे विशेष रूप से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। श्रीकृष्ण के पूर्वोदाहृत वचन इस विषय में स्पष्ट प्रमाणभूत हैं।

अवतारों की संख्या

अवतार-वाद का सिद्धान्त मान्य होने पर भी अवतारों की कितनी संख्या थी? इसके विषय में महाभारत तथा पुराणों में अनेक मत दृष्टिगोचर होते हैं। विषय तरल अवस्था में था; किसी ठोस अवस्था को उसने प्राचीन ग्रन्थों में नहीं पाया था। इसका पता इस घटना से लग सकता है कि एक ही ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न अध्यायों में ही पार्थक्य नहीं है, प्रत्युत कभी-कभी एक ही अध्याय में भी विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। अवतार-वाद का मौलिक तथ्य भगवद्गीता की देन है, परन्तु गीता में दो ही अवतार निर्दिष्ट हैं—

राम (रामः शस्त्रभृतामहम्) तथा कृष्ण। नारायणीय पर्व (शान्तिपर्व अ० ३३९।७७-१०२) में केवल छः ही अवतार अपने विशिष्ट कार्यों के साथ निर्दिष्ट किये गये हैं—वराह, नरसिंह, वामन, भार्गव राम, दाशरथी राम तथा कृष्ण। इन अवतारों के कार्य वे ही हैं जो लोक में सर्वत्र प्रख्यात हैं। इसी अध्याय में दश अवतार भी उल्लिखित[1] हैं जिनमें दशावतार के लोकप्रिय नामों में बुद्ध का अभाव है तथा 'हंस' की सत्ता होने से संख्या की पूर्ति होती है। साधारणतः स्वीकृत दश अवतारों का निर्देश पुराणों में बहुलतया उपलब्ध है (वराह ४।२;४८।१७-२२; मत्स्य २८५।६-७; अग्नि अध्याय २-१६ दशों के कार्यों का विवरण भी), नरसिंह (अ० ३६), पद्मपुराण (६।४३।१३-१५)। इन नामों के अतिरिक्त भी अवतारों की गणना पुराणों में मिलती है। भागवत में चार स्थलों पर निर्देश हैं।

भगवान् ने कितने अवतारों को धारण किया ? इस विषय में ऐकमत्य नहीं। श्रीमद् भागवत के चार स्कन्धों में भगवान् के अवतारों की गणना दी गई है। प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में अवतारों की संख्या बाइस (२२) दी गई है इस क्रम से—(१) कौमार सर्ग (=सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार); (२) वराह, (३) नारद, (४) नर-नारायण, (५) कपिल, (६) दत्तात्रेय, (७) यज्ञ, (८) ऋषभदेव, (९) पृथु, (१०) मत्स्य, (११) कच्छप, (१२) धन्वन्तरि, (१३) मोहिनी, (१४) नरसिंह, (१५) वामन, (१६) परशुराम, (१७) वेदव्यास, (१८) रामचन्द्र, (१९) बलराम, (२०), कृष्ण, (२१) बुद्ध तथा (२२) कल्कि। यहाँ केवल २२ अवतारों का ही निर्देश है, परन्तु साधारणतया भगवान् के तो २४ अवतार प्रसिद्ध हैं। इस वैषम्य को दूर करने के लिए टीकाकारों ने एक युक्ति दी है जिसका निर्देश आगे किया जावेगा। द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय में भी भगवान् के इन अवतारों का वर्णन क्रमशः किया गया है—वराह, यज्ञ, कपिल, दत्तात्रेय, चतुःसन (कौमारसर्ग) नर-नारायण, पृथु, ऋषभ, हयशीर्ष (=हयग्रीव), मत्स्य, कच्छप, नृसिंह, गजेन्द्र-मोक्षदाता, वामन, हंस, धन्वन्तरि, परशुराम, राम, कृष्ण, व्यास, बुद्ध, कल्कि। इस द्वितीय सूची को प्रथम सूची से मिलाने पर अनेक नामों में पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। द्वितीय सूची में अवतारों की संख्या वही बाइस है। प्रथम सूची के २२ नामों में हंस तथा हयग्रीव अव-

---

१. हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावाद् द्विजोत्तम।
वराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च॥
रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च॥
—शान्ति ३३९।१०३-१०४

तारों को सम्मिलन कर देने पर यह संख्या २४ हो जाती है। कुछ विद्वान् इसकी उपपत्ति अन्यथा बतलाते हैं। उनका कथन है प्रथम सूची में (बल) राम तथा कृष्ण को छोड़ देने पर २० अवतार बच जाते हैं। शेष चार अवतार श्रीकृष्ण के ही अंश हैं। श्रीकृष्ण स्वयं तो पूर्णपरमेश्वर हैं। अतः वे अवतारी हैं, अवतार नहीं हो सकते। उनके चार अंश हैं जो अवतार की गणना में गिने जाते हैं—एक तो केश का अवतार, दूसरा सुतपा तथा पृश्नि पर कृपा करने वाला अवतार, तीसरा संकर्षण (बलराम) तथा चौथा पर-ब्रह्म। इस प्रकार इन चार अवतारों से विशिष्ट पाँचवें साक्षात् भगवान् वासुदेव हैं। इस प्रकार २४ अवतारों की पूर्ति टीकाकारों ने की है।

भागवत के दशम तथा एकादश स्कन्धों में अवतारों का वर्णन है जो पूर्व वर्णन से कहीं मिलते हैं और कहीं-कहीं पृथक् भी हैं। दशम स्कन्ध (४०।१७–२२) में इस क्रम से अवतारों का निर्देश है— मत्स्य, हयशीर्ष, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, भृगुपति (परशुराम), रघुवर्य, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध (= चतुर्व्यूह), बुद्ध तथा कल्कि। एकादश (४।१७–२२) में अवतारों का विशेष विवरण उपलब्ध है—नर-नारायण, हंस, दत्तात्रेय, कुमार, ऋषभ, हयास्य, मत्स्य, वराह, कूर्म, गजेन्द्रमोक्षकर्ता, बालखिल्य के रक्षक, इन्द्र के शापमोचक, देवस्त्रियों के उद्धारक, नृसिंह, वामन, राम, सीतापति, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि। इन चारों अवतार-सूचियों का अनुशीलन हमें इसी निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि अवतारों की गणना अभी तरल रूप में थी जिसमें नये-नाम जोड़े-घटाये जाते थे। अभी तक वह ठोस रूप में, एक निश्चित परम्परा में अन्तर्भुक्त होने वाली दृष्टिगोचर नहीं होती।

तथ्य तो यह है कि बाइस या चौबीस रूपों में अवतारों का नियमन करना श्रीमद् भागवत के प्रणयन के पीछे की घटना है। इसीलिए भागवत का कथन[1] है कि सत्त्वनिधि भगवान् श्रीहरि के अवतार असंख्येय हैं; उनकी

१. अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाऽविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥ २६॥
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा। २७
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। —भागवत १।३।

हरिवंश तथा शान्तिपर्व में भी अवतारों के इसी गणनातीत रूप का उल्लेख मिलता है—

प्रादुर्भावसहस्राणि अतीतानि न संशयः।
भूयश्चैव भविष्यन्तीत्येवमाह प्रजापतिः॥ —हरिवंश १।४१।४१

गणना ही नहीं की जा सकती। जिस प्रकार अगाध सरोवर से हजारों छोटे-छोटे नाले निकलते हैं, उसी प्रकार अवतारों की बात समझनी चाहिए। ऋषि, मनु, मनुपुत्र, देव, प्रजापति तथा शक्तिशाली पुरुष—ये सब भगवान् के अंशावतार अथवा कलावतार हैं परन्तु श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् (अवतारी) है, अवतार नहीं। श्रीमद् भागवत का यह परिनिष्ठित सिद्धान्त कि कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् धार्मिक जगत् का एक समग्र तथ्य है जिसमें वैष्णव मतों का अनुयायी ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक विचारशाली मानव अपनी पूर्ण श्रद्धा रखता है। आजकल तो भगवान् के अवतारों की संख्या, प्रचलित रूप में, दश[1] ही मानी जाती है जिनका नाम और क्रम इस प्रकार है—

वनजौ वनजौ खर्वः त्रिरामी सकृपोऽकृपः।
अवतारा दशैवैते कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ॥

अवतार तो दश ही हैं—वनजौ (= जल में उत्पन्न होने दो अवतार—मत्स्व तथा कच्छप), वनजौ (जंगल में पैदा होने वाले दो अवतार—वराह तथा नृसिंह), खर्वं (= वामन), त्रिरामी (= तीन राम · परशुराम, दाशरथी राम तथा बलराम) सकृपः (कृपायुक्त अवतार = बुद्ध) तथा अकृपः (= कृपाहीन अवतार = कल्कि)। कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं जिनसे ये अवतार संभूत होते हैं। अवतारों का इस संख्या में नियमन कब हुआ ? यह अनुशीलन का विषय है। द्वादश शती में तो यह संख्या तथा क्रम दृढमूल हो गया था जब जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' के प्रथम सर्ग में इसी दशावतार की स्तुति की तथा क्षेमेन्द्र ने अपने 'दशावतार-चरित' महाकाव्य में इन अवतारों का चरित विस्तृत रूप से निबद्ध किया।

अतिक्रान्ताश्च बहवः प्रादुर्भावा ममोत्तमाः ॥
-- (शान्ति ३३९।१०६)

१. यही क्रम और संख्या अग्निपुराण में भी स्वीकृत है (द्रष्टव्य अग्निपुराण अध्याय २ — १६) तथा पद्मपुराण में भी—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्किश्च ते दश ॥
—पद्मपुराण, उत्तर २५७।४०-४१

लिंगपुराण (२।४८।३१-३२) में भी यही श्लोक उपलब्ध होता है। = वराहपुराण (४।२) तथा ११३।४२। = मत्स्यपुराण २८५।६-७ = गरुड-पुराण १।८६।१०-११, २।२०।३१-३२।

दशावतार की कल्पना, जिसमें बुद्ध अवतार के रूपमें गृहीत किये गये, कब स्वीकृत हुई ? इसका अनुमान लगाया जा सकता है। कुमारिल[1] ने तन्त्रवार्तिक (जैमिनि सूत्र १।३।७) में लिखा है कि पुराणमें धर्म के लोप करने वाले शाक्य (गौतम बुद्ध) आदि का चरित कलि प्रसंग में वर्णित है परन्तु इनका वचन कौन सुनेगा ? कुमारिल के इस कथन से तात्पर्य निकलता है कि उन पुराणों में, जिनके साथ उनका परिचय था, बुद्ध की निन्दा की गई थी। फलतः वे उस समय (सप्तम-अष्टम शती) तक अवतार के रूप में गृहीत नहीं हुए थे। एक और तथ्यका पता चलता है कि कुमारिलके समय में कलियुग से सम्बद्ध विशेषताओं का वर्णन पाया जाता था। यह भी एक ध्यान देने की बात है। दशावतार की कल्पना का उदयकाल अष्टम तथा एकादश शती के मध्य की शताब्दियां है। एकादश शती में दशावतार की बुद्ध-सहित योजना स्वीकृत हो गई थी। ११५० ई० के आसपास जयदेव ने अपने गीत गोविन्द की आरम्भिक स्तुति में दशावतारों में बुद्ध को भी स्थान दिया है। क्षेमेन्द्र ने १०६६ ईस्वी में अपने दशावतारचरित महाकाव्य का प्रणयन किया तथा अपरार्क (शिलाहार वंशीय राजा, समय ११००–११३० ई०) ने याज्ञवल्क्य की विशद टीका में मत्स्य-पुराण से एक लम्बा उद्धरण दिया है जिसमें बुद्ध के साथ दश अवतारों का नाम निर्देश किया गया है (मत्स्य, अ० २८५। श्लो० ७)। इस प्रमाण के आधार पर यही सिद्ध होता है कि १००० ईस्वी से पूर्व ही बुद्ध अवतारों के मध्य परिगणित किये गये थे, यद्यपि कुमारिल के समय तक उन्हें वह गौरव-पूर्ण स्थान नहीं मिला था और वे तिरस्कार की—धर्म-विप्लावक की-दृष्टि से ही देखे जाते थे। अतः विभिन्न पुराणों में उपलब्ध दशावतार (बुद्ध संवलित) की कल्पना के उदय का यही काल मानना चाहिए—लगभग नवम शती का काल। मेरा यह कथन पुराण के समग्र अंश की रचना के विषय में न होकर उसके दशावतार विषयक अंश के प्रणयन के विषय में अवश्य है। दश अवतारों की गणना भिन्न रूपसे भी प्राप्त है। मत्स्य (अ० ४७) ने दश अवतारों में तीन को दिव्य माना है नारायण, नरसिंह तथा वामन और सात को मानुष = दत्तात्रेय मान्धाता चक्रवर्ती, परशुराम, राम, व्यास, बुद्ध तथा कल्कि। हरिवंश (१।४१) में दश अवतारों के नाम ये हैं—पौष्करक, वराह, नरसिंह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, कृष्ण, व्यास, कल्कि। ब्रह्म में भी ये ही नाम पाये जाते हैं; व्यास वहां स्वयं वक्ता थे और इसीलिए उनका नाम नहीं है। इस प्रकार हम देख

१. स्मर्यन्ते च पुराणेषु धर्मविप्लुतिहेतवः
कलौ शाक्यादयस्तेषां को वाक्यं श्रोतुमर्हति ॥

—तंत्रवार्तिक (जै० सू० १।३।७)

सकते हैं कि दश अवतारों की संज्ञा के विषय में पुराणों में वैविध्य दृष्टिगोचर होता है, परन्तु विभिन्न शताब्दियों से होकर यह अभिधान आजकल के प्रचलित नामों में सीमित तथा मर्यादित कर दिया गया है।

अवतारवाद तथा विकासतत्त्व

अवतार के इस क्रमबन्ध के भीतर एक वैज्ञानिक रहस्य निगूढ है जिधर विचारशीलों का ध्यान आकृष्ट करना नितान्त अभीष्ट है। एक तो इसका सामान्य तात्पर्य नितरां सुस्पष्ट है कि भगवान् को कोई एक विशिष्ट योनि अभीष्ट नहीं है, क्योंकि वे छोटी से छोटी योनि से लेकर ऊंची से ऊंची योनि में पैदा होते हैं। प्रत्येक योनि में उनका प्राकट्य सम्भावित है। और ऐसा होना उचित ही है। जब सब योनियों का निर्गम-स्थान स्वयं भगवान् ही ठहरते हैं, तब उनके लिए कौन योनि जन्म ग्रहण के निमित्त ग्राह्य हो और कौन योनि त्याज्य हो? इस भेदभावना के लिए यहां स्थान ही नहीं। दूसरा मार्मिक तथ्य यह है कि इस क्रमबद्धता में वैज्ञानिक विकास-सिद्धान्त का तत्त्व छिपा हुआ है। पाठक जानते हैं कि अंग्रेज वैज्ञानिक **डारविन** ने १९ शती के मध्यभाग में अपने वैज्ञानिक अन्वेषणों के आधार पर **विकासवाद** (थ्योरी आफ इवोल्यूशन) का तत्त्व पश्चिमी जगत् में सर्वप्रथम प्रतिष्ठित किया। तब से लेकर आज तक इसने ज्ञान के सब विभागों ने अपना सिक्का जमा लिया है। सृष्टि के विषय में **विकासवाद** का यही तात्पर्य है कि सृष्टि का आरम्भ लघुकाय जीवों में प्रथमतः हुआ और धीरे-धीरे सृष्टि दीर्घकाय प्राणियों में आविर्भूत हुई। प्रथमतः जन्तु बुद्धि से विहीन थे और पीछे से उनमें बुद्धि तत्त्व का विकास सम्पन्न हुआ। इस प्रकार पश्चिमी जगत् में विकासवाद सौ वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है।

परन्तु इस अवतार-तत्त्व की समीक्षा विकासवाद की भित्ति पर निःसन्देह आधारित प्रतीत होती है। सबसे पहिले सृष्टि का आरम्भ जलीय प्राणी से होती है। मत्स्य उसी का प्रतीक है। मछली का वास केवल पानी ही है। वह पानी में ही जीती-जागती है और पानी से बाहर निकलते ही वह गतप्राण हो जाती है। आगे चलकर जल तथा थल दोनों के ऊपर समान रहने वाले जीवों का सर्जन हुआ और इस युग का प्रतिनिधित्व करता है कछुआ, जो जमीन के ऊपर भी चल सकता है और जीवित रहता है। पानी तक उसकी गति-विधि सीमित तथा मर्यादित नहीं रहती। इसके अनन्तर हम स्थलीय जीवों, जमीन के ऊपर रहने वाले प्राणियों, का विकास पाते हैं और इसका प्रतिनिधि हम 'वराह' = शूकर को मानते हैं। वह जंगल का ही जीव है; जमीन पर रहकर जीवन यापन करना उसकी विशिष्टता है।

अब मानव का प्राकट्य होने वाला है। परन्तु विशुद्ध मानव की उत्पत्ति से पूर्व हम ऐसे प्राणी की कल्पना करते हैं जिसमें पशुत्व तथा मनुष्यत्व दोनों का समभावेन मिश्रण पाया जाता है और वह प्राणी है नरसिंह जो आधा पशु है और आधा मनुष्य है। नरसिंह के अनन्तर मानव आविर्भूत होता है, परन्तु वह होता है बहुत ही ठिगना, लघुकाय; और वामन रूप इसी का प्रतिनिधि है। मानव का बौना रूप ही प्राथमिक रूप है जहाँ से वह आगे बढ़ता है। मनुष्य का खूंखार, भयानक, रक्तपिपासु रूप वामन के अनन्तर सामने आता है और अपने हाथ में परशु धारण करने वाले तथा इक्कीस बार दुर्दान्त शासकों का नाश करने वाले 'परशुराम' इस रूप के प्रतिनिधि हैं। दाशरथी राम हमारे मर्यादा–पुरुषोत्तम हैं जिनमें मानव के जीवन की समग्र मर्यादाओं का विकाश सम्पन्न होता है। यहाँ आदर्श पिता, आदर्श पुत्र, आदर्श राजा आदि समग्र आदर्शों की पूर्ण प्रतिष्ठा होती है तथा मानव अपने चरम विकास तक पहुँचने के लिए उत्सुक होता है। 'बलराम' में हम बल के ऊपर अधिक आग्रह रखने वाले मानव रूप का साक्षात्कार करते हैं जो प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए अनियन्त्रित बल का ही आश्रयण करता है। 'बुद्ध' में कृपा की ही अधिकता पाते हैं। यहाँ मानव कृपा के आधिक्य से इतना सम्पन्न रहता है कि वह शत्रु के ऊपर बल का प्रयोग न कर कृपा, करुणा तथा मैत्री के उपायों द्वारा उसे अपने वश में करने में समर्थ होता है। ऐसा करने पर भी मानव की समस्या सुलझती नहीं। कृपा का प्रयोग कुछ सीमा तक प्राणियों की समस्याओं का समाधान करता है, परन्तु दुर्दान्त तथा उद्दण्ड प्राणी कृपा-करुणा के कोमल साधनों से पराक्रान्त नहीं होता। 'कल्कि' के रूप में हम मानव के 'अकृप' रूप का साक्षात्कार करते हैं। दुर्दान्त का दमन हिंसा की सहायता चाहता है। उद्दण्ड का स्वभाव करुणा की मीठी पुड़िया से शान्त नहीं होता। फलतः 'कल्कि' के अवतार में हम प्राणियों के वर्तमान युग की समस्याओं का समाधान–कारक रूप पाते हैं।

इस प्रकार अन्तःप्रविष्ट होकर विचार करने पर अवतारवाद विकासवाद के वैज्ञानिक तथ्य के ऊपर आधारित नितान्त सत्य तथा बहुमूल्य देन है; इसमें संशय के लिए स्थान न होना चाहिए। विकासवाद का तत्त्व भारतवर्ष में सुदूर प्राचीन काल में विवेचित किया गया था।

पौराणिक अवतारवाद का मूल स्रोत

अवतारवाद पौराणिक साहित्य का विशिष्ट क्षेत्र है, परन्तु इसे पुराणों की ही अपनी मनमानी मौज तथा उपज मानना नितान्त भ्रान्त है। अवतारों का मूल स्रोत स्वयं वेद ही है— मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद, जहाँ से ये संगृहीत कर

विभिन्न पुराणों में उपन्यस्त तथा परिबृंहित हैं। यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि वेदों का परिबृंहण इतिहास-पुराण में है और इसी सिद्धान्त का एक पोषक साधन यहाँ उपस्थित किया जाता है।

(१) मत्स्य अवतार की वैदिक कथा शतपथ ब्राह्मण (१।८।१।१) में उपलब्ध होती है[1]। वैदिक कथा का रूप इस प्रकार है—नदी के तट पर अवनेजन करते समय मनु के हाथ में मछली का एक बच्चा अकस्मात् आ गया। उसने कहा कि मेरा पालन-पोषण करो, तो मैं तुम्हें पार उतार दूंगा। मनु ने आश्चर्य-चकित होकर पूछा कि किससे पार उतारोगे? मछली ने कहा—बड़ी बाढ़ (ओघ) आने वाली है जो समग्र प्रजाओं को अपने में समेट ले जावेगी। उससे मैं तुझे बचाऊँगा। मनु ने उसे बचाया और उसके कथनानुसार उसे घड़े में, पीछे तालाब में और अन्त में समुद्र में रखा जहाँ उसने विशाल काय धारण कर लिया। ओघ-जलप्लावन-आया और सब वस्तुओं को नष्ट कर डाला। मत्स्य के कथनानुसार मनु ने सब अन्नों के बीजों को पहिले से ही उसमें बचाकर रखा था। ओघ शान्त होने पर मनु ने यज्ञ किया और उन्हीं सुरक्षित बीजों से फिर पदार्थों का सर्जन किया। मत्स्यावतार की यही कथा प्रायः अनेक पुराणों[2] में आती है। मत्स्य पुराण तो इसी के कारण तन्नामधारी है। श्रीमद्भागवत के एक ही अध्याय में (स्कन्ध ८, अध्याय २४) यह कथा संक्षेप-रूप में दी गई है। अन्तर इतना ही है कि वैदिक आख्यान में कथानक का भौगोलिक क्षेत्र हिमाचल है, तो भागवत में द्रविड देश की 'कृतमाला' नदी (८।२४।१२) तथा तद्देशीय राजा सत्यव्रत के सम्बन्ध से यह कथा द्रविड देश में चरितार्थ मानी गई है। इस भौगोलिक भेद का जो भी हेतु हो, कथा के रूप में कोई भी विशेष अन्तर नहीं है।

एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है। जलप्लावन की कथा, जिसमें संसार के पूर्वसृष्ट समस्त पदार्थों का नाश होने तथा नये प्रकार से सृष्टि का आरम्भ होने का वर्णन किया गया है, भारत में ही प्रख्यात नहीं है, प्रत्युत सामी जातियों की कथा परम्परा में भी यह विराजमान है। बाइबिल में यह कथा प्रायः इसी

---

१. मनवे हवै प्रातः······मत्स्य पाणी आपेदे। स हास्मै वाचमुवाच विभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति। कस्मान्मां पारयिष्यसीति ? ओघ इमाः सर्वाः प्रजाः निर्वोढा। ततस्त्वां पारयिष्यामीति।

—शतपथ

२. भाग० १।३।१५, २।७।१२; ८ स्कन्ध, २४ अध्याय ११-६१ श्लो०। मत्स्य पुराण १ अ० २५९; अग्निपुराण २ अ०। ४९; गरुड १।१४२; पद्म ५।४। ७३; महाभारत १२।३४०

से मिलते-जुलते रूप में मिलती है। वहाँ 'नूह की 'किश्ती' का हाल विस्तार से दिया गया है। कुरान इसी का अनुसरण करता है। अन्य देशों के कथासाहित्य में, यहाँ तक कि जंगली जातियों की दन्तकथाओं में भी यही कथा उपलब्ध होती है जिससे इसके ऐतिहासिक होने की सम्भावना विद्वानों ने मानी है। वेद की इस कथा ने कब तथा किस प्रकार अन्य देशों में भ्रमण कर अपना अस्तित्व बना लिया—यह गम्भीर अनुशीलन का विषय है।

इतना तो निश्चित है मत्स्यावतार की कथा पुराण की कल्पना न होकर वेद के द्वारा अनुमोदित तथ्य है। फलतः इस अवतार की कल्पना पूर्णरूपेण वैदिक है। इसमें सन्देह करने के लिए तनिक भी स्थान नहीं है।

(२) कूर्मावतार का प्रसंग तैत्तिरीय आरण्यक (१।२३।२) में भले प्रकार से निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रसंग का आशय यह है कि प्रजापति के शरीर से रस कम्पायमान हुआ। जल के भीतर कूर्मरूप से विचरण करते हुए देख कर प्रजापति ने कहा—हे कूर्म, तुम मेरी त्वचा तथा मांस से उत्पन्न हुए हो। कूर्म ने उत्तर दिया—नहीं, मैं यहाँ तो तुमसे भी पहिले था। इसीलिए उसे 'पुरुष' की संज्ञा हुई अर्थात् पुरस्तिष्ठतीति पुरुषः इस व्युत्पत्ति के अनुसार पहिले से (पुरः) रहने वाला व्यक्ति 'पुरुष' पद वाच्य होता है। कूर्म वहाँ पहिले से निवास करता था। अतः इस व्युत्पत्ति के अनुसार कूर्म 'पुरुष' कहलाया। उसके हजार सिर थे (सहस्रशीर्षा), हजार आँखें थीं तथा हजार पैर थे। इस रूप में वह कूर्मपुरुष उठा। इसका तात्पर्य है कि 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' पुरुषसूक्त के इस मन्त्र द्वारा वही कूर्म निर्दिष्ट है। इस आरण्यक के भाष्य ने उस कूर्मरूप को परमात्मा से अभिन्न माना है। शतपथ ब्राह्मण ने भी इस तथ्य का प्रतिपादन किया है—

स यत् कूर्मो नाम एतद् वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत

—(शतपथ ७।५।१।५)

इस मन्त्र में कूर्म का रूप धारण कर प्रजापति के द्वारा प्रजा की सृष्टि करने का उल्लेख स्पष्टतः किया गया है।

इस वैदिक तत्त्व का उपबृंहण समुद्रमन्थन के अवसर पर पुराणों में किया गया है। श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध के सप्तम अध्याय में समुद्रमन्थन के

---

१. अन्तरतः कूर्मभूत-पर्यन्तं तमब्रवीत्—मम वै त्वङ्मांसात् समभूत्। नेत्यब्रवीत्। पूर्वमेवाहमिहासमिति। तत् पुरुषस्य पुरुषत्वम्। स सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् भूत्वोदतिष्ठत्।

—तैत्तिरीय आरण्यक १।२३।२

अवसर पर निराधार होने के हेतु जब मन्दराचल समुद्र में डूबने लगा और समुद्र-मन्थन में महान् प्रत्यूह उत्पन्न हुआ, तब भगवान् ने कच्छप का अद्भुत रूप धारण कर मन्दराचल को अपने ऊपर धारण कर लिया। अद्भुत का तात्पर्य है कि वह कच्छप शरीर से बहुत विशाल था—एक लाख योजन फैला हुआ, ठीक जम्बू द्वीप के समान।[1] इसी दृढ़ आधार के ऊपर रख कर मन्दराचल से नाना वस्तुओं की सहायता से जब समुद्र का मन्थन किया गया तब एक के बाद एक १४ रत्न क्रमशः उत्पन्न हुए। फलतः यहाँ भी एक महान् संकट से उद्धार करने के कारण ही भगवान् ने कच्छप रूप धारण किया।

इस प्रकार कूर्म अवतार[2] के लिए पर्याप्त वैदिक आधार उपलब्ध है। फलतः इसे पुराणों द्वारा वैदिक तत्त्व का उपबृंहण ही समझना चाहिए।

(३) वराह अवतार का प्रसंग तैत्तिरीय संहिता में, तैत्तिरीय ब्राह्मण में तथा शतपथ ब्राह्मण में तीन स्थानों पर पृथक् रूप से, परन्तु एक ही आकार में, उपलब्ध होता है। इन तीनों स्थलों[3] का सारांश नीचे उपस्थित किया जाता है—

---

१. विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो
दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्
प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार ॥ ८ ॥

× × ×

दधार पृष्ठेन स लक्षयोजन-
प्रस्तारिणा द्वीप इवापरो महान् ॥ ९ ॥

—भाग० ८।७।

२ द्रष्टव्य भाग० ८।७, कूर्म पु० १।१६।७७-७८; अग्नि ४ अ०। ४९; गरुड १।१४२; पद्म ५।४; १३; ब्रह्म १८०; २१३, विष्णु १।४।

१. (क) आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्। स इमामपश्यत्। तं वराहो भूत्वाऽहरत्

—तैत्ति० सं० ७।१।५।१

(ख) स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत। स पृथ्वीमधः आर्च्छंत्

—तैत्ति० ब्रा० १।१।६

(ग) इतीयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री
तामेमूष इति वराह उज्जघान। सोऽस्याः पतिरिति।

—शत० ब्रा० १४।१।२।११

(क) पहिले इस विश्व में जल ही जल था। प्रजापति वायुरूप होकर उसमें विचरण करने लगा। वहाँ उसने पृथ्वी को देखा। तब वह वराह के रूप में उस पृथ्वी को (उस लोक से उद्धार कर) हरण किया।

—तैत्ति० सं० ७।१।५।१

(ख) प्रजापति ने वराह का रूप धारण कर जल के भीतर निमज्जन किया। वह पृथ्वी को नीचे से ऊपर ले आये।

—तैत्ति० ब्रा० १।१।६

(ग) यह इतनी बड़ी पृथ्वी प्रादेशमात्र थी। तब पृथ्वी के पति प्रजापति वाराह रूप धारण कर इसे नीचे से ऊपर लाये।

—शतपथ १४–२।११

इन वैदिक ग्रन्थों में प्रकटित तथ्य अक्षरशः पुराणों[१] में स्वीकृत है। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के १३ अध्याय में इसका बड़ा ही यथार्थ तथा आकर्षक वर्णन किया गया है। इस स्थल पर वराह 'यज्ञवराह' के रूप में चित्रित किया गया है अर्थात् यज्ञ में जितने साधन तथा अंग स्रुव, चमस आदि प्रयुक्त किये जाते हैं उन सबका प्रतीकरूप वराह के देह में विद्यमान था। वराह को यज्ञवराह के रूप में चित्रण स्पष्टतः वैदिकत्व की छाप को स्पष्ट कर रहा है। फलतः वराह अवतार के द्वारा पाताल लोक से भूतधात्री पृथ्वी का उद्धारकार्य प्रजापति के कार्यों में एक विशिष्ट स्थान रखता है, और यह वेद में स्पष्टतः निर्दिष्ट होकर पुराणों में उपबृंहित किया गया है। आजकल प्रचलित रूप में मत्स्य का प्रथम अवतार बतलाया गया है, परन्तु अनेक स्थलों पर वराह अवतार को ही आदि अवतार होने का गौरव दिया जाता है। यह उचित भी प्रतीत होता है।[२] जिस पृथ्वी के ऊपर अन्य अवतारों का लीला-विलास

(घ) वाराहेण पृथिवीसंविदाना (अथर्व १२।१।४८)

(ङ) उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना (तैत्ति० आ० १।१।३०)

१. द्रष्टव्य ब्रह्म० २१३। ३२–३९; वायु ६।१६-२३; ब्रह्माण्ड १।५।१६-२३; मत्स्य २४८।६६–७४; भाग० ३।१३।३५-३९; विष्णु १।४।३२-३६; अग्नि ५।१–३।

२. भागवत के द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय में अवतारों की द्वितीय सूची में वराह अवतार ही प्रथमतः वर्णित है—

यत्रोद्यतः क्षितिखलोद्धरणाय बिभ्रत्
क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः।
अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं
तं दंष्ट्रयाऽद्रिमिव वज्रधरो ददार॥

सम्पन्न होता है, उसी पृथ्वी के उद्धारकर्ता अवतार (वराह) को प्रथम अवतार के रूप में मान्यता प्रदान सर्वथा समुचित तथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है। पुराणों में वराह के साथ यज्ञ का प्रतीक इतना संवलित माना गया है कि वह 'यज्ञवाराह' के नाम से ही विश्रुत हैं।[1]

(४) नृसिंहावतार की पूर्ण सूचना तैत्तिरीय आरण्यक के प्रपाठक १० के प्रथम अनुवाक में दी गई है। वहां नृसिंह की गायत्री दी गई है—

वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि
तन्नो नारसिंहः प्रचोदयात्

इस गायत्री में नरसिंह अवतार के लिए 'वज्रनख" तथा 'तीक्ष्णदंष्ट्र' पदों का प्रयोग उसकी भयंकरता की ओर स्पष्टतः लक्ष्य कर रहा है। इसी का उपबृंहण हिरण्यकशिपु को मारकर प्रह्लाद को आशीर्वाद देनेवाले श्रीनृसिंह भगवान् के चरित-चित्रण के अवसर पर पुराणों[2] में किया गया है, विशेषतः श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में। अष्टम अध्याय में नृसिंह का जो सटामण्डित कराल रूप का वर्णन किया गया है, वह पूर्वोक्त गायत्री के वज्रनखाय तथा तीक्ष्ण दंष्ट्राय शब्दों के ऊपर मानों भाष्यरूप है :—

प्रतप्तचामीकरचण्डलोचनं
स्फुरत् सटाकेसर जृम्भिताननम् ॥ २० ॥
करालदंष्ट्रं करवालचञ्चल-
क्षुरान्तजिह्वं भ्रुकुटीमुखोल्बणम्
स्तब्धोर्ध्वकर्णं गिरिकन्दराद्भुत-
व्यात्तास्यनासं हनुभेदभीषणम् ॥ २१ ॥

(५) वामनावतार के लिए वैदिक स्रोतों को विशेष प्रयत्नपूर्वक खोजने की आवश्यकता नहीं है। वह तो ऋग्वेद के विष्णुसूक्तों के अनेक मन्त्रों में बहुशः संकेतित है। उदाहरणार्थं ऋग्वेद, प्रथम मण्डल, १५४ सूक्त के अनुशीलन से विष्णु के वैदिक स्वरूप का पूर्ण परिचय हमें प्राप्त होता है। उनके विशिष्ट कार्यों में तीन डगों में पृथ्वी को माप लेना अपनी प्रधानता रखता है (विचक्रमा-

---

यह तो सूचना मात्र है, परन्तु विशेष वर्णन के प्रसंग पर भी इसी अवतार का प्रथम वर्णन है। द्रष्टव्य भागवत तृतीय स्कन्ध, १३ अध्याय।

१. यज्ञवराह के सांगोपांग विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य डा० अग्रवाल का एतद्विषयक लेख—पुराणम्, वर्ष ५, भाग २, पृष्ठ १९९-२३६; जुलाई १९६३ (रामनगर, वाराणसी)

२. भाग० ७।८ अ०; अग्नि ४।३-५, २७६।१०, २७६।१३

णस्त्रेधोरुगायः), विष्णु ने अकेले ही तीन पदों में माप लिया इस दीर्घ दूर तक फैलने वाले सधस्थ (अन्तरिक्ष) को जहां पितर लोगों का एकत्र निवास होता है (य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थम् , एको विममे त्रिभिरित् पदेभिः १।१५४।३) तीन डगों से पृथ्वी की माप लेने के कारण ही 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' विशेषण केवल विष्णु के लिए ही वेद में प्रयुक्त किये गये हैं। यह प्रसिद्ध मन्त्र इसी तथ्य का द्योतक है—

> इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्
> समूढमस्य पांसुरे
>
> —ऋ० वे० १।२२।१७

मन्त्र का तात्पर्य यह है कि विष्णु ने इस जगत् को तीन चरणों से आक्रान्त कर पैर रखा और इनके धूलि-धूसर (पांसुरे) पद में यह भूमि आदि समस्त लोक अन्तर्हित हो गये। विष्णु के लिए 'वामन' शब्द का प्रयोग हमें शतपथ ब्राह्मण में (१।२।५।५) की इस उक्ति में मिलता है—वामनो ह विष्णुरास। फलतः वेद में विष्णु के तीन डगों को भरने की, उरुगाय-उरुक्रम आदि अन्वर्थक नामों के धारण करने की ही उपलब्धि नही होती, प्रत्युत 'वामन' विशिष्ट नाम का भी प्रयोग हमें वेद में उपलब्ध होता है। फलतः वामनावतार की कथा का मूल स्रोत वेद में प्रामाणिकरूप में हमें प्राप्त होता है।

एक तथ्य पर और विचार करना आवश्यक है। विष्णुसूक्तों के अनुशीलन से गोपाल कृष्ण की भीं कथा का संकेत उपलब्ध होता है।

> त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः
> अतो धर्माणि धारयन् ॥ —ऋ० १।२२।१८

यह मन्त्र विष्णु को 'गोपाः' के विशेषण से संम्बोधित करता है। फलतः उरुक्रम वामन तथा गोपवेषधारी विष्णु की एकता का स्पष्ट प्रतिपादक यह मन्त्र अध्यात्मदृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। इतना ही नहीं, वैष्णवमत में भगवान् विष्णु के सर्वोच्च पद को 'गोलोक' नाम से पुकारते हैं और इसके लिए वैदिक आधार हमें प्राप्त है इस मन्त्र में—

> ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै
> यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः।
> अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः
> परमं पदमव भाति भूरि ॥
>
> —१।१५४।६

तात्पर्य है कि हम इन्द्र-विष्णु के उन लोकों को जाने की सन्तत कामना करते हैं जहां बहुत ही सींग वाली तथा चंचल गायें निवास करती हैं। फलतः

गायें के संचार के कारण वह लोक 'गोलोक' के नाम से भक्ति साहित्य में सर्वत्र अभिहित है। यह भी ध्यातव्य है कि विष्णु के सौरदेवता होने के कारण उनका किरणों के साथ अभेद्य सम्बन्ध स्थापित है वैदिक मन्त्रों में। अतः 'गो' शब्द का तात्पर्य यहाँ किरणों से समझा जाता है। विष्णु के सूक्तों के गाढ़ अनुशीलन से परवर्ती काल में उनके स्वरूप के विकाश का पूरा परिचय आलोचक के सामने स्वतः प्रस्तुत हो जाता है।

शतपथ ब्राह्मण (१।२।५–७) में वामन का प्रसंग आता है जो पौराणिक प्रसंग का मूलरूप माना जा सकता है। संक्षेप में यह प्रसंग इस प्रकार है :--

देव और असुर—दोनों ही प्रजापति की सन्तान हैं। ये दोनों आपस में विवाद करने लगे। उनमें से तीक्ष्ण स्वभाववाले असुरों से देवगण परास्त हो गये, तव असुरों ने माना कि यह समस्त भुवन हमारा ही है ॥ १ ॥

उन लोगों ने विचार किया कि समस्त पृथ्वी को हम विभाजित कर दें और उसे वांट कर उसी के द्वारा आजीविका निर्वाह करें। यह विचार कर उन्होंने वृषचर्म की वहुत वारीक तांत वनाया और पश्चिम से लेकर पूरव तक उसका बंटवारा करने के लिए उद्यत हुए ॥ २ ॥

इस वात को देवों ने सुना कि असुर लोग पृथ्वी का बटवारा कर रहे हैं। देवगण विचारकर कहने लगे—चलें जहां असुर लोग पृथ्वी का विभाजन कर रहे हैं। यदि हमको इसका अंश न मिलेगा, तो हमारा क्या होगा ? हमारा काम कैसे चलेगा ? तव वे यज्ञरूपी विष्णु को आगे कर अर्थात् अपना नेता बनाकर असुरों के स्थान पर गये ॥ ३ ॥

देव वोले—"हमारे पीछे पृथ्वी का वटवारा मत करो। हमारा भी तो इसमें भाग है"। इस वात को सुनकर असुर लोग असूया करने लगे और बोले कि जितने स्थान पर यह विष्णु सोता है (अर्थात् व्याप्त कर लेता है), उतनी पृथ्वी तुमको दे देंगे ॥ ४ ॥

विष्णुजी वामन थे (अर्थात् यदि विष्णु के शयनयोग्य भूमि ही देवों को प्राप्त होती, तो वह वहुत थोड़ी थी, क्योंकि विष्णु का रूप बौने का था) इसलिए देवों ने यह वात स्वीकार नहीं की और आपस में कहने लगे—असुरों ने यज्ञ के वराबर जो भूमि हमें दी है, सो ठीक ही है। यह कम नहीं, वहुत ही है ॥ ५ ॥

देव लोग पूर्व दिशा में विष्णु को स्थापित कर छन्दों के द्वारा उन्हें चारों ओर से घेर लिया। पूर्व दिशा में गायत्री छन्द से घेर दिया, दक्षिण में त्रिष्टुभ् छन्द के द्वारा, पश्चिम दिशा में जगती छन्द से तथा उत्तर दिशा में उन्हें छन्दों से चारों ओर से घेर दिया ॥ ६ ॥

पूर्व दिशा में अग्नि की स्थापना की और उसकी पूजा-अर्चा करते हुए वे चारों ओर घूमने लगे और इस अर्चा के प्रभाव से उन्होंने समग्र पृथ्वी को प्राप्त कर लिया ॥ ७ ॥

इस कथानक के द्वारा देवों के द्वारा असुरों से समस्त पृथ्वी को जीतने का वृत्तान्त उपस्थित किया गया है। इस कार्य में यज्ञरूपी विष्णु का ही हाथ था। यहां स्पष्टतः विष्णु वामन के रूप में चित्रित किये गये हैं। ऋग्वेद के उरुगाय विष्णु के त्रिविक्रम को तथा शतपथ के इस वामन आख्यान को एक संग में मिला कर पुराणों में वामनावतार का पूर्ण प्रसंग प्रस्तुत किया गया है। अन्तर इतना ही है कि जहाँ शतपथ में असुरों से भूमि जीतने की कथा है, वहां पुराणों में असुरों के राजा वलि से। शतपथ का कथानक यज्ञ को महिमा का प्रतिपादक है और देवों ने असुरों की भूमि पर यज्ञ का विस्तार कर उसे आत्मसात् कर लिया; पुराणों में तीन क्रमों में पृथ्वी, स्वर्ग तथा वलि के शरीर को मापने के अनन्तर समग्र पृथ्वी असुरों से छीनकर देवों को समर्पित की गई है। दोनों ही आख्यान विष्णु के माहात्म्य—द्योतक हैं। पुराणों ने ऋक्संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण दोनों पर आधारित कर स्वाभीष्ट कथन को प्रामाणिक वनाया है।

पुराणों में, विशेषतः भागवत के अष्टम स्कन्ध में वामन अवतार का वर्णन राजा वलि के प्रसंग में किया गया है। स्वर्ग को जीतकर वलि स्वयं इन्द्र वन गया और देवताओं को पराजित कर उन्हें स्वर्ग से निकाल भगाया। देवों की तीव्र प्रार्थना पर भगवान् अदिति के गर्भ से उत्पन्न हुए। इस कामना की पूर्ति के निमित्त अदिति ने 'केशव तोषण' नामक व्रत किया था (भाग० ८।१६). वामन रूप में उत्पन्न होकर भगवान् वलि की [1]यज्ञशाला में पधारे और तीन डगों जमीन माँगी। शुक्राचार्य के निषेध करने पर भी बलि ने वामन की इच्छा पूर्ण की। वामन ने दो ही डगों में पृथ्वी तथा स्वर्ग दोनों को नाप डाला और तीसरा चरण वलि के आत्मसमर्पित मस्तक के ऊपर रखकर

---

१. वलि का यह यज्ञ नर्मदा के उत्तर तट पर 'भृगुकच्छ' 'आधुनिक नाम भडोंच) में हुआ था जहाँ भृगु लोगों ने ऋत्विज् वनकर यज्ञ का कार्य सम्पन्न कराया था। आज भी यहां भार्गव ब्राह्मणों की प्रसिद्ध वस्तियां हैं।

तं नर्मदायास्तट उत्तरे वले-
यं ऋत्विजस्ते भृगुकच्छसंज्ञके।
प्रवर्तयन्तो भृगवः क्रतूत्तमं
व्यचक्षदारादुदितं यथा रविम् ॥

—भाग० ८।१८।२१

—भाग० ८ १८ अ०, अग्नि० ४।५।१३

अपने 'त्रिविक्रम' नाम को चरितार्थ बनाया। भागवत में निर्दिष्ट यह कथा प्रायः इसी रूप में अन्य पुराणों में भी आती है। ध्यान देने की बात है कि भागवत वामन के लिए वैदिक विशेषणों का बहुशः प्रयोग करता है। पृश्निगर्भ, वेदगर्भ, त्रिनाभ, त्रिपृष्ठ, शिपिविष्ट, ब्रह्मण्यदेव आदि नामों के साथ ही 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' प्रयोग वेद का सर्वथा अनुसरण करता है (भाग० ८।१७।२५–२६)। निष्कर्ष यह है कि वामन अवतार का संकेत ही नहीं, प्रत्युत विशद उल्लेख भी वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है तथा अन्य अवतारों के समान इस अवतार को भी वेदानुकूल सिद्ध कर रहा है।

इस प्रकार विष्णु के आद्य पाँच अवतारों के वैदिक स्रोतों का यहाँ विस्तार से अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। इसके आगे अवतारों में अन्तिम दो अवतारों के विषय में हम जानते हैं कि बुद्ध को जन्म लिये केवल अढ़ाई हजार वर्ष हुए तथा कल्कि का अवतार इसी कलियुग में अभी भविष्य में होने वाला है। अतः इनके लिए वैदिक मूल ढूँढने की आवश्यकता नहीं है। रह गये बीच के तीन अवतार—परशुराम, राम तथा कृष्ण। इनके लिए वेद में पर्याप्त पोषक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। भार्गवेय राम का निर्देश ऐतरेय ब्राह्मण (७।५।३४) के जिस वाक्य में (प्रोवाच रामो भार्गवेयो विश्वान्तराय) माना गया है, उसमें यथार्थ पाठ 'मार्गवेयो' है, भार्गवेयो नहीं। रामायण के कथानक को वैदिक मन्त्रों के आधार पर सिद्ध करने का श्लाघनीय प्रयास नीलकण्ठ (महाभारत के व्याख्याकार)[1] ने अपने मन्त्ररामायण में किया है तथा मन्त्रभागवत का प्रणयन कर उन्होंने ही ऋग्वेदों के मन्त्रों से भागवत का पूरा आख्यान—श्रीकृष्ण की नाना लीलाओं का प्रसंग सिद्ध किया है। नीलकण्ठ के इस प्रयास की हम भूयसी प्रशंसा करते हैं, परन्तु आलोचनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से हम इसका प्रामाण्य अक्षरशः मानने के लिए तैयार नहीं हैं। फिर भी राम तथा कृष्ण का प्रसंग वैदिक साहित्य में यत्र तत्र अवश्यमेव उपलब्ध होता है। इसका संक्षिप्त परिचय यहाँ अब दिया जायगा।

---

१. नीलकण्ठ चतुर्धुरीण वंश मे उत्पन्न महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज महाराष्ट्र से आकर काशी में रहने लगे थे। नीलकण्ठ ने काशी में ही अपना प्रधान ग्रन्थ समग्र महाभारत का टीका ग्रन्थ ('भारतभावदीप' नामक) बनाया जो आज भी महाभारत के मूल अर्थ को जानने के लिए हमारे पास बहुमूल्य साधन है। इस ग्रन्थ के नाना हस्तलेखों का समय १६८७ ई० से लेकर १६९५ ई० तक है। फलतः नीलकण्ठ का समय १७वीं शती का उत्तरार्ध (१६५० ई०–१७०० ई०) मानना सर्वथा समुचित है। विशेष द्रष्टव्य—मेरा ग्रन्थ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पृ० १०४, षष्ठ सं०, काशी)

(६) **परशुराम**—परशुराम के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है—कार्तवीर्य हैहय का नाश तथा उद्धत क्षत्रिय शासकों का २१ वार संहार। इनका चरित महाभारत तथा पुराणों में बहुशः वर्णित है। इन कथाओं के मूल स्रोत हैं—महाभारत II, 49; III, 98, 116-117 आदि; मत्स्यपुराण ४७ अ०; विष्णुपुराण ४।७, ४।११; भागवत १।३।२०; २।७।२२ ९।१५-१६। परशुराम का अवतार षष्ठ माना जाता है—वामन तथा राम के बीच में। मत्स्यपुराण की गणना में भी यह अवतार षष्ठ है। विशेष बात यह है कि मत्स्य के[1] अनुसार यह अवतार १९वें त्रेतायुग में हुआ था तथा विश्वामित्र विष्णु के यज्ञ के पुरोहित थे। भागवत के अनुसार यह सोलहवाँ (१।३) तथा सत्रहवाँ अवतार विष्णु के २२ अवतारों के बीच में माना गया है (२।७)।

यह अवतार राम तथा कृष्ण के समान ही ऐतिहासिक माना जाता है, क्योंकि परशुराम ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इनके द्वारा सम्पादित कार्य अलौकिक भले ही हों; वे कथमपि अतिमानव नहीं हैं। 'क्षत्रात् किल त्रायते इति क्षत्रियः' इस व्युत्पत्ति के विरुद्ध जब क्षत्रिय शासक प्रजा का, तथा विशेषतः अध्यात्म-परायण ब्राह्मण वर्ग का, पोषक होने के स्थान पर शोषक बन जाता है, तब इस अवतार का उदय होता है। दुर्दान्त तथा अभिमानी शासक का दमन तथा ब्राह्मण की रक्षा इस अवतार का उद्देश्य है। महाभारत-पूर्व युग में इस अवतार के अस्तित्व का पता नहीं मिलता। कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' में जमदग्नि के पुत्र राम किन्हीं वैदिक मन्त्रों के द्रष्टा माने गये हैं (१०।११०)। सम्भव है ये ही जामदग्न्य राम पौराणिक परशुराम हों, परन्तु वैदिक ऋषि के ऊपर वीर योद्धा के शौर्यमण्डित कार्यकलापों का आरोप सामान्यतः नैसर्गिक नहीं प्रतीत होता।

(७) **वेदों में रामकथा**--वेदों में राम की प्रख्यात कथा संकेतरूप से भी मिलती है या नहीं? इसका संक्षेप में निरूपण करना आवश्यक है। रामायण कथा के प्रसिद्ध कतिपय पात्र वैदिक साहित्य में अवश्य मिलते हैं, परन्तु इनका पारस्परिक सम्बन्ध कहीं भी निर्दिष्ट नहीं मिलता जिससे कथा का सूत्र विच्छिन्न ही रहता है। 'इक्ष्वाकु' शब्द ऋग्वेद के एक वार (१०।६०।४) तथा अथर्ववेद में भी एक वार (१९. ३९. ९) आया है। दशरथ का

---

१. एकोनविंश्यां त्रेतायां सर्वक्षत्रान्तकृद् विभुः।
जामदग्न्यस्तथा षष्ठो विश्वामित्र पुरःसरः॥

—मत्स्य ४७।२४१

उल्लेख वैदिक साहित्य में एक ही बार हुआ है—ऋग्वेद की एक दानस्तुति में, जहाँ अन्य राजाओं के साथ दशरथ की भी प्रशंसा की गई है (१।१२६।४):—चत्वारिंशद् दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति (अर्थात् दशरथ के चालीस भूरे रंग के घोड़े एक हजार घोड़ों के दल का नेतृत्व करते हैं)। राम नामक अनेक व्यक्तियों का उल्लेख वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है (१) एक राजा के रूप में (ऋग्वेद १०।९३।१४); (२) ब्राह्मण कुल में 'राम' नाम धारी अनेक व्यक्तियों का निर्देश मिलता है –

राम मार्गवेय (ये श्यापर्ण कुल के तथा जनमेजय के समकालीन थे; ऐत० ब्रा० ७।२७।३४)

राम औपतस्विनी (याज्ञवल्क्य के समकालीन दार्शनिक आचार्य; शत० ब्रा० ४. ६, १. ७)

राम क्रातुजातेय (एक वैदिक आचार्य; जैमिनीय उप० ब्रा० में दो स्थलों पर निर्दिष्ट)

इन नामों का अस्तित्व यही दिखलाता है कि राम ऐसा अभिधान वैदिक काल में राजाओं तथा ब्राह्मणों में उपलब्ध था। इससे आगे किसी बात का पता नहीं।

इसी प्रकार जनक वैदेह का बहुल परिचय मिलता है तै० ब्रा० में तथा शत० ब्रा० में। वैदिक साहित्य में 'सीता' शब्द अनेकत्र उपलब्ध होता है। सीता सावित्री की कथा तैत्तिरीय ब्रा० में (२. ३. १०) मिलती है। कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में सीता का उल्लेख मिलता है ऋग्वेद के सूक्त ४।५७ में तथा अथर्ववेद के सूक्त ३।१७ में। तथा अन्यत्र भी यह कल्पना उपलब्ध होती है।

इस प्रकार रामायणीय कथा के प्रधान व्यक्तियों के नाम तो अवश्य वैदिक साहित्य में मिलते हैं, परन्तु इनका आपस में किसी सम्बन्ध का परिचय नहीं मिलता। इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न दशरथ के पुत्र राम थे; इस घटना का परिचय इक्ष्वाकु, दशरथ तथा राम नामों के मिलने पर भी नहीं होता। सीता तथा जनक के उल्लिखित होने पर भी सीता जनक की पुत्री थी; यह तथ्य अपरोक्ष ही है वैदिक साहित्य में। और न राम का सीता से कोई सम्बन्ध ही है।[1]

इसका निष्कर्ष यही हो सकता है कि वैदिक काल में रामायण की रचना हुई थी अथवा रामसम्बन्धी गाथायें प्रसिद्ध हो चुकी थीं, इसकी असंदिग्ध सूचना

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य फादर कामिल बुल्के रचित रामकथा पृ० १-२९। प्रकाशक हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय, प्रयाग, १९५०

वैदिक साहित्य के आधार पर उपस्थित नहीं की जा सकती। कुछ पात्रों के नाम अवश्य मिलते हैं, परन्तु उनका परस्पर सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

(८) वेदों में कृष्ण कथा

अवतारों के बीच में कृष्ण का अवतार नौवाँ अनेकत्र माना गया है, परन्तु कहीं-कहीं कृष्ण के संग में बलराम भी अवतार माने गये हैं। भागवत की प्रथम सूची (३।२३) में राम (बलराम) तथा कृष्ण दोनों ही अवतार माने गये हैं। परन्तु जब श्रीकृष्ण साक्षात् परमात्मा के रूप में गृहीत कर लिये गये, तब नवम अवतार बलराम के रूप में परिगृहीत किया गया। इसलिये अनेक पुराणों में बलराम का भी वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ अग्निपुराण में बलभद्र अनन्त की मूर्ति माने गये हैं (१५।५) जिनकी मूर्ति चतुर्भुजी बनाई जाती थी। बायें भाग के ऊपर हाथ में 'लाङ्गल' (हल) तथा निचले हाथ में 'शंख' रखने का विधान है। दाहिने भाग के ऊपरी हाथ में मुषल तथा निचले हाथ में चक्र रखने का नियम है। अग्नि० (४९।६-७) के पूर्व में दाशरथी राम का तथा इसी अध्याय के आठवें श्लोक में बुद्ध का वर्णन उपलब्ध होता है जिससे दोनों का बीचवाला अवतार श्रीकृष्ण के स्थान पर नवम अवतार माना गया है। कृष्ण का संकेत वैदिक साहित्य में है। छान्दोग्य उपनिषद् (३।१७।६) ने घोर आङ्गिरस के शिष्य जिस देवकीपुत्र कृष्ण की चर्चा की है वे पुराणों में वर्णित देवकी तथा वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं प्रतीत होते। 'वासुदेव' शब्द का उल्लेख न होने पर भी 'देवकीपुत्र' विशेषण ही दोनों के ऐक्यसाधन के लिए पर्याप्त माना जाता है। इसलिए कृष्णावतार की सूचना वेद-प्रतिपाद्य ही है[1]।

(९) बुद्ध का अवतार—बुद्ध का जीवनचरित नितान्त विख्यात है। हीनयान सम्प्रदाय में बुद्ध का वैयक्तिक जीवन ही आदर्श माना जाता है जिसका अनुकरण तथा जिनके उपदिष्ट अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण साधक को 'अर्हत्' की उन्नत दशा पर पहुँचा देता है, परन्तु थोड़ी ही शताब्दियाँ पीछे महायान में गौतम बुद्ध अवतार के रूप में गृहीत किये गये, उनकी मूर्ति का निर्माण होने लगा तथा कारुण्य और दया की मूर्ति 'बोधिसत्त्व' का आदर्श सर्वत्र परिगृहीत किया गया। इस प्रकार महायान में वे तुषित स्वर्ग के निवासी लोकोत्तर बुद्ध माने जाने लगे तथा इस लोकोत्तरवाद के आगे उनका मानवरूप एकदम ह्रास पाकर तिरोहित-सा हो गया। यही तो बुद्धधर्म में बुद्ध

---

१. कृष्ण चरित के विस्तृत वर्णन के लिए द्रष्टव्य भागवत १० स्कन्ध। ब्रह्म (अ० १८२-२१२ अ० पूरे ३० अध्यायों में)

के अवतार का निर्देश है। ब्राह्मण वैदिकधर्म में भी बुद्ध विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे। कब तथा किस परिस्थिति में ? यही विचार का विषय है।

विक्रम की आरम्भिक शताब्दियों में बुद्धधर्म का भूयान् अभ्युत्थान हुआ। इसमें राजाश्रय ही प्रधान हेतु था। मौर्य सम्राट् अशोकवर्धन कलिंग युद्ध में भूयान्-नरसंहार से इतना संतप्त तथा व्यथित हुआ कि उसने सदा-सर्वदा के लिए युद्ध को बन्द कर दिया और बुद्धधर्म को राजधर्म बनाकर इसके प्रचार के निमित्त विदेशों में भिक्खुओं को भेजा विक्रम पूर्व तृतीय शती में। इसके लगभग चार सौ वर्ष के अनन्तर कुषाण नरेश कणिष्क ने प्रथम शती में बुद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अश्रान्त परिश्रम किया। चतुर्थ संगीति बुलाई तथा चीन जैसे देश में अपने प्रचारक भेजे। बुद्धधर्म के बाहरी देशों में अभूतपूर्व विजय के साथ ही साथ भारत में भी इसका अश्रुतपूर्व प्रसार हुआ। भारतीय जनता, विशेषतः निम्नस्तर की, जो वैदिक धर्म में श्रद्धा रखती थी, बौद्धधर्म की सरलता के चाकचिक्य के आगे उस श्रद्धा को भूलकर इस नवीन धर्म में दीक्षित होने लगी। पुराणों ने इसी भूली जनता को वैदिक धर्म में पुनर्दीक्षित करने के निमित्त एक सार्वभौम धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न की। अवतारों में बुद्ध की गणना भी इस क्रान्ति का एक महनीय साधन था।

कुमारिल भट्ट ने बौद्धों के दार्शनिक सिद्धान्तों का बड़ा ही प्रौढ़ खण्डन अपने श्लोकवार्तिक तथा तन्त्रवार्तिक ग्रन्थों में किया। तथ्य तो यही है कि कुमारिल तथा शङ्कर—इन दोनों आचार्यों की तर्ककर्कश वाणी ने बौद्धधर्म की धज्जियाँ उड़ा दीं जिसके कारण इसने अपने मूलस्थान भारत से निष्कासित होकर भारतेतर प्रदेशों में अपना आश्रयण लिया। फलतः कुमारिल बुद्ध के प्रति श्रद्धा का भाव रखेंगे—यह सोचना ही गलत है। उन्होंने पुराण का हवाला देकर स्पष्ट शब्दों मे घोषणा की है कि शाक्य आदि (बौद्ध धर्म आदि) कलियुग में धर्म में विप्लव मचाने वाले हैं; पुराणों में यह कथन बहुशः संस्मृत है। तब उनके वाक्य को कौन सुनने लायक है ?

स्मर्यन्ते च पुराणेषु धर्म-विप्लुति-हेतवः।
कलौ शाक्यादयस्तेषां को वाक्यं श्रोतुमर्हति ॥

— तन्त्रवार्तिक (जै० सू० १।३।७)

कुमारिल के इस प्रकार प्रख्यात होने पर भी, पुरातत्त्वीय प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि अष्टम शती में बुद्ध को अवतार रूप में गणना जन-समाज में परिगृहीत होने लगी थी। दक्षिण भारत के महाबलिपुरम् के पर्वत से काट कर बनाये गये मन्दिर में एक शिलालेख उपलब्ध है जिसका एक अधूरा श्लोक इस प्रकार है—

...................'हम्य नारसिंहश्च वामनः ।
रामो रामस्य(श्च) रामस्य(श्च) बुद्धः कल्की च ते दश ॥

इस शिलालेख का समय सप्तम शती का उत्तरार्ध बताया गया है। मध्यप्रदेश के 'सीरपुर' नामक स्थान में ८म शती के आसपास का एक मन्दिर है जिसमें राम की मूर्ति के बगल में बुद्ध की अपनी ध्यानावस्थित मुद्रा में मूर्ति मिलती है। मन्दिर का निर्माणकाल अष्टम शती के आसपास माना गया है। ये दोनों उल्लेख बड़े महत्त्व के हैं।[1] पिछले युग में काश्मीर कवि क्षेमेन्द्र ने अपने 'दशावतार महाकाव्य' (समाप्ति काल १०६० ई०) बुद्ध को नवम अवतार के रूप में वर्णित किया है। फलतः बुद्ध का विष्णु अवतारों में गणना का समय नवम शती मानना अनुपयुक्त नहीं होगा।

पुराणों में, एक-दो को छोड़कर, सर्वत्र ही बुद्ध अवतारों में परिगणित किये गये हैं। परन्तु पौराणिकों के सामने विकट समस्या थी कि बुद्ध के वेदबाह्य सिद्धान्तों का वैदिक सिद्धान्त के साथ आनुकूल्य कैसे दिखलाया जाय ? जिसने वैदिक यज्ञयागों की जमकर निन्दा की, वेद को धूर्तों का प्रलाप माना, तथा वेद-प्रतिपाद्य ईश्वर तथा आत्मा का भी अभाव ही माना, उस बुद्ध को वैदिक अवतारों के बीच स्थान देना बड़े ही साहस का काम था। परन्तु एक आवश्यक उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुराणों को यही करना पड़ा। वह व्याज था वेद-विरोधी असुरों का व्यामोहन। इस तर्क की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है भागवत के इस श्लोक में—

ततः कलौ संप्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्ना जिन-सुतः कीकटेषु भविष्यति ॥

—भाग० १।३।२४

और इसी श्लोक का भाव अन्य पुराणों के एतद्-विषयक प्रसंगों में पाया जाता है। विष्णुपुराण (अंश ३, अ० १८) में दिगम्बर महामोह प्रथमतः जैनधर्म का उपदेश देता है (१-१३ श्लोक) जो इस प्रसंग में प्रयुक्त 'अनेकान्तवाद' तथा 'आर्हत' आदि शब्दों से सुस्पष्ट है। इसके बाद का उपदेश, श्रीधर स्वामी की टीका के अनुसार, बौद्धधर्म के उपदेशरूप में पुराणकार को अभीप्सित है (श्लोक १४-२१)। विष्णुपुराण में इस उपदेष्टा महामोह के व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण नहीं है, परन्तु अग्निपुराण तो स्पष्ट ही कहता है कि यह महामोह

---

१. Memoir No. 26 of the Archaeological survey of India by H. Krishna Shastri p. 5.

शुद्धोदन का पुत्र वन गया तथा दैत्यों को वेदधर्म छोड़ने के लिए मोहित किया :—

> महामोहस्वरूपोऽसौ शुद्धोदनसुतोऽभवत् ।
> मोहयामास दैत्यांस्तान् त्याजिता वेदधर्मकम् ॥

अग्निपु० १६।२

यही तथ्य भविष्यपुराण (४।१२।२६-२९) में पाया जाता है। श्रीमद्भागवत में बुद्धावतार का अनेकत्र वर्णन किया गया है (भाग० २।७।३७; ६।८।१९; १०।४०।२२ तथा ११।४।२३) फलतः बुद्ध अवतार में प्रायः सब पुराणों में स्वीकृत हैं।[1] बुद्ध का निश्चित निर्देश महाभारत के असली पाठों में नहीं मिलता। महाभारत शान्ति ३४८ अ० में यह श्लोक अवश्य पाया जाता है—

> मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।
> रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्कीति ते दश ॥

परन्तु इसके अन्तिम चरण का पाठ अन्य हस्तलेखों में है—कृष्णः कल्कीति ते दश। 'बुद्ध' की इस गणना पर अश्रद्धा का कारण यह भी है कि इसी अध्याय के ५५ श्लोक में दशावतारों की पुनर्गणना की गई है जहाँ 'बुद्ध' के स्थान पर 'हंस' का नाम आता है—

> हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावा द्विजोत्तम।
> वराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च।
> रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च ॥

एक ही अध्याय में यह पूर्वापर विरोध कैसा ? फलतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मूल महाभारत में बुद्ध की गणना अवतारों के अन्तर्गत नहीं है।[2]

---

१. द्रष्टव्य डा० रामशंकर भट्टाचार्य : इतिहासपुराण का अनुशीलन, पृष्ठ २८०-२८६, काशी, १९६३। यहाँ पुराणों से बुद्धविषयक वचन परिश्रम से एकत्र किये गये हैं।

२. बुद्ध की मूर्ति का उल्लेख अग्नि ४९।८ में इस प्रकार है—

> शान्तात्मा लम्बकर्णश्च गौराङ्गश्चाम्बरावृतः।
> ऊर्ध्वपद्मस्थितो बुद्धो वरदाभयदायकः ॥

यह श्लोक ध्यानावस्थित बुद्ध की अभय मुद्रा का वर्णन करता है। 'लम्बकर्ण' उनकी निजी विशेषता है। गान्धार में निर्मित बुद्ध की मूर्ति पर यह वर्णन पूरे तौर पर लागू होता है। अन्य पुराणों में भी बुद्धमूर्ति का प्रसंग आता है।

(१०) कल्कि अवतार—इस अवतार के विषय में शास्त्र का कथन है कि यह अवतार अभी भविष्य में होने वाला है—कलियुग के अन्त में, जब शासकों के दुष्टकर्मों से प्रजाओं का नितान्त उत्पीडन होगा, जब अधर्म अपनी चूडा पर पहुँच जावेगा तथा ब्राह्मणधर्म की सार्वत्रिक निन्दा तथा अपमान होगा। अवतार के स्थान का भी पता मिलता है। महाभारत (वनपर्व १९०-९१), हरिवंश (१।४१) ब्रह्म १०४ अ० आदि के अनुसार संभल या शम्भल कल्कि का जन्मस्थान होगा। हरिवंश का कथन है कि कल्कि तथा उनके अनुयायियों का कर्मक्षेत्र गंगा तथा यमुना के बीच का प्रदेश (अन्तर्वेदी) होगा और यह अनुमेय है कि इसी अन्तर्वेदी में कहीं सम्भल होना चाहिए। महा० (सभापर्व ५० तथा वनपर्व १९०) में 'विष्णुयशस्' कल्कि का ही नामान्तर-रूप से दिया गया है, परन्तु महा० (शान्ति ३४८ अ०), मत्स्य ४७।२४८-२४९ तथा भाग० (१।३।२५) के अनुसार यह कल्कि के पिता का अभिधान है। हरि० के अनुसार याज्ञवल्क्य विष्णु के पुरोहित माने गये हैं, परन्तु मत्स्य के अनुसार इस कार्य के निमित्त याज्ञवल्क्य के साथ पाराशर्य का भी नाम उल्लिखित है।

महाभारत तथा मत्स्य दोनों में कल्कि के अवतार-कार्य की शैली का बड़ा ही रोचक वर्णन किया गया है कि किस प्रकार ब्राह्मण कल्कि ब्राह्मणों से घिर कर अधार्मिक जनों का अपने नाना तीव्र आयुधों के द्वारा संहार करेंगे तथा सबका विध्वंसन कर नये सुखद युग—कृतयुग—की स्थापना करेंगे। कल्कि का वर्ण हरित पिंगल होगा—हरा तथा भूरा का सम्मिश्रण तथा वे घोड़े पर सवारी कस कर अपना कार्य सम्पादन करेंगे और उनके सहायक ब्राह्मणगण भी घोड़े पर सवार रहेंगे। कल्कि के द्वारा विध्वंसनीय दस्यु तथा अधार्मिकों के परिचय का संकेत हरिवंश (१।४१।६५) तथा मत्स्य (४७।२४९) के एक विशिष्ट उल्लेख से मिलता है। ये दोनों ग्रन्थ कल्कि अवतार को 'भाव्य सम्भूत'[१] अथवा 'भाव्यसंपन्न' बतलाते हैं। नीलकण्ठ ने हरिवंश के इस श्लोक की व्याख्या में इसका अर्थ लिखा है—भाव्यसंपन्नः = भाव्यैः क्षणिकवादिभिः सह संपन्नः वादे युद्धे च संगतः॥ इस व्याख्या के अनुसार वे धर्मविरोधी बौद्ध ही हैं जिनको कल्की ने वाद तथा युद्ध दोनों में परास्त किया था। इसी प्रसंग में उल्लिखित 'पाखण्ड'[२] शब्द भी इस तथ्य का पोषक माना जा सकता है। विष्णु

---

१. कल्की तु विष्णुयशसः पाराशर्यपुरःसरः।
दशमो भाव्यसंभूतो याज्ञवल्क्यपुरःसरः॥ —मत्स्य ४७। २४५

२. सर्वांश्च भूतान् स्विमितान् पाखण्डांश्चैव सर्वशः
प्रगृहीतायुधैर्विप्रैर्वृतः शतसहस्रशः॥ —तत्रैव, २४६ श्लो०

के अवतारों में यह अन्तिम अवतार माना गया है—दसवां अथवा बाइसवाँ। भागवत (२।७।३८) का स्पष्ट कथन है कि वैदिकधर्म की स्थापना के निमित्त तथा अवैदिकधर्म के विध्वंसन के लिए ही इस अवतार का उदय हुआ था। फलतः इस अवतार का उद्देश्य भी वही है जो इतर अवतारों का ऊपर बतलाया गया है—धर्म की स्थापना तथा अधर्म का विनाश।[1]

इतर अवतार

यहाँ प्रख्यात दश अवतारों की विशिष्ट चर्चा समाप्त होती है। भागवत के अवतारों की दोनों सूचियों के मिलाने पर ये इतर अवतार प्रतीत होते हैं। इनका वर्णन भागवत के अन्य स्कन्धों में कम या अधिक मात्रा में मिलता है तथा अन्य पुराणों में भी। महाभारत में बहुतों का अस्तित्व मिलता है। भागवत के प्रथम क्रम (१।३) को ही मुख्य मानकर इनका निर्देश संक्षेप में इस प्रकार है—

नाम	भागवत स्थल	इतर स्थल
(११) चतुःसन (या कौमार सर्ग)	दोनों स्थान पर अवतार १।३।६ तथा २।७।५	ब्रह्मा के मानस पुत्र तो माने गये हैं, परन्तु विष्णु के अवतार की कल्पना नहीं।
(१२) नारद	१।३।८	भागवत में अवतार, अन्यत्र नहीं।
(१३) नर नारायण	१।३।९ २।७।६–८	महाभारत शान्ति ३४२; मत्स्य ४७।२३७–३८.
(१४) कपिल	१।३।१०, २।७।३; ३।२२–२३.	महा० सभा १०६–१०७; हरि० १। १४।२४; विष्णु० ४।४
(१५) दत्तात्रेय	१।३।४; २।७।४	महा० सभा, ४८; हरि० १,३३. ४१; मत्स्य ४७; विष्णु ४।११; ब्रह्म० ७१, १०४
(१६) यज्ञ (सुयज्ञ)	१।३।१२; २।७।२	कूर्म ५१
(१७) ऋषभ	१।३।१३; २।७।१०; ५।३–६	अन्यत्र नहीं

---

१. यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः
पाखण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः ॥
स्वाहा स्वधा वषडिति स्म गिरो न यत्र
शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते ॥
—भाग० २।७।३८

नाम	भागवत स्थल	इतर स्थल
(१८) पृथु	१।३।१४; २।७।९.	पुराणों में बहुशः वर्णित परन्तु अवतार कल्पना केवल भाग० में ही।
(१९) धन्वन्तरि	१।३।१७ २।७।२१	भाग० में अवतार, अन्यत्र नहीं
(२०) मोहिनी	१।३।१७	केवल भागवत में ही अवतार कल्पना, अन्यत्र नहीं।
(२१) वेद व्यास	१।३।२१; २।७।३६	महा० शान्ति, ३५९; हरिवंश १।४१. मत्स्य ४७; कूर्म० १४।५१.
(२२) मान्धाता चक्रवर्ती	भाग० ९।६ में वर्णन होने पर भी अवतार कल्पना नहीं	केवल मत्स्य में अवतार कल्पना, अ० ४७
(२३) हंस	भाग० २।७ प्रथम सूची में नहीं	महा० शान्ति ३४८।५५ जहाँ वे बुद्ध के स्थान पर उल्लिखित हैं।
(२४) पौष्करक	भाग० में नहीं	हरि० १।४१।२६–२७, ब्रह्म० १०४। ३०–३१ स्पष्ट रूप नहीं चलता
(२५) हयशीर्ष (अथवा) हयग्रीव	भाग० २।७।११; १०।४०।१७ वेद का उद्धार ही लक्ष्य ५।१८।६	महा० शान्ति० ३४७ में अवतार का कार्य विस्तरशः उल्लिखित। मत्स्य के समान ही वेद के उद्धार का कार्य[1]
(२६) गजेन्द्र मोक्षकारक	भाग० में त्रयोदश अवतार २।७।१५–१६	अन्यत्र नहीं
(२७) पृश्निगर्भ	भागवत में उल्लिखित	

इनके अतिरिक्त कूर्मपुराण के ५१ वें अध्याय में अन्य पांच अवतारों का निर्देश मिलता है जिनमें से अनेक का अभिधान नहीं दिया गया है, केवल सामान्य निर्देश ही उपलब्ध होता है। इस प्रकार संकलन करने पर विष्णु के ३२ अवतारों का परिचय मिलता है, जिनमें से आरम्भ में वर्णित १० तो मुख्य हैं इतर २२ गौण तथा अल्प-प्रसिद्ध। शिव के २८ अवतारों का नाम कूर्मपुराण के ५३ अध्याय (पूर्वार्ध) में उपलब्ध होता है—

---

१. एतस्मिन्नन्तरे राजन् देवो हयशिरोधरः।
जग्राह वेदानखिलान् रसातलगतान् हरिः ॥

—शान्ति ३४७।५७-५८

(१) सुतार, (२) मदन, (३) सुहोत्र, (४) कङ्कण, आदि। अन्तिम (२८) अवतार नकुलीश्वर है जो स्पष्टतः ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। पाशुपत मत की संज्ञा लकुलीश पाशुपात होने का यही कारण है कि वह नकुलीश (या लकुलीश) के द्वारा प्रतिष्ठित किया गया था।

इस प्रकार अवतार की कल्पना तथा उसके विविध रूपों के चरित और लीला का वर्णन पुराणों का प्रधान विषय है। पुराणों का एक बड़ा भाग अवतारों के लीलावर्णन में प्रस्तुत किया गया है। इसीलिए इस विषय का एक ऐतिहासिक अनुशीलन ऊपर किया गया है।

१, इन अवतारों के विशेषवर्णन के लिए देखिए Allahabad university Studies भाग १० (१९३४) में भी स. ल. कात्रे लिखित Avatāras of God शीर्षक लेख।

परिशिष्ट

श्रीकृष्ण के लौकिक चरित का विश्लेषण

वृन्दावन-विहारी नन्द-नन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के अलौकिक व्यक्तित्व की इतनी अधिक चर्चा भक्ति-साहित्य तथा कृष्ण-काव्यों में है कि उनका लौकिक व्यक्तित्व आलोचकों तथा सामान्य जनों की दृष्टि से एक प्रकार से ओझल ही रहता है—सत्ता होने पर भी वह असत्ता के साम्राज्य में ही अधिकतर विचरण करता दीखता है। भक्तों की उधर दृष्टि ही नहीं जाती कि उनका लौकिक जीवन भी उतना ही भव्य तथा उदात्त है जितना उनका अलौकिक जीवन मधुर तथा सुन्दर है। पुराणों में, विशेषकर श्रीमद्भागवत में, श्रीकृष्ण परमैश्वर्य-मण्डित, निखिल ब्रह्माण्डनायक, अघटित घटना-पटीयान् भगवान् के रूप में ही चित्रित किये गये हैं। वे वाणी के परमवर्णनीय विषय माने गये हैं। जो वाणी श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन नहीं करती, वह वायसतीर्थ के समान उपेक्षणीय तथा गर्हणीय है, हंस-तीर्थ के समान श्लाघनीय तथा आदरणीय नहीं—

> **न तद् वचश्चित्रपदं हरेर्यशो**
> **जगत् पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।**
> **तद् ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं**
> **यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः॥**
>
> —भागवत १२।१२।५०

यह कथन कृष्णचन्द्र के लौकिक चरित्र के अनुरोध से भी सम्बन्ध रखता है। अलौकिक से पृथक् तथा भिन्न उनका एक लौकिक चरित्र भी था जिसमें उदात्तता का कम निवास न था। श्रीकृष्ण के इसी लौकिक व्यक्तित्व की संक्षिप्त मीमांसा यहां प्रस्तुत की जाती है।

हरिवंश तथा पुराण—दोनों ही जनता में कृष्ण के प्रति भव्य-भावुक भक्ति के उद्भावक ग्रन्थ हैं। फलतः इन दोनों में श्रीकृष्ण का अलौकिक जीवनवृत्त ही प्रधानतया प्रतिपाद्य है। लौकिक वृत्त के चित्रण का मुख्य आधार है महाभारत जहां श्रीकृष्ण पाण्डवों के उपदेशक तथा जीवन-निर्वाहक मुख्य सखा के रूप में चित्रित किये गये हैं। जीवन के नाना पक्षों के द्रष्टा, स्वयं कार्य करने वाले, महाभारत युद्ध के लिए पाण्डवों के मुख्य प्रेरक के रूप में महाभारत उन्हें प्रस्तुत करता है। उसी स्वरूप का विश्लेषण कर उसकी उदात्तता तथा मूर्धन्यता प्रकट करने का यह एक सामान्य प्रयास है।

(१) श्रीकृष्ण की अद्वयता

प्रथमतः विचारणीय है कि कृष्ण एक थे अथवा अनेक ? कृष्ण के बाल्य-काल तथा प्रौढ़काल के जीवन-वृत्तों का असामंजस्य ही उनके अनेकत्व की कल्पना का आधार है। उनका बालजीवन इतने अल्हड़पने से भरा है—नाच, गान, रंगरेलियों की इतनी प्रचुरता है उसमें कि लोगों को विश्वास ही नहीं होता कि वृन्दावन का बाल कृष्ण ही महाभारत के युद्ध में अर्जुन का सारथि तथा गीता के अलौकिक ज्ञान का उपदेष्टा है। यूरोपियन विद्वानों ने ही इस असामञ्जस्य के कारण दो कृष्णों के अस्तित्व की कल्पना की जो डा० रामकृष्ण भण्डारकर के द्वारा समर्थित[1] होने पर भारतीय विद्वानों के लिए एक निर्भ्रान्त सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत हुआ। परन्तु श्रीकृष्ण के दो होने की कल्पना नितान्त भ्रांत तथा सर्वथा अप्रमाणिक है। पौराणिक कृष्ण तथा महाभारतीय कृष्ण के चरित्र में पार्थक्य होना तत्तद् आधार ग्रन्थों की भिन्नता के ही कारण है। पुराणों का लक्ष्य कृष्णचन्द्र के प्रति जनता की भक्ति जागरूक करना था, फलतः अपने लक्ष्य से वहिर्मुख होने के कारण इन्होंने श्रीकृष्ण के प्रौढ़ जीवन की लीला का वर्णन नहीं किया। पुराणों में केवल श्रीमद्भागवत ने श्रीकृष्ण के उभय-भागीय वृत्तों का उचित रीति से वर्णन किया है। दशम स्कन्ध का पूर्वार्ध कंसवध तक ही सीमित है, परन्तु इसके उत्तरार्ध में महाभारत-युद्ध से सम्बद्ध कृष्ण-चरित्र का पूर्ण संकेत तथा संक्षिप्त विवरण दिया गया है। महाभारत का प्रधान लक्ष्य श्रीकृष्ण के प्रौढ़ जीवन की घटनाओं का वर्णन है—उन घटनाओं का, जब ये पाण्डवों के सम्पर्क में आते हैं तथा भारत युद्ध का संचालन करते हैं। फलतः वह उनके बाल्यजीवन की घटनाओं का वर्णन नहीं करता अपने उद्देश्य पूर्ति वहिरंग होने के कारण। परन्तु समय-समय पर उन घटनाओं का संकेत अभ्रान्त रूप में करता है। सभा-पर्व में राजसूय की समाप्ति पर अग्रपूजा के अवसर पर शिशुपाल ने श्रीकृष्ण के ऊपर नाना प्रकार का लाञ्छन जब लगाया था तब उसने उनके बालचरित को लक्ष्य कर ही ऐसा किया था।

> यद्यनेन हता बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम्।
> तौ वाऽश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ ॥ ७ ॥
> चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम्।
> पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम् ॥ ८ ॥
> वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः।
> तदा गोवर्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ॥ ९ ॥

---

१. इसके लिए द्रष्टव्य उनका ग्रन्थ—वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर सेक्ट्स (पूना का संस्करण)

भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि।
इति ते भीष्म शृण्वाना: परे विस्मयमागता: ॥ १० ॥
यस्य चानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्नं बलीयस: ।
स चानेन हत: कंस इत्येतन्न महाद्भुतम् ॥ ११ ॥

—सभापर्व, ४१ अध्याय ।

इन पद्यों में श्रीकृष्ण के सामान्यत: आश्चर्यभरी लीला का यौक्तिक उपहास किया गया है । सप्तम श्लोक से पूतना, केशी तथा वृषभासुर के वध का संकेत है । आठवें श्लोक में चेतनारहित शकट के पैर से तोड़ डालने का उपहास है; नवम श्लोक बतलाता है कि कृष्ण के द्वारा गोवर्धन पर्वत का हाथ पर धारण करना कोई अचरज भरी घटना नहीं है, क्योंकि इसे तो चीटियों ने खोखला बना डाला था !!! पहाड़ के शिखर पर नाना पकवानों के भक्षण की बात सुन कर दूसरे लोग ही अर्थात् मूर्ख लोग ही आश्चर्य में पड़ते हैं । जिस कंस के अन्न को इसने खाया था, उसे ही मार डालना अद्भुत काम नहीं हैं—यह तो कृतघ्नता की पराकाष्ठा है !!!

शिशुपाल की यह निन्दाभरी वक्तृता श्रीकृष्ण के एकत्व स्थापन में पर्याप्त प्रमाण है । यह स्पष्ट बतला रही है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जिस व्यक्ति की अग्रपूजा की गई है, वह उस व्यक्ति से भिन्न नहीं है जिसने[1] बाल्यकाल मे पूतना, वृषासुर, केशी, नामक राक्षसों का वध किया था, गोवर्धन पर्वत का हाथ पर धारण किया था तथा उसके शिखर पर बहुत सा अन्न अकेले ही खा डाला था तथा राजा कंस का वध किया था। ये ही श्रीकृष्ण की बाल्यकाल की आश्चर्य-रस से भरी लीलायें हैं । फलत: महाभारत की दृष्टि से कृष्ण की एकता तथा अभिन्नता सर्वतोभावेन समर्थित तथा प्रमाणित है ।

द्रोणपर्व में धृतराष्ट्र ने सञ्जय से श्रीकृष्ण की स्तुति में जो बातें निर्दिष्ट कीं, वे उनके बाल्य-जीवन से सम्बन्ध रखती हैं । इस प्रसंग के श्रीकृष्ण के ऐक्य प्रतिपादक कतिपय पद्य यहां उद्धृत किये जाते हैं :—

शृणु दिव्यानि कर्माणि वासुदेवस्य सञ्जय ।
कृतवान् यानि गोविन्दो यथा नान्य: पुमान् क्वचित् ॥

---

१. इन लीलाओं का वर्णन अनेक पुराणों में एक समान ही किया गया हैं—विशेषत: विष्णुपुराण के पंचम अंश में तथा श्रीमद्भागवत के १० म स्कन्ध (पूर्वार्ध) में । यथा—पूतना-वध (भाग० १०।३), वृषासुरवध (१०।३६), केशीवध (१०।३७), गोवर्धनधारण तथा अन्नभक्षण (१०।२४-२५), कंस का वध (१०।४४)।

गोकुले वर्धमानेन बालेनैव महात्मना ।
विख्यापितं बलं बाह्वोस्त्रिषु लोकेषु सञ्जय ॥
उच्चैःश्रवस्तुल्यबलं वायुवेगसमं जवे ।
जघान हयराजं तं यमुनावनवासिनम् ॥
दानवं घोरकर्माणं गवां मृत्युमिवोत्थितम् ।
वृषरूपधरं बाल्ये भुजाभ्यां निजघान ह ॥
प्रलम्बं नरकं जम्भं पीठं चापि महासुरम्
मुरं चामरसंकाशमवधीत् पुष्करेक्षणः ॥
तथा कंसो महातेजा जरासन्धेन पालितः ।
विक्रमेणैव कृष्णेन सगणः पातितो रणे ॥
सुनामा नरविक्रान्तः समग्राक्षौहिणीपतिः ।
भोजराजस्य मध्यस्थो भ्राता कंसस्य वीर्यवान् ॥
बलदेवद्वितीयेन कृष्णेनामित्रघातिना ।
तरस्वी समरे दग्धः ससैन्यः शूरसेनराट् ॥
चेदिराजं च विक्रान्तं राजसेनापतिं बली ।
अर्घ्ये विवदमानं च जघान पशुवत् तदा ॥
यच्च तन्महदाश्चर्यं सभायां मम सञ्जय ।
कृतवान् पुण्डरीकाक्षः कस्तदन्य इहार्हति ॥

इन पद्यों में गोकुल, मथुरा हस्तिनापुर की लीलाओं का स्पष्ट उल्लेख है। धृतराष्ट्र की दृष्टि में इन त्रिस्थानों की लीला करने वाला व्यक्ति एक ही कृष्ण था। फलतः महाभारत श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में द्वैविध्य नहीं रखता। श्रीकृष्ण एक ही व्यक्ति थे—महाभारत का अकाट्य प्रमाण इस तथ्य का स्पष्ट साधक है।

(२) श्रीकृष्ण का सौन्दर्य

श्रीकृष्ण की बाह्य आकृति, उनका साँवला रंग, उनका पीताम्बर, उनके शरीर की गठन— आदि भौतिक शरीर उस युग के मानवों के ही लिए आकर्षक न था, प्रत्युत गत सहस्रों वर्षों से वह कवियों के आकर्षण का विषय बना हुआ है। बाल्यकाल में उनकी रूपछटा का अवलोकन कर यदि सरल ग्रामीण गोप-वधू तथा नगर की स्त्रियां आनन्द से आप्लुत हो उठती थीं, तो यह हमारे चित्त में इतना कौतुक नहीं उत्पन्न करता। जब हम देखते हैं कि भीष्म पितामह, श्रीकृष्णके पितामह के समवयस्क, सौ वर्ष से ऊपर वय वाले, शरशय्या पर योग के द्वारा अपने जीवन समाप्त करने के इच्छुक इच्छामरण भीष्म—श्रीकृष्ण के सामने आने पर उनके शरीर-सौन्दर्य से आकृष्ट हुए बिना नहीं रहते, तब तो

श्रीकृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य और आकर्षण को हठात् मानना ही पड़ता है। यह है उनकी प्रौढावस्था की घटना। इसीलिए तो शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म नारायण के रूप में श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए भी उनकी शारीरिक सुषमा का विशद संकेत करते हैं—

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं
रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं
विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या।
ललितगतिविलासवल्गुहास-
प्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः
प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः।

—भागवत १।९।३३,४०

इन कमनीय पद्यों का आशय है कि उनका शरीर त्रिभुवन-सुन्दर तथा तमाल के समान सांवला है, जिस पर सूर्य-किरणों के समान श्रेष्ठ पीताम्बर लहराता है, और कमल-सदृश मुख पर घुंघराली अलकें लटकती रहती हैं, उन अर्जुनसखा कृष्ण में मेरी निष्कपट प्रीति हो। जिनकी लटकीली सुन्दर चाल, हावभाव-युक्त सुन्दर चेष्टा में, मधुर मुसकान और स्नेह-भरी चितवन से अत्यन्त सम्मानित गोपियां रासलीला में उनके अन्तर्धान होने पर प्रेमोन्माद से मतवाली होकर जिनकी लीलायों का अनुकरण कर तन्मय हो गई थीं, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण में मेरा परम प्रेम हो।

यह वर्णन है श्रीकृष्ण की प्रौढावस्था की रूप-शोभा का और वर्णनकर्ता हैं उस युग के सबसे विद्वान्–ज्ञानी शिरोमणि बाबा भीष्म जिनके ऊपर पक्षपात का दोषारोपण कथमपि नहीं किया जा सकता। तब तो हठात् मानना ही पड़ेगा कि श्रीकृष्ण की देह-कान्ति सचमुच ही अत्यन्त ही चमत्कारी थी। पीताम्बर के वाह्य परिधान से वह और भी सुसज्जित की गई थी। इस बाह्य शोभा को श्रीकृष्ण ने मानसिक गुणों के संवर्धन से और भी चमत्कृत तथा उदात्त बना रखा था। क्योंकि उस युग के सबसे प्रौढ़ विद्वान् काशीवासी साम्प्रतं उज्जयिनी-प्रवासी सान्दीपनि गुरु से चतुषष्टि विद्याओं और कलाओं का अध्ययन कर उन्होंने विद्या के क्षेत्र में भी अपनी चरम उन्नति की थी। गीता के उपदेशक होने की योग्यता का सूत्रपात श्रीकृष्ण के जीवन-प्रभात में ही इस प्रकार मानना सर्वथा युक्ति-संगत प्रतीत होता है (भागवत, १०म स्कन्ध उत्तरार्ध)।

(३) श्रीकृष्ण की अग्रपूजा

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पर्यवसान में अग्रपूजा का प्रसंग उपस्थित था। यज्ञ के अन्त में किसी महनीय उदात्त व्यक्ति की पूजा की जाती है जो 'अग्रपूजा' की संज्ञा से याज्ञिकों द्वारा अभिहित की जाती है। सहदेव के पूछने पर भीष्म-पितामह ने श्री कृष्ण को ही अग्रपूजा का अधिकारी बतलाया। इस अवसर पर उन्होंने कृष्ण के चरित्र का जो प्रतिपादन किया, वह यथार्थतः इनकी उदात्तता, तथा अलोकसामान्य वैदुष्य और वीरता का स्पष्ट प्रतिपादक है। इस प्रसंग के एक-दो ही श्लोक पर्याप्त होंगे—

> एष त्वेषां समस्तानां तेजो-बल-पराक्रमैः।
> मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः॥
> असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना।
> भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः॥
>
> —सभा० ३६।२८-२९

इन पद्यों का तात्पर्य है कि इस सभा में एकत्र राजाओं के बीच—जहां भारतवर्ष के समस्त अधीश्वर उपस्थित थे-तेज, बल तथा पराक्रम के द्वारा श्रीकृष्ण ही ज्योतियों के मध्य सूर्य के समान तपते हुए की भांति प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार सूर्य से विरहित अन्धतामिस्र से युक्त स्थान को भगवान् सूर्य चमका देता है और निर्वातस्थान को, जहाँ लोगों का हवा के विना दम घुटता रहता है, वायु आह्लादित कर देता है—ठीक उसी प्रकार कृष्ण के द्वारा यह सभा उद्भासित तथा आह्लादित की गई है।

शिशुपाल इस अग्रपूजा के अनौचित्य पर क्षुब्ध होकर कृष्ण के दोषों का विवरण देकर भीष्म के ऊपर पक्षपात तथा दुराग्रह का आरोप करता है। इसके उत्तर में परम ज्ञानी दीर्घजीवी तथा जगत् के व्यवहारों के नितान्त अनुभवी भीष्म का कथन ध्यान देने योग्य है। कृष्ण की अग्रपूजा का कारण उनका सम्बन्धी होना नहीं है, प्रत्युत उनमें अलोकसामान्य गुणों का निवास ही मूल हेतु है—उनमें दान, दक्षता, श्रुत (शास्त्र का परिशीलन), शौर्य, ह्री, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, सन्तति, श्री, धृति, तुष्टि तथा पुष्टिका नियत निवास है। इसीलिए वे अर्च्यतम हैं (सभा० ३८।२०)। अपने गुणों से कृष्ण ने चारों वर्णों के वृद्धों को अतिक्रमण कर लिया है (३८।१७)। वे एक साथ ही ऋत्विक्, गुरु, विवाह्य, स्नातक, नृपति तथा प्रिय हैं। इसीलिए उनकी अर्चा अन्य महापुरुषों के रहते हुए की गई है (३८।२२)। "सबसे बड़ी बात तो यह है कि वेद-वेदाङ्ग का यथार्थ ज्ञान ब्राह्मण के महत्त्व का हेतु होता है और बल-सम्पत्ति क्षत्रिय के गौरव का कारण होती है। ये दोनों ही कृष्ण में एक साथ अन्यूनभावसे विद्यमान हैं। इसलिए

मेरी स्पष्ट सम्मति है कि इस मानवलोक में केशव से बढ़ कर कोई भी व्यक्ति वर्तमान नहीं है ?" भीष्मपितामह की यह सम्मति यथार्थरूपेण श्रीकृष्ण के परम गौरव की तथा उदात्त चरित्र की प्रतिष्ठापिका उक्ति है—

वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाभ्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ॥

—तत्रैव ३८।१९

संजय भी उस युग के विशिष्ट विद्वान्, कुरुपाण्डवों के हित-चिन्तक तथा धृतराष्ट्र को शुभ मन्त्रणा तथा श्लाघ्य प्रेरणा देने वाले मान्य पुरुष थे। श्रीकृष्ण के प्रभाव का संकेत उनके ये शब्द कितनी विशदता से दे रहे हैं—

एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ॥
भस्म कुर्यात् जगदिदं मनसैव जनार्दनः।
न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम् ॥
यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥

—उद्योगपर्व ६८।६–१०

इस प्रसंग में ये श्लोक निःसन्देह महनीय तथा मननीय हैं। समस्त जगत् तथा केवल कृष्ण की तुलना की जाय, तो सार—मूल्य—गौरव की दृष्टि में समस्त जगत् से कृष्ण बढ़कर हैं। जनार्दन में इतनी शक्ति है कि वे मन से ही केवल समस्त संसार को भस्म कर सकते हैं। इस पद्य में 'मनसैव' पद किसी अलौकिक जादू-टोना का प्रतिपादक नहीं है, प्रत्युत वह एक मानसिक चिन्तन, ध्यान तथा केन्द्रित विचारशक्ति का स्पष्ट निर्देशक है। मेरी दृष्टि में यही इसका व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है। जिस ओर सत्य रहता है, धर्म होता है, ह्री (= अकार्यात् निवृत्तिः ह्रीः अर्थात् बुरे काम करने से निवृत्त होना) रहती है, और जिधर आर्जव (ऋजुता, स्पष्टवादिता तथा निर्दुष्ट चरित्र) रहता है, उधर ही रहते हैं गोविन्द और जिधर कृष्ण रहते हैं, उधर ही जय रहता है। फलतः कृष्ण का आश्रयण विजय का प्रतीक है।

कितना सुन्दर चरित्रविश्लेषण है श्रीकृष्ण का इन नपे-तुले शब्दों में! और ये वचन हैं भी किसके ? ये कौरव-पक्ष के अनुयायी व्यक्ति के हैं जिसके ऊपर पक्षपात करने का आरोप कथमपि मढ़ा नहीं जा सकता। पाण्डवपक्ष का व्यक्ति मिथ्या प्रशंसा का दोषी ठहराया भी जा सकता है, परन्तु भीष्म तथा संजय के इन वचनों में पक्षपात का भला कहीं गन्ध भी सूँघा जा सकता है?

× × ×

इस अवसर पर श्रीकृष्ण की सहिष्णुता भी अपने पूर्ण वैभव के साथ प्रद्योतित होती है। शिशुपाल श्रीकृष्ण के विरोधी दल का नेता था; उसे यह अग्रपूजा तनिक भी नहीं जँची। लगा वह कृष्ण पर गालियों की बौछार बरसाने। ध्यान देने की बात है कि इन गालियों में कृष्ण के शौर्याभास का ही विवरण है, किसी लम्पटता तथा दुराचार का संकेत भी नहीं है (जो आजकल लोग उनके चरित्र पर लाञ्छन लगाया करते हैं गोपी प्रसंग को लेकर)। कृष्ण के बाद वह टूट पड़ा भीष्म के ऊपर और लगा उन्हें कोसने नाना प्रकार की पक्षपातभरी बातों का हवाला देकर। भीष्म ने तो अपने पक्ष के समर्थन में बहुत ही युक्तियाँ दीं तथा तर्क उपस्थित किये; परन्तु श्रीकृष्ण ने अपनी मौन मुद्रा का भंजन तब किया जब अपनी बूआ को दी गई पूर्व प्रतिज्ञा की समाप्ति हो गई। श्रीकृष्ण अपनी प्रतिज्ञा के पालन में एक धुरन्धर व्यक्ति थे जिसका संकेत उन्होंने द्रौपदी को आश्वासन देते समय स्वयं किया था —

> सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यति।
> पतेद् द्यौर्हिमवान् शीर्येत् पृथिवी शकली भवेत्।
> शुष्येत् तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत्॥
>
> — वनपर्व १२।३०–३१

आकाश भले ही गिर जाय; हिमालय भले ही चूर्ण-विचूर्ण होकर धराशायी हो जाय, पृथ्वी टुकड़े-टुकड़े हो जाय, और समुद्र भले ही सूख जाय, परन्तु हे कृष्णे द्रौपदी! मेरा वचन व्यर्थ नहीं हो सकता। ऐसे सत्यप्रतिज्ञ की प्रतिज्ञा कभी झूठी नहीं होती।

इस प्रसंग में श्रीकृष्ण की महती सहिष्णुता तथा भूयसी दृढ़प्रतिज्ञा का पर्याप्त परिचय मिलता है।

(४) श्रीकृष्ण की स्पष्टवादिता

स्पष्टवादिता महापुरुष का एक महनीय लक्षण है। जो व्यक्ति अपने चरित्र की त्रुटियों को जानता ही नहीं, प्रत्युत वह उन्हें भरी सभा में, गण्य-मान्य पुरुषों के सामने नि:संकोच भाव से कहने का भी साहस रखता है, वह सचमुच एक महान् पुरुष है, आदर्श उदात्त मानव है। इस कसौटी पर कसने से श्रीकृष्ण के चरित्र की महनीयता स्वतः प्रस्फुटित होती है। एक ही दृष्टान्त उनकी प्राञ्जल स्पष्टवादिता को प्रदर्शित करने में पर्याप्त होगा। विष्णुपुराण (४ अंश, अध्याय १३) में स्यमन्तकमणि की कथा विस्तार के साथ सुबोध संस्कृत गद्य में निबद्ध की गई है। शतधन्वा नामक यादव ने सत्यभामा के पिता सत्राजित की हत्या कर स्यमन्तक मणि को छीन लिया। कृष्ण को सत्यभामा ने अपने पिता

की निर्मम हत्या की सूचना स्वयं दी। वारणावत से वे द्वारिकापुरी में आये। उसकी खबर पाते ही शतधन्वा अपनी शीघ्रगामिनी वड़वा पर चढ़ पूरब की ओर भाग खड़ा हुआ और श्रीकृष्ण ने अपने अग्रज बलभद्रजी के साथ चौकड़ी-जुते रथ पर चढ़कर उसका पीछा किया। द्वारिका से भागा हुआ शतधन्वा नाना प्रान्तों को पार करता मिथिला पहुँचा जहाँ उसकी वह तेज घोड़ी रास्ते के थकान के मारे अकस्मात् गिर कर मर गई जिससे वह पैदल ही भागा। कृष्ण ने अपना सुदर्शन चलाकर उसका सिर वहीं काट डाला, परन्तु उनके विषाद की सीमा न रही जब उसके कपड़ों के टटोलने पर भी वह मणि नहीं मिला, बलभद्र ने तो सत्या के मिथ्या वचनों में आसक्ति रखने वाले अपने अनुज की बड़ी भर्त्सना की और रुष्ट होकर वे मिथिलेश राजा जनक के यहाँ चले गये। क्या करते? खाली हाथ कृष्ण द्वारका लौट आये और अपने विपुल उद्योग की विफलता पर उन्होंने खेद प्रकट किया। शतधन्वा ने वह मणि श्वफल्क के पुत्र अक्रूर जी के पास रख दिया था जिन्होंने उससे प्रतिदिन उत्पन्न होने वाले सोने का वितरण कर 'दानपति' की महनीय उपाधि प्राप्त की थी। 'दानपति' अक्रूर जी ने स्यमन्तकमणि को 'श्रीकृष्ण को देने का प्रस्ताव किया, परन्तु यादवों की भरी सभा में उन्होंने इसे अस्वीकार करते समय जिस स्पष्टवादिता का परिचय दिया, वह वास्तव में श्लाघनीय तथा वन्दनीय थी।

श्रीकृष्ण ने कहा—यह स्यमन्तक मणि राष्ट्र की सम्पत्ति है; ब्रह्मचर्य के साथ पवित्रता से धारण करने पर ही यह राष्ट्र का कल्याण साधन करता है, अन्यथा यह अमंगल कारक है। दस हजार स्त्रियों से विवाह करने से उस आवश्यक पवित्रता का अभाव मुझे इसे ग्रहण करने की योग्यता प्रदान नहीं करता; सत्यभामा तब कैसे ले सकती है? हमारे अग्रज बलराम जी को मद्यपान आदि समस्त उपभोगों को तो इसके लिए तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी। इसलिए अक्रूरजी के पास ही इस मणि का रहना सर्वथा राष्ट्रहित के पक्ष में है। इस प्रसंग में श्रीकृष्ण के मूल शब्दों पर ध्यान दीजिए—

एतच्च सर्वकालं शुचिना ब्रह्मचर्यादिगुणवता ध्रियमाणमशेष-राष्ट्रस्योपकारकम्; अशुचिना ध्रियमाणम् आधारमेव हन्ति ॥१५५॥ अतोऽहमस्य षोडशस्त्रीसहस्रपरिग्रहादसमर्थो धारणे, कथमेतत् सत्यभामा स्वीकरोति ॥१५६॥ आर्यबलभद्रेणापि मदिरापानाद्यशेषोपभोग-परित्यागः कार्यः ॥१५७॥ तदलं यदुलोकोऽयं बलभद्रः सत्या च त्वां दानपते प्रार्थयामः—तद् भवानेव धारयितुं समर्थः ॥ १५८ ॥

—विष्णुपुराण ४।१३

इतनी अमूल्य मणि के पाने का सुवर्ण अवसर कृष्ण के पास था, परन्तु उन्होंने राष्ट्र के कल्याण के लिए अपनी अयोग्यता अपने मुंह से यादव सभा में

स्वीकार की। यह निःस्पृहता तथा इतनी स्पष्टवादिता श्रीकृष्ण के चरित्र को नितान्त उदात्त सिद्ध कर रही है। इतना ही नहीं, वे निरभिमानता की उज्ज्वल मूर्ति थे। इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है युधिष्ठिर के राजसूय में, जब ब्राह्मणों के पाद-प्रक्षालन का क्षुद्र काम श्रीकृष्ण ने अपने ऊपर लिया था और यज्ञ के महनीय तथा उच्च पदों का अधिकार दुर्योधन आदि कौरवों के सुपुर्द कर दिया था। 'कृष्णः पादावनेजने' (भागवत ७५।५)

चरणप्रक्षालने कृष्णः ब्राह्मणानां स्वयं त्वभूत्।
सर्वलोकसमावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम् ॥

—सभापर्व ३५।१०

उत्तम फल के पाने की इच्छा से कृष्ण ने ब्राह्मणों के पैर पखारने का काम अपने जिम्मे लिया—यह काम सचमुच ही श्रीकृष्ण के निरभिमान व्यक्तित्व का स्पष्ट परिचायक है।

(५) श्रीकृष्ण का सन्धि-कार्य

महाभारत युद्ध के आरम्भ होने से पहिले श्रीकृष्ण ने अपना पूरा उद्योग तथा समस्त प्रयत्न युद्ध रोकने के लिए किया। वे पाण्डवों तथा कौरवों के बीच सम्भाव्यमान युद्ध की भयंकरता तथा विषम परिणाम से पूर्णतया परिचित थे और हृदय से चाहते थे कि भारत में रणचण्डी का यह प्रलयंकारी नृत्य न हो। और इसके लिए उनके मनोभावों का तथा तीव्र प्रयत्नों का पर्याप्त वर्णन महाभारत का उद्योगपर्व करता है। धृतराष्ट्र के पास प्रधान पुरुष होकर भी स्वयं सन्धि का संदेश लेकर जाना और दूत-कार्य करना श्रीकृष्ण के उदात्त चरित्र का पूर्णतया परिचायक है। पाण्डवों के सामने अपने दौत्यकर्म की सम्भाव्य असफलता को स्वीकार करते हुए भी वे कहते हैं कि पार्थ, वहां मेरा जाना कदाचित् निरर्थक नहीं होगा। सम्भव है कदाचित् अर्थ की प्राप्ति हो जाय—सन्धि का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाय। इतना न हो; तो भी अन्त में हमें निन्दा का तो पात्र नहीं बनना पड़ेगा—

न जातु गमनं पार्थ ! भवेत् तत्र निरर्थकम्।
अर्थ-प्राप्तिः कदाचित् स्यादन्ततो वाप्यवाच्यता ॥

इतना ही नहीं, श्रीकृष्ण भावी आलोचना का स्वयं उत्तर प्रस्तुत करते हैं कि अधर्मिष्ठ, मूढ़ तथा शत्रु लोग मुझे ऐसा न कहें कि समर्थ होकर भी कृष्ण ने क्रोध से हठी कौरवों और पाण्डवों को नहीं रोका—इसलिए यह दौत्य कर्म मेरे लिए नितान्त उचित तथा समञ्जस है। कृष्ण के ये मार्मिक वचन ध्यान देने योग्य हैं—

न मां ब्रूयुरधर्मिष्ठा मूढा ह्यसुहृदस्तथा।
शक्तो नावारयत् कृष्णः संरब्धान् कुरुपाण्डवान् ॥

—उद्योग पर्व-९३।१६

उभयोः साधयन्नर्थमहमागत इत्युत ।
तत्र यत्नमहं कृत्वा गच्छेयं नृष्ववाच्यताम् ॥
मम धर्मार्थयुक्तं हि श्रुत्वा वाक्यमनामयम् ।
न चेदादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति ॥
अहापयन् पाण्डवार्थं यथावत्
शमं कुरूणां यदि चाचरेयम् ।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महात्मन्
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥

—उद्योग ९३ । १७-१९

आशय है कि मैं दोनों—कौरवों तथा पाण्डवों का कल्याण सिद्ध करने आया हूँ। मैं इसके लिए पूर्ण यत्न करूंगा जिससे मैं जनता में निन्दा के भाजन होने से बच जाऊंगा। मेरे दौत्यकार्य का उद्देश्य क्या है? महात्मन्, यदि मैं पाण्डवों के न्याय्य स्वत्व में बाधा न आने देकर कौरवों तथा पाण्डवों में सन्धि करा सकूंगा, तो मेरे द्वारा यह महान् पुण्यकर्म बन जायगा और कौरव लोग भी मृत्यु के पाश से बच जावेंगे।

श्रीकृष्ण ने ये वचन दोनों पक्षों के महनीय हितचिन्तक तथा राजनीति के कुशल पण्डित विदुरजी से कहे थे जिनसे उनके विशुद्ध हृदय की पवित्र भावनाओं की रुचिर अभिव्यक्ति हो रही है।

ये वचन कितने मर्मस्पर्शी हैं और कितनी रुचिरता से श्रीकृष्ण की शान्ति-भावना के प्रख्यापक हैं।

पाण्डवों के प्रतिवाद की अवहेलना कर श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र को समझाने तथा पाण्डवों के लिए केवल पांच गाँवों के देने का प्रस्ताव रखने कौरव-सभा में गये और अपना बड़ा ही विशद, तर्कपूर्ण तथा युक्ति-समन्वित भाषण दिया (९५ अध्याय) जिसका अनुशीलन उनके निश्छल परिश्रम तथा प्रयत्न पर एक निर्दुष्ट भाष्य है। युद्ध के अकल्याणकारी रूप को दिखला कर उन्होंने कहा कि युद्ध में कभी कल्याण नहीं होता। न धर्म सिद्ध होता है और न अर्थ की ही प्राप्ति होती है; तब सुख कहां? और विजय भी अनिवार्य रूप से युद्ध में सम्भव नहीं होता। ऐसी दशा में युद्ध में अपना चित्त मत रखो—युद्ध बड़ी भयानक वस्तु है।

न युद्धे तात कल्याणं न धर्मार्थौ कुतः सुखम् ।
न चापि विजयो नित्यं न युद्धे चेत आधिथाः ॥

—उद्योग १२९।४०

अर्थ और काम का मूल धर्म होता है। उसका आश्रय न करना राजा के लिए सर्वथा विनाशकारी होता है—

कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत्।
न हि धर्मादपैत्यर्थः कामो वापि कदाचन॥
इन्द्रियैः प्राकृतो लोभाद् धर्मं विप्रजहाति यः।
कामार्थावनुपायेन लिप्समानो विनश्यति॥

—उद्योग, १२४।३६, ३७

किसी सभा के सभासदों का भी यह पवित्र कर्तव्य होता है कि वे न्याय के पक्ष का अवलम्बन कर न्यायोपेत तथ्य का ही निर्णय करें। यदि वे ऐसा नहीं करते, न्याय की उपेक्षा करते हैं तथा जान बूझ कर सत्य का गला घोंटते हैं तो सभासद ही उस अधर्म से स्वयं विद्ध हो जाते हैं। पाण्डवों के एतद्-विषयक वचनों को कह कर श्रीकृष्ण सभासदों के उदात्त कर्तव्य की चेतावनी देते हैं इन विशिष्ट शब्दों में—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥
विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्र प्रपद्यते।
न चास्य शल्यं कृन्तति विद्धास्तत्र सभासदः॥
धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान्॥

—तत्रैव ९५।४८–५०।

कितनी नीति भरी है इन वचनों में तथा धर्माधर्म का कितना मार्मिक विवेचन करना न्याय्य है सभासदों की ओर से। श्लोकों का अभिप्राय है—जहां सभासदों के देखते-देखते अधर्म के द्वारा धर्म का और मिथ्या के द्वारा सत्य का गला घोंटा जाता हो, वहां वे सभासद नष्ट हुए माने जाते हैं। जिस सभा में अधर्म से विद्ध हुआ धर्म प्रवेश करता है, और सभासद गण उस अधर्मरूपी कांटों को काट कर निकाल नहीं देते हैं, वहां उस कांटे से सभासद ही बिंधे जाते हैं अर्थात् उन्हें ही अधर्म से लिप्त होना पड़ता है। जैसे नदी अपने तट पर उगे हुए वृक्षों को गिराकर नष्ट कर देती है; उसी प्रकार वह अधर्म, विरुद्ध धर्म, ही उन सभासदों का नाश कर डालता है।

श्रीकृष्ण के वचन **सभाधर्म का** निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। ऐसी भावना विदुर जी ने द्रौपदी के चीर-हरण के प्रसंग पर सभा-पर्व (अ० ५८) में भी प्रकट की थी जहां 'विद्धो धर्मो' वाला श्लोक पहिले ही आया है (श्लोक ७७)।

श्रीकृष्ण कौरवों तथा पाण्डवों के परस्पर सौहार्द तथा मैत्री के दृढ़ अभिलाषी थे और इसके लिये धृतराष्ट्र के प्रति उनके ये वचन सुवर्णाक्षरों में अंकित करने

लायक है—अपने पुत्रों से समन्वित धृतराष्ट्र वन है तथा पाण्डु के पुत्र व्याघ्र हैं। व्याघ्र के साथ वन को मत काटो। ऐसा दुर्दिन भी न आवे कि वन से व्याघ्र नष्ट हो जाय—

> वनं राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
> 　　व्याघ्रास्ते वै सञ्जय पाण्डुपुत्राः।
> मा वनं छिन्धि सव्याघ्रं
> 　　मा व्याघ्राऽनीनशन् वनात्॥
>
> —तत्रैव २९ अ०, ५४ श्लो०

व्याघ्र तथा वन का यह दृष्टान्त सचमुच बड़ा ही हृदय-ग्राही और तथ्यपूर्ण है। विना जंगल का व्याघ्र मार डाला जाता है और विना व्याघ्र का जंगल भी काट डाला जाता है। अर्थात् दोनों में उपकार्योपकारक भाव हैं। दोनों के परस्पर सौहार्द से दोनों का मंगल सिद्ध होता है। इस लिये व्याघ्र को वन की रक्षा करनी चाहिए तथा वन को व्याघ्र का पालन करना चाहिए—

> निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम्।
> तस्माद् व्याघ्रो वनं रक्षेद् वनं व्याघ्रं च पालयेत्॥
>
> —तत्रैव श्लोक ५५

कितना सुन्दर है यह दृष्टान्त और कितनी रुचिर है परस्पर उपकार की भावना। परन्तु इनके तर्कपूर्ण उपदेश का पर्यवसान क्या हुआ? दुर्योधन द्वारा श्रीकृष्ण को वन्दी बनाने का उपहासास्पद उद्योग। कृष्ण तो इस अवसर पर अपनी अलौकिक महिमा से अपना विराट रूप दिखला कर बच गये, परन्तु ऐसे सदुपदेशों की उपेक्षा करने वाला कौरवराज दुर्योधन महाभारत युद्ध में भस्म होने से न बच सका। इतनी सद्भावना देख कर भी क्या श्रीकृष्ण के ऊपर युद्ध के प्रेरक होने का लाञ्छन लगाना न्याय्य है? नहीं, कभी नहीं।

(६) श्रीकृष्ण की राजनीतिज्ञता

श्रीकृष्ण अपने युग में राजनीति के—पुस्तकस्था राजनीति के ही नहीं, प्रत्युत व्यावहारिक राजनीति के प्रौढ़ विद्वान थे—इस तथ्य के अंगीकार करने को अनेक प्रबल प्रमाण हैं। शान्तिपर्व के ८१ वें अध्याय का अनुशीलन इस विषय में विशेषतः महत्त्वशाली है। वह अध्याय श्रीकृष्ण के राजनीतिक वैदुष्य, व्यावहारिक पटुता और निःसहाय होने पर भी अकेले ही यादवीय राजनीति के संचालन-पाण्डित्य का पूर्ण परिचायक तथ्य प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक तथ्य है कि यादवों में दो प्रधान कुल थे—वृष्णि तथा अन्धक और दोनों का गणतन्त्र राज्य सम्मिलित गणतन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित था। इस गणतन्त्र के दो मुख्य

'अध्यक्ष', (आजकल की भाषा में प्रेसिडेन्ट) थे उग्रसेन तथा श्रीकृष्ण। वृद्ध होने के कारण उग्रसेन अपने राजनीतिक कार्य के निर्वाह में उतने जागरूक नहीं थे, फलतः उस गणतन्त्र के संचालन का पूरा उत्तरदायित्व श्रीकृष्ण के ऊपर ही अकेले था। अपने एकाकीपन तथा राजनीतिक संघर्ष का विवरण देकर श्रीकृष्ण ने नारदजी से उपदेश की प्रार्थना की है। वृष्णि कुल की ओर से उस लोकसभा में आहुक नेता थे तथा अन्धक कुल की ओर से अक्रूर। दोनों में अपने-अपने स्वार्थ के लिए निरन्तर संघर्ष चला करता था जिसका प्रशमन कर गणतन्त्र को अभ्युदय की ओर ले जाना श्रीकृष्ण की राजनैतिक वैदुषी तथा व्यावहारिता के लिए भी एक चुनौती थी। इसी की चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण के वचन कितने मर्मस्पर्शी तथा तथ्यपूर्ण हैं—

> **दास्यमैश्वर्यभावेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्।**
> **अर्धभोक्तास्मि भोगानां वाक्-दुरुक्तानि च क्षमे ॥ ५ ॥**
> **बलं संकर्षणे नित्यं सौकुमार्यं पुनर्गदे।**
> **रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ॥ ७ ॥**
> **सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामुने।**
> **नैकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्य पराजयम् ॥ ११ ॥**

नारदजी महाराज, मैं अपनी दुरवस्था की बात क्या कहूँ आपसे? मैं कहने के लिए तो ईश्वर (शासक) हूँ, परन्तु वस्तुतः मैं अपने दायादों की चाकरी करता हूँ। अपने राजकार्य में एकान्त असहाय हूँ। मेरे भाई तथा पुत्र दोनों ही अपनी राह चलते हैं, मुझे सहायता देने की उन्हें चिन्ता ही नहीं। मेरे अग्रज संकर्षण (बलराम) में बल है[1], मेरा अनुज गद तो सुकुमारता तथा

---

१. महाभारत-युग में चार वीर महाबलशाली माने जाते थे—इसी क्रम से बलराम, भीम, मद्रराज शल्य तथा मत्स्यराज का सेनानी कीचक, परन्तु इन चारों में भी बलरामजी सब से अधिक बलिष्ठ थे। उन्होंने गदायुद्ध में भीम को भी परास्त किया था। श्रीकृष्ण के कथन का ध्वन्यर्थ यह भी प्रतीत होता है कि शारीरिक बल से सम्पन्न होने से वे राजकाज में विशेष सहायता देने के योग्य भी नहीं है। महाभारत के श्लोक इस विषय में ध्यातव्य हैं—

> साम्प्रतं मानुषे लोके सदैत्य-नर-राक्षसे।
> चत्वारस्तु नरव्याघ्रा बले शक्रोपमा भुवि ॥
> उत्तमप्राणिनां तेषां नास्ति कश्चिद् बले समः।
> बलदेवश्च भीमश्च मद्रराजश्च वार्यवान् ॥
> चतुर्थः कीचकस्तेषां पंचमं नानुशुश्रुम।
> अन्योन्यान्तरबलाः परस्परजयैषिणः ॥
> × × ×
> येन नागायुतप्राणोऽसकृद् भीमः पराजित. ॥

कोमलता का (नजाकत का) जीवित रूप है। मेरा ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्न अपने अलौकिक रूप पर मतवाला बना फिरता है। कहिए मेरी असहायता का क्या कहीं अन्त है। आहुक तथा अक्रूर की राजनीतिक कूट चालों से तथा आपसी संघर्ष से मैं और भी चिन्तित और व्यग्र रहता हूँ। दोनों को शान्त रखने का मैं यथावत् प्रयत्न करता हूँ। मेरी दशा तो दो जुवाड़ी पुत्रों वाली उस माता के समान है (जिसके दोनों पुत्र आपस में जुआ खेलते हैं और एक दूसरे को हटाने के चिन्ता में लगा रहता है) जो दोनों का भला चाहती है। फलतः न तो वह एक का जय चाहती है और न दूसरे का पराजय।

'कितवमाता' की यह उपमा कितनी सुन्दर तथा अर्थाभिव्यञ्जक है। उसे दोनों पुत्रों का मंगल अभीष्ट है। फलतः वह न तो एक के जय की अभिलाषिणी है और न दूसरे के पराजय की। यह उपमा श्रीकृष्ण के राजनीतिक-चिन्ताग्रस्त जीवन के ऊपर भाष्यरूपा है। यह श्रीकृष्ण की ही अनुपम राजनीतिमत्ता थी कि इस वृष्ण्यन्धक संघ ने इतने दिनों तक अपना प्रभुत्व भारत के पश्चिमी प्रान्त में बनाये रखा।

महाभारत युद्ध के प्रधान सूत्रधार होने से भी श्रीकृष्ण की कूटनीतिज्ञता का परिचय अनुमेय है। उन्होंने अपने मुख से भी इसका परिचय तथा संकेत स्थान-स्थान पर किया है।

> मयानेकैरुपायैस्तु मायायोगेन चासकृत्।
> हतास्ते सर्व एवाजौ भवतां हितमिच्छता ॥
> यदि नैवंविधं तात, कुर्यां जिह्ममहं रणे।
> कुतो वो विजयो भूयः कुतो राज्यं कुतः सुखम् ॥
>
> —शल्यपर्व ६१।६३-६४

श्लोकों का तात्पर्य है कि भीष्म, द्रोण, कर्ण और भूरिश्रवा भूतल पर अतिरथी के नाम से विख्यात थे। माया युद्ध का आश्रय लेकर ही मैंने अनेक उपायों से उन्हें मार डाला है। यदि कदाचित् युद्ध में इस प्रकार माया-कौशल पूर्ण कार्य नहीं करता, तो फिर आपको विजय कैसे प्राप्त होती? राज्य कैसे हाथ में आता और सुख कैसे मिल पाता। यह नई बात नहीं है। देवों ने भी प्राचीन काल में ऐसा ही आचरण किया था। यह मार्ग सज्जनों के द्वारा पूर्वकाल में समादृत हुआ है और इसके करने में मेरा कोई भी दोष नहीं है—

> पूर्वैरनुगतो मार्गो देवैरसुरघातिभिः।
> सद्भिश्चानुगतः पन्थाः स सर्वैरनुगम्यते ॥
>
> —शल्यपर्व ६१।६८

उपसंहार

यहां श्रीकृष्णचन्द्र के राजनीतिक जीवन के महत्त्वपूर्ण स्वरूप को दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। उनके आध्यात्मिक उपदेष्टा का रूप स्वतः विख्यात है। अतः उसे यहाँ देने की आवश्यकता नहीं। महाभारत के सन्देह-हीन स्थलों का उद्धरण देकर दिखलाया गया है कि श्रीकृष्ण उस युग के महामहिमाशाली राजनीतिक नेता थे, जिन्होंने कौरवों को पूर्णतया समझा कर पाण्डवों का हित साधन करते हुए भी युद्ध रोकने का यथावत् प्रयत्न किया, परन्तु कौरवों के दुराग्रह तथा हठधर्मिता से वे अपने इस सार्वभौम मंगलकारी कार्य में कृतकार्य न हो सके। राजनीतिक दूरदर्शिता में, भारतीय राष्ट्र की मंगलचिन्तना में तथा राष्ट्र को धर्ममार्ग में अग्रसर करने में श्रीकृष्ण की वैदुषी अनुपमेय थी—इसमें सन्देह करने के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं। व्यासजी का यह कथन 'इतिहास' के पृष्ठों ने सदा-सर्वदा गूंजता रहा है और भविष्य में गूंजता रहेगा—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

—गीता १८।७८

षष्ठ परिच्छेद

वेद और पुराण

वेद और पुराण के पारस्परिक सम्बन्ध तथा प्रामाण्य का विचार पुराण-ग्रन्थों में तथा दर्शन-ग्रन्थों में वर्तमान पाया जाता है। पुराण में वेदार्थ का उपबृंहण अनेकशः प्रतिपादित किया गया है। इस कथन की पुष्टि में श्री जीवगोस्वामी ने 'पुराण' की व्युत्पत्ति एक नये प्रकार से निष्पन्न की है। वह निष्पत्ति है—पूरणात् पुराणम् अर्थात् जो (वेदार्थ का) पूरण करता है वह 'पुराण' कहलाता है। इस व्युत्पत्ति का व्यङ्ग्यार्थ अतिशय गम्भीर है। लोक में यह बहुशः अनुभूत है कि जिसके द्वारा किसी वस्तु का पूरण किया जाता है, उन दोनों में एकरसता, अनन्यता रहती है। यदि सोने के अपूर्ण कंकन को पूर्ण करने का अवसर आता है, तो यह पूरण सोने के ही द्वारा किया जाता है, लाह के द्वारा तो कभी नहीं, क्योंकि सोना और लाह दो भिन्नजातीय पदार्थ हैं। वेद और पुराण का भी सम्बन्ध इसी प्रकार का है। वेद के अर्थ का उपबृंहण या पूरण वेदभिन्न वस्तु के द्वारा कभी नहीं किया जा सकता। इस व्युत्पत्तिलभ्य युक्ति से पुराण की वेदता सिद्ध होती है।[1] 'पुराण' स्वयं अपने आपको वेद के समकक्ष ही समझता है। स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड का कथन[2] है कि "सृष्टि के आदि में देवों के पितामह ब्रह्मा ने उग्र तप किया जिसके फलरूप षडङ्ग, पद तथा क्रम से सम्पन्न वेदों का आविर्भाव हुआ। उसके अनन्तर सर्वशास्त्रमय पुराण का भी आविर्भाव सम्पन्न हुआ जो नित्यशब्दमय, पुण्यदायक और विस्तार में एक सौ करोड़ श्लोकों वाला था। यह पुराण भी वेद के समान ही ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ"। श्रीमद्भागवत

---

१. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। इति पूरणात् पुराणमिति चान्यत्र। न चावेदेन वेदस्य वृंहणं संभवति, नहि अपूर्णस्य कनकवलयस्य त्रपुणा पूरणं युज्यते॥

—भागवत सन्दर्भ पृ० १७ (कलकत्ता सं०)

१. यदा तपश्चचारोग्रममराणां पितामहः।
आविर्भूतास्ततो वेदाः सषडङ्गपदक्रमाः।
ततः पुराणमखिलं सर्वशास्त्रमयं ध्रुवम्।
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटि प्रविस्तरम्।
निर्गतं ब्रह्मणो वक्त्रात्………॥

—प्रभास खण्ड

के तृतीय स्कन्ध में भी यह बात प्रकारान्तर से कही गई है। भागवत का कथन है—ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व ब्रह्मा के पूर्वादि मुखों से क्रमशः उत्पन्न हुए। ब्रह्मा ने पञ्चम वेदरूप इतिहास-पुराण को अपने चारों मुखों से उत्पन्न किया"। यहां इतिहास-पुराण के लिए साक्षात् रूप से 'वेद' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह तथ्य—पुराण की वेदरूपता—पुराण ही प्रकट नहीं करते प्रत्युत बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४।१०) ने बहुत पहिले ही वेदों के सदृश ही इतिहास और पुराण को महान् भूत—ब्रह्म का निःश्वास होने की बात कही है[2]। फलतः पुराण वेद के सदृश ही स्वतः प्रमाण है।

पुराणों का वेद और तन्त्र के साथ कैसा सम्बन्ध है? इस प्रश्न को लेकर विद्वानों की भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं। सनातनी विद्वानों की दृष्टि में पुराण वेदों के समान ही मान्य तथा अपौरुषेय हैं तथा तन्त्रों के सदृश ही प्रामाणिक हैं। इस मत के प्रदर्शन के लिए श्री करपात्री जी के विवेचन का एक अंश 'सिद्धान्त' (षष्ठ वर्ष, १९४५ पृ० १८-१९) से यहाँ उद्धृत किया जाता है।

पुराणों की वेदता

'बृहन्नारदीय पुराण' में बतलाया गया है कि श्री रघुनाथचरित रामायण की तरह सभी पुराण शतकोटिप्रविस्तर हैं। वहां का वचन है—

> "हरिर्व्यासस्वरूपेण जायते च युगे युगे।
> चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा॥
> तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोके निर्दिशत्यपि।
> अद्यापि देवलोके तु शतकोटिप्रविस्तरम्॥"

इससे भूलोक में चार लाख का और देवलोक में सौ करोड़ का विस्तार पुराणों का जानना चाहिए। 'वेद' ही की तरह 'पुराण' भी अनादि हैं, क्योंकि वेदों ही की तरह व्यासरूपधारी भगवान् के द्वारा इनका भी आविर्भाव ही सुना जाता है। तभी तो इतिहास-पुराणों का 'वेदोपबृंहकत्व' उपपन्न है। सोने के 'कड़े' में यदि कोई कमी होगी, तो क्या वह 'त्रपु' (पीतल) से पूरी होगी? पूरण करने के कारण ही उनका नाम पुराण है—"पूरणाच्च पुराणम्"।

---

१. इतिहासपुराणानि पंचमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥

—भाग० ३।१२।३९

२. एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराणम्।

बृ० उ० २।४।१०

जैसे असुवर्ण के द्वारा सुवर्ण की पूर्णता सम्भव नहीं है, वैसे ही अवेद के द्वारा वेद की पूरणा अथवा उपबृंहण सम्भव नहीं है। अतएव **'पुराणं वेदसंमितम्'** यह उक्ति सङ्गत है। इनका वेदत्व स्पष्ट ही है। इतिहास और पुराण के द्वारा वेद का उपबृंहण करना चाहिए—**"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।"** इसीलिए इतिहास और पुराण को पाँचवाँ वेद कहा जाता है—**"इतिहासः पुराणश्च पञ्चमो वेद उच्यते।"** 'बृहदारण्यक' में—**"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेद"** इत्यादि श्रुति में **'इतिहासः पुराणम्'** ऐसा भी पाठ है। यहाँ प्रसिद्ध इतिहास, पुराण को छोड़कर दूसरा अर्थ नहीं लिया जा सकता, क्योंकि वैसा करने से प्रसिद्धि-विरोध होगा। साथ ही नित्य ब्रह्मयज्ञ में इतिहास, पुराण का पाठ भी वेद की तरह उनके प्रामाण्य को बतलाता है। कहा जा सकता है कि यदि यही बात है, वेद और पुराण की एकता ही है, तो वेद से उसका भिन्न निर्देश क्यों हुआ है? इसका उत्तर यही है कि स्वर और क्रम का वैलक्षण्य ही इसका मूल है। दोनों ही (वेद, पुराण) अनादि हैं, दोनों ही प्रतिकल्प में आविर्भूत होते हैं—इन अंशों में समानता होने पर भी स्वर और क्रम के वैलक्षण्य से ही परस्पर भेद उपपन्न है। उसी पुराण में एकादशी व्रत के प्रसङ्ग में बतलाया गया है कि एकादशी व्रत वेद में वर्णित नहीं है, अतः वैदिकों को वह न करना चाहिए। इस आक्षेप पर यही समाधान दिया गया है कि वेद में जो सुस्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं होता, वह भी पुराणोक्त होने से ग्राह्य है ही, क्योंकि वेद में ग्रह-संचार, कालशुद्धि, तिथियों की क्षय-वृद्धि और पर्व, ग्रह आदि का निर्णय नहीं किया गया। परन्तु इतिहास, पुराणों के द्वारा यह निर्णय पहले से ही किया हुआ है। जो बात वेदों में नहीं मिलती, वह स्मृति में लक्षित हो जाती है, जो दोनों में नहीं उपलब्ध होती, उसका पुराणों में वर्णन मिल जाता है। शिवजी पार्वती से कहते हैं कि मैं वेदार्थ की अपेक्षा पुराणार्थ को अधिक (विशद) मानता हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुराण में वेद अच्छी तरह प्रतिष्ठित हैं—

> **"न वेदे ग्रहसञ्चारो न शुद्धिः कालबोधिनी।**
> **तिथिवृद्धिक्षयो वापि न पर्वग्रहनिर्णयः॥**
> **इतिहासपुराणैस्तु कृतोऽयं निर्णयः पुरा।**
> **यन्न दृष्टं हि वेदेषु तत्सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ॥**
> **उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत्पुराणैः प्रगीयते।**
> **वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने॥**
> **वेदाः प्रतिष्ठिताः सम्यक् पुराणे नात्र संशयः।"**

(उत्तरार्द्ध २४ अध्याय)।

कहीं तो श्रुति-स्मृति को दो नेत्र और पुराण को हृदय वतलाया गया। एक नेत्र से हीन मनुष्य काना और दोनों से हीन अन्धा कहा गया है, परन्तु पुराण से हीन तो हृदयशून्य है, काना और अन्धा उसकी अपेक्षा कहीं अच्छे हैं—

"श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्।
एकेन हीनः काणः स्याद् द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्त्तितः॥
पुराणहीनाद् हृच्छून्यात्काणान्धावपि तौ वरौ॥"

इतिहास—पुराण से हीन के लिए हृदयहीनता कही गयी, जो काणत्व और अन्धत्व से ज्यादा पापमयी है।

पुराणों की तन्त्रमूलकता

'देवीभागवत' के ग्यारहवें स्कन्ध के आरम्भ में, श्रुति और स्मृति के विरोध में श्रुति की प्रवलता और स्मृति एवं पुराण के विरोध में स्मृति की प्रबलता कही है—"श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी। तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा।" वहां पुराणों के वेदमूलकत्व की तरह उनका तन्त्रमूलकत्व भी हेतुत्व से उपन्यस्त हुआ है। कहा जा सकता है कि पुराणों के तन्त्रमूलकत्व होने पर भी उनका प्रावल्य क्यों न हो, क्योंकि तन्त्र भी तो लीलाविग्रहधारी विष्णु भगवान् के द्वारा ही प्रोक्त हैं। वल्कि वेद तो घुणाक्षरन्याय से श्वास-प्रश्वास की तरह अबुद्धिपूर्वक उत्पन्न हुए, इसलिए उनकी अपेक्षा सर्वज्ञबुद्धिपूर्वक निर्मित तन्त्रों का ही प्रावल्य युक्त प्रतीत होता है। परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि वेदाविरोधी तन्त्रों के प्रामाणिक होने पर भी वेदविरुद्धों के अप्रामाण्य से तन्मूलक पुराणों का श्रुतिमूलक स्मृति की अपेक्षा दौर्बल्य है। निःश्वास की तरह अबुद्धिपूर्वक प्रकट वेदों के सामने वुद्धिपूर्वक बने तन्त्रों की प्रवलता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वेदों के अबुद्धिपूर्वक होने से ही उनकी अपौरुषेयता है और इसी कारण वे समस्त पुन्दोषशङ्काकलङ्कपङ्क से विरहित हैं। तन्त्रों में यह बात नहीं है, वे बुद्धिप्रभव होने के कारण सम्भावित भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि पुरुषाश्रित दोषों से दूषित हैं। कहा जा सकता है कि जीवों की रचना में भ्रमादि दोष हो सकते हैं, तन्त्र तो सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा विरचित हैं, उनमें भ्रमादि दोषों की सम्भावना नहीं हो सकती, अतः उनका स्वतःप्रामाण्य स्पष्ट ही है। किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जिस युक्ति से तन्त्रकारों की सर्वज्ञता, परमेश्वरता सिद्ध करना चाहेंगे, उसी युक्ति से बाह्य भी अपने आगमकारों को सर्वज्ञतादिसाधनसम्पन्न और उनके आगमों को प्रामाणिक कहेंगे। कोई भी ऐसा विशेष हेतु हो नहीं सकता, जिससे तन्त्रकारों की ही सर्वज्ञता सिद्ध हो, उन्हीं की रचनाओं का

प्रामाण्य हो और अन्यान्यों का नहीं। बिना विशेष हेतु के अमुक सर्वज्ञ है, अमुक असर्वज्ञ; यह निर्णय न हो सकेगा। कथञ्चित् सबकी सर्वज्ञता मान भी ली जाय, तो फिर सर्वज्ञों की उक्तियों में परस्पर विरोध न होना चाहिए, क्योंकि अभ्रांतों को एक ही रज्जुखण्ड में सर्प, धारा, माला आदि विशेषित विविध ज्ञान सम्भव नहीं हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं है, आत्मादि पदार्थों के निरूपण-प्रसङ्ग में परस्पर की उक्तियों का विरोध उपलब्ध होता है। ऐसी स्थिति में क्यों नहीं सुन्दोपसुन्दन्याय से यह सर्वज्ञता का व्यापादक होगा? इधर अपौरुषेय वेद के प्रामाण्य से पशुपति आदि तन्त्रकारों की सर्वज्ञता सिद्ध हो सकेगी, तत्पश्चात् तंत्रों का प्रामाण्य भी। तब उपजीव्य होने से वेदों का ही मुख्य प्रामाण्य सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति मे जो तन्त्र वेदानुकूल होंगे, उनका प्रामाण्य होने पर भी स्पष्ट वेदवाक्यविरुद्ध उनका अप्रामाण्य ही है। इस प्रकार वैसे तन्त्रमूलक पुराणों का श्रुतिमूलक स्मृति की अपेक्षा दौर्बल्य और श्रुतिमूलक तन्त्रोपजीवियों का भी साक्षात् श्रुतिमूलक स्मृति की अपेक्षा दौर्बल्य है। धर्म चोदनैकवेद्य है, पौरुषेय वाक्य का वहां प्रामाण्य नहीं, योगियों और ईश्वर के प्रत्यक्ष का वह अविषय है, क्योंकि वह **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" "शब्दात्"** इत्यादि अपौरुषेय शब्दमात्र से ही समधिगम्य है। योग्य ही सबके दर्शन से 'सर्वदर्शिता" है — अयोग्य से नहीं। अदाह्य के अदहन से अग्नि में सर्वदाहकत्व अनुपपन्न नहीं समझा जाता। **'भगवन्नामकौमुदीकार'** आदि तो **'पञ्चमो वेद उच्यते'** इस पुराणों के साक्षात् वेदत्व श्रवण से तन्मूलकत्व की अनुपपत्ति द्वारा स्मृति की अपेक्षा भी पुराणों के प्राबल्य को अधिक मानते हैं। 'शारीरक-मीमांसा' और उसके भाष्यकार आदि पुरुषसम्बन्ध से पौरुषेय होने के कारण पुराणों का स्मृतित्व ही स्वीकार करते हैं।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि **"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे", "ऋग्वेदोऽग्नेरजायत"** इस रूप में वेदों का पुरुषसम्बन्ध सुना जाता है, इसलिए इनका भी अपौरुषेयत्व क्यों माना जाय? क्योंकि—**"वाचा विरूपनित्यया", "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा"** इत्यादि वचनों के अनुरोध से सम्प्रदायप्रवर्त्तनलक्षण आविर्भाव ही उपर्युक्त 'जनि' श्रुत्यर्थ है। प्रमाणान्तर से अर्थ को न प्राप्तकर सुप्तप्रतिबुद्धन्याय से परमेश्वर के ज्ञान, कर्म और संस्कारातिशय से अथवा पुरुषान्तर के पूर्वकल्पीय वेदस्मरण से सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन हो सकता है। गुरु से पढ़े गये और प्रमाणान्तर से अर्थोपलब्धि द्वारा न विरचित मन्त्रों का पुरुषसम्बन्ध नहीं है। उतने पुरुषसम्बन्ध से उनका पौरुषेयत्व नहीं कहा जा सकता। धर्म वेदप्रणिहित है, उसके विपरीत अधर्म है। वेद साक्षात् स्वयम्भू नारायण हैं, ऐसा सुनते आये हैं। वेद ईश्वरात्म हैं, उसमें बड़े-बड़े विद्वानों को मोह प्राप्त होता है—

"वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः ।
वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम ।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः" ।

इत्यादि वचनों से पुराणों में ही वेदों का अपौरुषेयत्व, नित्यत्व और स्वतः-प्रामाण्य कहा गया है । किञ्च जिस योगज प्रभाव से पुराणार्थ का साक्षात्कार करके पुराण बनाये गये हैं, वह भी वेदैकसमधिगम्य ही है । इससे भी वेदों का पुराणोपजीव्यत्व है ।

पुराणों से वेदों का वैलक्षण्य

कहा जा सकता है कि तब तो पुराणों का भी नित्यत्व और आविर्भूतत्व पुराणों में सुना जाता है, अतः उन्हें भी सर्वथा अपौरुषेय ही क्यों न माना जाय ? परन्तु यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'श्रीमद्भागवत' आदि में समाधि के द्वारा अर्थ (वस्तु) को प्राप्त करके विरचितत्व श्रुत है, अतः यहां दृढ़ कर्तृस्मरण सम्भव है । सम्प्रदाय की अविच्छिन्नता के साथ अस्मर्यमाणकर्तृकत्व का अभाव होने से पुराणों में अपौरुषेयत्व नहीं है । वेदोपबृंहक पुरुणार्थ के, जो अनादि परम्परागत हैं, अनादि होने पर भी समाधि आदि के द्वारा उनकी अभिव्यञ्जक वर्ण-पद-वाक्यानुपूर्वी का अर्थोपलब्धिपूर्वक विरचितत्व होने से भेद भी सम्भव है । परन्तु वेद में यह बात नहीं है, वहां तो पुरुषबुद्धिपूर्वकरचितत्व का अभाव होने से आनुपूर्वी भी प्रत्येक कल्प में एकरस होती है । यह भी पुराणों की अपेक्षा वेदों का वैलक्षण्य है । इसीलिए पुराणों को स्मृतिकोटि में गिना गया है । इस पर "स्मरन्ति च" (३-१-३) "स्मर्यतेऽपि च लोके" (३-१-२) "स्मर्यतेऽपि च लोके" (३-१-१९) इस व्याकरणसूत्र पर "अपि च स्मर्यते लोके द्रोणधृष्टद्युम्नप्रभृतीनां सीताद्रौपदीप्रभृतीनामयोनिजत्वम्" यह भाष्य है । शाङ्करभाष्य में भी कहा गया है कि "सप्त नरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोगभूमित्वे स्मर्यन्ते पौराणिकैः" । इस प्रकार पुराणों का स्मृतित्व व्यवस्थित हो जाने पर स्मृति की अपेक्षा उनको दौर्बल्य नहीं कहा जा सकता । विरोध होने पर प्रत्यक्ष वेदवाक्य के सहकार और असहकार की आलोचना करके बलाबल का निर्द्धारण करना चाहिए अथवा "यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्" इस तरह श्रुतिप्रशस्त मनुवचन के अनुरोध से स्मृति और पुराणों के विरोध का परिहार लेना चाहिए ।

पुराण—प्रामाण्य पर विचार

पुराण के प्रामाण्य विषय में तार्किकों का मत इससे नितान्त पृथक् है। पुराण का प्रामाण्य दर्शनकारों ने विशेषरूप से विवेचित किया है। वेद का प्रामाण्य तो स्वतः सिद्ध माना जाता है। वेद का जो भी कथन है वह प्रामाण्य से सम्पन्न है। अवश्य ही वेद के कथन को मीमांसकों ने दो भागों में विभक्त किया है—विधि तथा अर्थवाद। **अर्थवाद** से तात्पर्य उन प्रशंसात्मक वाक्यों से है जिनमें किसी अनुष्ठान विशेष की स्तुति की गई है। मीमांसा के अनुसार विधि ही वेद-वाक्यों का परिनिष्ठित तात्पर्य है, अर्थवाद तो विधिवाक्यों का अंगभूत होकर अपना प्रामाण्य धारण करता है। एवं वेद का स्वतः प्रामाण्य है—अर्थात् उसके द्वारा प्रतिपादित वस्तु की किसी अन्य के प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं रहती। स्मृति का प्रामाण्य वेदमूलक है।

पुराण के प्रामाण्य के विवेचन के अवसर पर वात्स्यायन रचित **न्यायभाष्य** का भी यह कथन ध्यान देने योग्य है। वात्स्यायन का कथन है[1]—

"मन्त्रब्राह्मण के जो द्रष्टा तथा प्रवक्ता (व्याख्यान करने वाले) ऋषि-मुनि हैं वे ही इतिहास, पुराण तथा धर्मशास्त्र के भी द्रष्टा व्याख्याता हैं। अर्थात् द्रष्टा तथा व्याख्याता की दृष्टि से साहित्य के इन तीनों अंगों में समानता का ही भाव विद्यमान है। तब इनका प्रामाण्य भी क्या एक ही प्रकार है? वात्स्यायन का उत्तर है—नहीं, इन तीनों के विषय पृथक् रूप मे व्यवस्थित हैं और उन्हीं के प्रतिपादन में इनका विषयानुसार प्रामाण्य है। मन्त्रब्राह्मण का विषय है—यज्ञ। इतिहास-पुराण का है लोकवृत्त (संसार का चरित्र)। धर्मशास्त्र का विषय है लोक-व्यवहार का व्यवस्थापन (अर्थात् लोक व्यवहार किस प्रकार सुव्यवस्थित रूप से चलेगा—उन नियमों का तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन)। फलतः वात्स्यायन की दृष्टि में इन विशिष्ट विषयों में ही इन ग्रन्थों का प्रामाण्य है।" तात्पर्य यह है कि इतिहास-पुराण, वेद तथा धर्मशास्त्र का परिपूरक है। इन दोनों के द्वारा अव्याख्यात तत्त्व की वह व्याख्या करता है। जिस प्रकार वैदिक धर्म के स्वरूप जानने के लिए वेद की अपेक्षा है और धर्मशास्त्र की आवश्यकता है, उसी प्रकार इतिहास-पुराण की भी। इसीलिए

---

१. "य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते, खल्वितिहासपुराणस्य-धर्मशास्त्रस्य चेति विषयव्यवस्थापनाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम्। यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः"
'समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः' न्यायसूत्र ४।१।६२ पर वात्स्यायनभाष्य।

वात्स्यायन इतिहास-पुराण को प्रमाण मानते हैं लोकवृत्त के ज्ञान के ही लिए सही; पर मानते तो हैं।

इसी प्रसंग में कुमारिल ने इतिहास-पुराण के प्रामाण्य पर विशद विचार किया है जिसका सारांश यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

कुमारिल के कथन का सारांश

सब स्मृतियों का प्रामाण्य उस प्रयोजन के कारण है जिसकी सिद्धि वे करती हैं। स्मृतियों का प्रयोजन द्विविध प्रकार से लक्ष्य होता है। स्मृतियाँ धर्म तथा मोक्ष से सम्बद्ध विषय के लिये प्रमाणभूत हैं, क्योंकि वह वेद के ऊपर आश्रित रहता है। स्मृतियों में अर्थ (धन) तथा सुख विषयक जो तात्पर्य है वह भी प्रमाणभूत है, क्योंकि वह लोक-व्यवहार के ऊपर आश्रित रहता है। इस प्रकार दोनों में एक प्रकार का पार्थक्य अवश्य मानना चाहिए। पुराण तथा इतिहास के उपदेश-वाक्यों की भी यही गति है—इस शैली से उन वाक्यों के प्रामाण्य का निर्णय करना चाहिए। उपाख्यानों की व्याख्या अर्थवाद के समान ही करनी चाहिए अर्थात् जिस प्रकार वैदिक अर्थवाद का प्रामाण्य निर्णीत किया गया है मीमांसा-ग्रन्थों में, वह शैली उपाख्यानों की व्याख्या के विषय में अपनानी चाहिए। पुराणों में पृथ्वी के विभागों का जो वर्णन है उसका उद्देश्य धर्म तथा अधर्म के साधनभूत फलों को भोगने के लिए उपयुक्त स्थानों का निर्देश है। आशय है कि तीर्थस्थलों में क्रियमाण कार्य धर्म का सम्पादन करता है तथा दुष्ट स्थानों का कर्म अधर्म का सम्पादन करता है—इन विषयों के यथार्थ ज्ञान के लिए भुवनकोष का वर्णन पुराणों में किया जाता है। इस वर्णन में से कुछ तो अनुभव के ऊपर आश्रित रहता है और कुछ वेद के ऊपर। पुराणों का वंशानुक्रमण ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जाति के गोत्रों के ज्ञान के लिए है और यह भाग दर्शन तथा वेद, लोकानुभव तथा श्रुति, दोनों के ऊपर आश्रित रहने से प्रामाण्य है। पुराणों में देश तथा काल की परिगणना की जाती है जिसका उद्देश्य लोक तथा ज्योतिःशास्त्र के व्यवहार की सिद्धि है और पुराणों का यह अंश यथार्थ अनुभव, गणित, सम्प्रदाय तथा अनुमान के ऊपर आश्रित होने से प्रमाण माना गया है। भविष्यकाल में कौन-कौन सी वस्तुयें होने वाली हैं (भाविकथन) वेद के ऊपर आश्रित है, इसका कारण यह है कि युगों का स्वभाव अनादि काल से प्रवृत्त होता है। इसके अनुसार प्राणी धर्म तथा अधर्म का अनुष्ठान किया करता है जिसके फल के विकार की विचित्रता का ज्ञान होता है। कुमारिल के इस सारगर्भित वाक्य का तात्पर्य है कि पूर्वकाल से युगधर्म के स्वभाव के कारण मानव के कार्यों का विचित्र फल देखने को मिलता है।

इसी के ज्ञान के आधार पर पुराणों का 'भाविकथन' वाला अंश चरितार्थ होता है।[1]

इस अनुशीलन से पुराणों के वर्ण्यविषय तथा प्रामाण्य का विवेचन भली-भांति होता है :—

(१) वर्ण्यविषय की दृष्टि से कुमारिल की मान्यता के अनुसार इतिहास—पुराणों में कथानक, पृथ्वी के भूगोल, वंश की नामावली तथा उनका चरित, काल की गणना तथा भविष्यकाल में होने वाली घटना—इन सबों का वर्णन नियमितरूप से वर्तमान रहता है।

(२) प्रामाण्य के विषय में कुमारिल का मत है कि वेदानुसारी होने से पुराणों का प्रामाण्य है अर्थात् पुराण स्वतः प्रमाण न होकर वेदमूलक होने के हेतु प्रमाण माना जाता है अर्थात् उसका प्रामाण्य परतः है ठीक स्मृतियों के समान। इसीलिए पुराण का वेदविरुद्ध अंश निर्मूलक होने के कारण से कथमपि प्रामाण्य नहीं रख सकता। कुमारिल के मत की ही पुष्टि आचार्य शंकर ने अपने ग्रन्थों में की है।

पुराण–प्रामाण्य और श्री शंकराचार्य

आदि शंकराचार्य के पुराण-विषयक मत जानने के लिए उनके शारीरक भाष्य का अनुशीलन कार्यसाधक है। इसमें उन्होंने पुराणों के वर्ण्यविषय तथा वैशिष्ट्य का वर्णन भली भांति किया है, यद्यपि वे किसी विशिष्ट पुराण का नाम अपने भाष्य में निर्दिष्ट नहीं करते। पुराण के वर्ण्य विषयों की आचार्यीय समीक्षा अन्यत्र दी गई। यहाँ उनके पुराण-प्रामाण्य-विषयक मत का संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. तेन सर्वस्मृतीनां प्रयोजनवती प्रामाण्यसिद्धिः। तत्र यावद्धर्ममोक्ष-सम्बन्धि तद् वेद–प्रभवम्। यत्त्वर्थसुखविषयं तल्लोकव्यवहारपूर्वकमिति विवेक्तव्यम्। एषैव इतिहासपुराणयोरप्युपदेश–वाक्यानां गतिः। उपाख्यानानि अर्थवादेषु व्याख्यातानि। यत्तु पृथिवी विभाग कथनं तद्धर्माधर्मसाधनफलोपभोग-प्रदेशविवेकाय किञ्चिद् दर्शनपूर्वकं किञ्चिद् वेदमूलम्। वंशानुक्रमणमपि ब्राह्मण-क्षत्रिय-जाति-गोत्रज्ञानार्थं दर्शनस्मरणमूलम्। देशकाल परिणाममपि लोक-ज्योतिः-शास्त्रव्यवहार–सिद्ध्यर्थं दर्शन-गणित-सम्प्रदानानुमानपूर्वकम्। भाविकथन-मपि त्वनादिकालप्रवृत्तयुगस्वभावधर्माधर्मानुष्ठान–फलविपाक–वैचित्र्यज्ञानद्वारेण वेदमूलम्॥

—जै० सू० (धर्मस्य शब्दमूलत्वात् अशब्दमनपेक्षं स्यात्—१।३।१ सूत्र) का तन्त्रवार्तिक।

शंकराचार्य का मत है—**समूलमितिहासपुराणम्**—अर्थात् इतिहास और पुराण समूल है, निर्मूल नहीं। और इस तथ्य की सिद्धि के लिए उन्होंने अनेक युक्तियों और तर्कों का प्रदर्शन किया है। देवों का विग्रह तथा सामर्थ्य के विषय में आचार्य कहते हैं कि इतिहास-पुराण का कथन मंत्र तथा अर्थवाद-मूलक संभावित हो, तो वह भी देवताओं के विग्रह (शरीर-धारण) को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त माना जा सकता है। पुराण का कथन प्रत्यक्षादि मूलक भी है। जो वस्तु आजकल के मानवों को अप्रत्यक्ष है, वह प्राचीनों को प्रत्यक्ष होता था। इसीलिए तो पुराणों में व्यास आदि ऋषियों की देवादिकों के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करने की घटना का अनेकत्र वर्णन उपलब्ध होता है।

शंका—आधुनिक लोगों के समान प्राचीन लोगों को भी देवादिकों के साथ व्यवहार करने का सामर्थ्य नहीं थी। उत्तर—तब तो आप जगत् की विचित्रता का ही निषेध करते हैं। आशय है कि विचित्रता ही संसार का स्वरूप है। **वैचित्र्यं जगत्**। अतः पूर्व शंका का रखना जगत् के इस महनीय रूप के प्रति अनास्था व्यक्त करना है। दृष्टान्त देखिए। आजकल (शंकर के समय में) सार्वभौम क्षत्रिय (सम्राट्) नहीं है, तो क्या प्राचीन काल में सम्राट् का अभाव था? तब तो राजसूय की विधि (जो वेदों में प्रतिपादित है) ही व्यर्थ सिद्ध हो जायगी। आजकल जैसी वर्णाश्रम धर्म में अव्यवस्था वर्तमान है, वैसी ही प्राचीन काल में थी[1]। तब तो व्यवस्था-विधायक शास्त्र ही निष्फल हो जावेगा।

निष्कर्ष—धर्म के उत्कर्ष के कारण प्राचीन लोग देवादिकों के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे। यही कथन ही यथार्थ तथा वास्तव है।

योग का साधक प्रमाण—आचार्य अपने इस निष्कर्ष की पुष्टि में योगशास्त्र का प्रमाण उद्धृत करते हैं—**स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः** (योगसूत्र २।४४) अर्थात् मन्त्र के जप से देवता का सानिध्य तथा उनके साथ संभाषण दोनों उत्पन्न होते हैं। योग अणिमादि सिद्धियों तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति करने वाला होता है—शास्त्र के इस सिद्धान्त को साहसमात्र से कोई

---

१. आचार्य का यह कथन—सार्वभौम क्षत्रिय का अभाव तथा वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था—उनके समय निरूपण के लिए ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। आचार्य शंकर के समय में ये दोनों बातें वर्तमान थीं और भारतीय इतिहास में यह विलक्षणता हर्षवर्धन के पश्चाद् युग में पाई जाती है। फलतः मेरी दृष्टि में आदि शंकर के आविर्भाव का यही युग था—सप्तम शती का उत्तरार्ध। आचार्य के समय निरूपण के लिए द्रष्टव्य मेरा ग्रन्थ—श्रीशङ्कराचार्य (द्वितीय सं०, प्रयाग, १९६३) पृष्ठ ३५–४९।

प्रत्याख्यान नहीं कर सकता। क्योंकि इस विषय में योग की महिमा का प्रतिपादन श्रुति (श्वेताश्वतर उप० २।१२) साक्षात् करती है। अतः श्रुतिसम्मत योग-माहात्म्य में अश्रद्धा किसको हो सकती है? मन्त्र तथा ब्राह्मण के द्रष्टा ऋषियों का सामर्थ्य हमारे जैसे लोगों के सामर्थ्य के साथ क्या कथमपि बराबर किया जा सकता है? नहीं, कभी नहीं। इतिहास-पुराण इन्हीं ऋषियों के सामर्थ्य को वर्णन उनके चरितवर्णन के प्रसंग में करता है। ऐसी दशा में हमें मानना ही पड़ता है—**समूलम् इतिहास-पुराणम्**।

आचार्य शङ्कर का अभिमत सिद्धान्त कुमारिलभट्ट के सिद्धान्तों को अग्रसर करने वाला तथा पोषक हैं। आचार्य का इतिहास-पुराण के वैशिष्ट्य का यह प्रतिपादन कुमारिल के कथन में नये तथ्यों तथा युक्तियों को जोड़ रहा है। तात्पर्य यह है कि वैदिक धर्म के अभ्युदयकारी इन आचार्यों की सम्मति में पुराण [1]**स्मृतिवत्** है—वेदमूलक होने से उसमें प्रामाण्य को स्वीकार करना ही चाहिए।

---

१. शंकराचार्य ने पुराणों के श्लोकों का उद्धरण 'स्मृतिश्च भवति' कह कर दिया है। अर्थात् वे पुराण का प्रामाण्य स्मृति-कोटि में मानते हैं। कालिदास का 'श्रुतेरिवार्थंस्मृतिरन्वगच्छत्', कथन पुराण के ऊपर अक्षरशः घटित होता है। द्रष्टव्य शाङ्करभाष्य १।३।३३।

"इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण सम्भवन्मन्त्रार्थवादमूलकत्वात् प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्। प्रत्यक्षादिमूलमपि संभवति। भवति हि अस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवताभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते। यस्तु ब्रूयादिदानीन्तनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधेत्। इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमक्षत्रियोऽस्तीति ब्रूयात् ततश्च राजसूयादि चोदनोपरुन्ध्यात्। इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान् प्रतिजानीत। ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात्। तस्माद्धर्मोत्कर्षवशात् चिरन्तन-देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते। अपि च स्मरन्ति स्वाध्यायादिष्ट-देवतासंप्रयोग इत्यादि। योगोप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलकः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रत्याख्यापयतिः पृथिव्यप्ते-जोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरमिति। ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मण-दर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं युक्तं तस्मात् समूलमितिहासपुराणमिति" (शारीरक-भाष्यम् १।३।३३)

(२)

पुराणों में वैदिक और पौराणिक मन्त्र

पुराणों में वैदिक अनुष्ठान का ही वर्णन है जो सामान्य जनता के जीवन के साथ सम्बन्ध रखते हैं। श्रौत यज्ञों का तो वर्णन अप्रांसगिक होने से विशेष उपलब्ध नहीं है, परन्तु गृह्य यज्ञों का, देवों के वलि, पूजन तथा हवन का प्रसंग ही प्रचुरतया उपलब्ध होने से तत्तत् प्रसङ्ग में वैदिक मन्त्रों का बहुशः उल्लेख किया गया है—कहीं प्रतीकरूप से और कहीं पूर्णरूप से। कभी-कभी तीर्थों के वर्णन में पवित्रता-सूचनार्थ प्राचीन वैदिक आख्यान भी दिये गये हैं और साथ ही साथ वैदिक मन्त्र भी दिये गये हैं जो वैदिक संहिताओं में स्थान-स्थान पर विभिन्न देवों के प्रसंग में उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए पुराणों में उद्धृत कतिपय वैदिक मन्त्रों का उल्लेख किया जा रहा है।

ब्रह्मपुराण में :

(१) गौतमी नदी (गोदावरी) से सम्बद्ध आत्रेय तीर्थ के प्रसंग में आत्रेय ने इन्द्र के स्वरूप का परिचय दिया है 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (अ० १४०।२२–२३ में पूरा मन्त्र उद्धृत है) मन्त्र के द्वारा। यह प्रख्यात 'स जनास' सूक्त का आदिमन्त्र है (ऋग्वेद २।१२।१)।

(२) ब्रह्मपुराण के १७४ अ० १४–१७ श्लोक इन्द्र की स्तुति में प्रयुक्त हैं। ये ऋग्वेद में ९।११४।३, ४,२ तथा ९।११२।३ मन्त्र हैं। पुराण में पूरा मन्त्र उद्धृत किया गया है। इन चारों मन्त्रों में इन्दु से (सोम से) इन्द्र के लिए प्रवाहित होने की प्रार्थना की गई है। प्रति मन्त्र के अन्त में आता है—इन्द्रायेन्दो परिस्रव।

(३) सोम (चन्द्रमा) ने बृहस्पति की भार्या तारा का हरण किया था—इस कथा के प्रसंग में ब्रह्मपुराण (१५२।३४) जो मन्त्र उद्धृत करता है वह ऋग्वेद का १०।१०९।६ मन्त्र है जिसका प्रतीक है—पुनर्वै देवा अददुः (यहां भी पूरा मन्त्र ही उद्धृत किया गया है)।

(४) ब्रह्म (२३३।६२) का कहना है—'द्वे विद्ये वै वेदितव्ये' इति चाथर्वणी श्रुतिः अर्थात् यह मन्त्र का प्रतीक अथर्ववेद का है। यह मुण्डक उपनिषद् १।१।४ मन्त्र है। 'आथर्वणी श्रुतिः' पद वड़े महत्त्व का है। यह इस तथ्य का स्पष्ट द्योतक है कि पुराणकर्ता की दृष्टि में ब्राह्मण भी श्रुति माना जाता था। ज्ञातव्य है कि उपनिषद् ब्राह्मण का ही अन्तिम भाग होता है। इस पुराणोल्लेख से आधुनिकों का यह मत ध्वस्त हो जाता है कि 'ब्राह्मण' श्रुति से बहिर्भूत है और संहिता ही श्रुति के अन्तर्गत मान्य है।

(५) ब्रह्म के अन्य स्थानों पर छोटे-छोटे वैदिक मन्त्रों के अंश भी उद्धृत किये गये हैं—

अर्धो जाया इति श्रुतेः (ब्रह्म १२९।६२)

=तैत्ति० सं० ६।१।८।५ तथा शतपथ ब्रा० ५।२।१।१० =अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया।

इषे त्वा (ब्रह्म १७०।६४)=तैत्ति० सं० १।१।१।१। यज्ञो वै विष्णुः (ब्रह्म १६१।१५) = ब्राह्मण का प्रख्यात वाक्य।

(६) ब्रह्म १५१ अध्याय में उर्वशी और पुरुरवा का प्रख्यात वैदिक आख्यान दिया गया है जिसमें श्लोक ४ और १२ प्रायः ऋग्वेद (१०।९५।१६ तथा १५) के मन्त्रों के ही सर्वथा प्रतिरूप हैं।

(७) ब्रह्म अ० १२८, श्लोक २७ में शिव के ही इन्द्र, मित्र, अग्नि नाम से प्रख्यात होने की बात कही गई है इस पद्य में—

> एक एकाद्वयः शम्भुरिन्द्रमित्राग्निनामभिः।
> वदन्ति बहुधा विप्रा भ्रान्तोपकृतिहेतवे ॥

यह ऋग्वेद के (१।१६४।४६) प्रख्यात मन्त्र से तात्पर्यतः और शब्दतः दोनों प्रकार से मिलता है—

> इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुर्
> एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ॥

(८) ब्रह्म १६१ अध्याय में पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०।९०) के अनेक मन्त्रों का अक्षरशः अनुवाद किया गया है। विशेषतः श्लोक ३५ और ३७ तथा ४७–४८ पुरुषसूक्त के प्रख्यात मन्त्रों के शब्दों की छाया लेकर निर्मित हैं।

(९) ब्रह्मपुराण १७१ अध्याय (श्लोक ३२ तथा ३३) में जुआड़ी (कितव) की निन्दा प्रायः उन्हीं शब्दों में करता है जिस प्रकार ऋग्वेद के प्रख्यात सूक्त १०।३४ के १०–११ मन्त्रों में किया गया है, अन्त में उपदेश देता है कि कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य करना चाहिए। अकैतवी तु या वृत्तिः सा प्रशस्ता द्विजन्मनाम् कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यमपि कुर्यान्न कैतवम् (१७१।३६)। कैतव (जुआड़ी का पेशा) कभी न करना चाहिए—यह उपदेश ऋग्वेद के 'अक्षैर्मादीव्य कृषिमित् कृषस्व' का ही पक्षान्तर में अनुवाद है।

(१०) हरिश्चन्द्रतीर्थ[1] के प्रसंग में हरिश्चन्द्र का तथा शुनःशेप का आख्यान

---

१. ब्रह्मपुराण में अन्य वैदिक आख्यानों की सत्ता के विषय में द्रष्टव्य पी. वी. काणे का लेख—कुन्हनराजा अभिनन्दन ग्रन्थ (अंग्रेजी) में पृष्ठ ५–८; अड्यार १९४६।

ब्रह्मपुराण के १०४ अध्याय में प्रायः ऐतरेय ब्राह्मण (अ० ३३) के ही समान शब्दों में दिया गया है।

नापुत्रस्य परो लोको विद्यते नृपसत्तम (ब्रह्म १०४।७) = नापुत्रस्य लोकोऽस्ति तत् सर्वं पशवो विदुः (ऐत० ब्रा०)

स्कन्दपुराण में

स्कन्दपुराण में वेदविषयक विपुल सामग्री उपलब्ध होती है[1]। यहां वेद की महिमा के प्रतिपादन के साथ-साथ वेद के अध्ययन की रीति का भी सुस्पष्ट वर्णन है। ध्यान देने की बात है कि वेदाभ्यास केवल वेद के स्वीकार अर्थात् पठनमात्र से सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत उसमें अर्थविचार, अभ्यास, तप तथा शिष्यों को अध्यापन भी क्रमशः सम्मिलित बतलाये गये हैं—

श्रुत्यभ्यासः पञ्चधा स्यात् स्वीकारोऽर्थविचारणम्।
अभ्यासश्च तपश्चापि शिष्येभ्यः प्रतिपादनम् ॥

—स्कन्द (ब्रह्मखण्ड, उत्तरभाग ५।१४)

वैदिक सूक्तों के तथा उपनिषदों के नाम तथा उल्लेख इस पुराण में बहुशः मिलते हैं। इस पुराण के विभिन्न खण्डों में पचासों वैदिक मन्त्र तत्तत् स्थलों पर पूजा जप आदि के प्रसंग में उद्धृत किये गये हैं प्रतीकरूप से ही। कतिपय मन्त्रों का निर्देश इस प्रकार है—

(१) शन्नो देवी
(२) आपो ज्योतिः
(३) चित्रं देवानाम्
(४) मधुव्वाता
(५) अग्निमीडे
(६) नमो वः पितरः
(७) आपो हि ष्ठा
(८) उद्वयं तमसस्परि
(९) सुमित्रिया नः
(१०) मा नस्तोक तनये

मत्स्यपुराण में

मत्स्यपुराण में नाना वैदिक विधान-अनुष्ठान का विस्तृत विवरण है जिनमें वैदिक मन्त्रों का प्रयोग पदे-पदे किया गया है। इस प्रसंग में दो अध्याय विशेष

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य डा० रामशंकर भट्टाचार्य: इतिहास-पुराण का अनुशीलन, पृ. २३८-२४६ (काशी, १९६३)

महत्त्व रखते हैं—९२ अध्याय, जिस में ग्रहों की शान्ति का विशिष्ट विवरण है तथा २६४ अध्याय, जिसमें देवप्रतिष्ठा का विषय उपनीत है। इन अध्यायों के अनुशीलन से वेदों तथा वैदिक विषयों के प्रति पुराण की गम्भीर आस्था, पुंखानुपुंख आग्रह तथा मौलिक आदरभाव का तथ्य नितान्त स्पष्ट हो जाता है। ९२ अध्याय में ग्रहों की शान्ति का महत्त्वशाली विषय है जो गृहस्थों के जीवन में अपना विशेष गौरव रखते हैं। यहाँ नवग्रह के मन्त्रों के प्रतीक दिये जाते हैं जो इस अध्याय में निर्दिष्ट हैं। यहाँ पूरा मन्त्र न होकर मन्त्र का प्रतीक हो उल्लिखित है। नवग्रहों का हवन विभिन्न मन्त्रों से करना चाहिए (३३–३७)।

(१) सूर्य का हवनमन्त्र	आकृष्ण।
(२) सोम	आप्यायस्व।
(२) मंगल	अग्निर्मूर्धा दिवः।
(४) बुध	अग्ने विवस्वदुषसः।
(५) बृहस्पति	बृहस्पते परिदीया रथेन।
(६) शुक्र	शुक्रं ते अन्यत्।
(७) शनैचर	शन्नो देवी।
(८) राहु	कया न श्चित्र आभुवः।
(९) केतु	केतुं कृण्वन्।

इसके अनन्तर रुद्र, उमा, विष्णु, स्वयम्भू, इन्द्र, यम, अग्नि, जल, सर्प, विनायक आदि अनेक देवी-देवों के बलि देने के मन्त्रों का प्रतीक यहां उपस्थित किया गया है (३७–५०)

वैदिक मन्त्रों के अनन्तर **पौराणिक मन्त्रों** का पूर्ण उल्लेख यहाँ मिलता है। एक दो पौराणिक मन्त्र नीचे दिये जाते हैं। ये सरल-सुबोध मन्त्र हैं। इनके अर्थ समझने के लिए विशेष प्रयास की अपेक्षा नहीं—

> सुरास्त्वामभिषिञ्चन्तु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः
> वासुदेवो जगन्नाथस्तथा संकर्षणो विभुः
> प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च भवन्तु विजयाय ते ॥ ९१ ॥

—मत्स्य०, ९२ अध्याय।

यह अन्तिम मन्त्र चतुर्व्यूहों का निर्देश करता है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध का। यह उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व रखता है अर्थात् मत्स्यपुराण की रचना से पूर्व पाञ्चरात्र मत का यह चतुर्व्यूह सिद्धान्त पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुका था। इस प्रकार १५९ श्लोकों का यह बृहत् अध्याय वैदिक

कर्मों के अनुष्ठान से तथा तदुपकारक मन्त्रों–वैदिक तथा पौराणिक से अच्छी तरह पूर्ण है।

मत्स्यपुराण का २६४ अध्याय देवप्रतिष्ठा विधि का वर्णन करता है। वेदी के चारों द्वारों पर चार द्वारपाल के रखने का विधान है जहाँ प्रतिद्वार पर विभिन्न मन्त्रों के पाठ की व्यवस्था बतलाई गई है (२३–२७)। श्रीसूक्त, पवमानसूक्त, सोमसूक्त, शान्तिकाध्याय, इन्द्रसूक्त, रक्षोघ्नसूक्त, आदि अनेक सूक्तों के पाठ का इस प्रसंग में वर्णन है। इस प्रकार यह समस्त अध्याय वैदिक मन्त्रों के विपुल निर्देश से परिपूर्ण है।

अग्निपुराण में भी वैदिक मन्त्रों का समुल्लेख विभिन्न विधि-विधानों के अवसर पर विधिवत् किया गया है। उदाहरणार्थ मन्दिर के शिलान्यास के अवसर पर ४१ अध्याय में (५–९ श्लोक) निर्दिष्ट 'आपोहिष्ठा', 'शन्नो देवी' पावमानी ऋचा (ऋग्वेद ९।१।१–१०), 'उदुत्तमं वरुणम्' 'कया नः' 'वरुणस्य' 'हंसः शुचिषत्', तथा श्रीसूक्त से शिला का न्यास करना चाहिए।

श्रीमद्भागवत में

मेरी दृष्टि में श्रीमद्भागवत में वैदिक सूक्त तथा मन्त्रों की उपलब्धि इतर पुराणों की अपेक्षा कहीं अधिक है। भागवतके रचयिता वेद के मूर्धन्य ज्ञाता और प्रकाण्ड पण्डित थे। भागवत की प्रशंसा में इस तथ्य का उल्लेख है कि भागवत सब वेदान्त का सार है (सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते १२।१२।१५) और यह कथन कथमपि अत्युक्तिपूर्ण न होकर वास्तव और यथार्थ है। भागवत में वैदिक सामग्री का सन्निवेश अनेकविधया है। कहीं तो पूरा वैदिक सूक्त ही किंचित् शब्दवैषम्य के साथ यहाँ निविष्ट है, तो कहीं उपनिषदों के मन्त्रों तथा संहिता के मन्त्रों का यथानुपूर्वी संकलन है।

(क) वैदिक सूक्तों का निर्देश—

(१) पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०) = पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः।
(भाग० १०।१।२०)

(२) पुरुरवा सूक्त (ऋग्० १०।९५) के अनेक मन्त्रों का अक्षरशः अनुवाद नवम स्कन्ध के ऐलोपाख्यान में उपलब्ध है यथा—

> अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे न त्यक्तुमर्हसि।
> मां त्वमद्याप्यनिर्वृत्य वचांसि कृणवावहै॥ ३४॥

यह ऋग्वेद के मन्त्र का ही सुबोध परिवर्तन है।

(३) सरमासूक्त—सरमा और पणि का आख्यान, जिसमें सरमा नामक देवशुनी इन्द्र की गायों के अपहर्ता पणियों को डराकर गायों को छुड़ाने के लिए

दूतकर्म करती है, वेद में अनेक स्थलों पर उपलब्ध है। यथा ऋग्वेद १।६२।३, १।७२।८ में। प्रधान कथा १०।१०८ सूक्त में उल्लिखित है। अथर्व में भी उल्लेख है ९।४।१६ तथा २०।७७।८=ऋग्० ४।१६।८। बृहद्देवता में भी सरमा के विषय में ११ श्लोक मिलते हैं। यही कथानक भागवत के पञ्चम स्कन्ध के २४ अ०, ३० गद्य अनुच्छेद में निर्दिष्ट है जहाँ रसातलके निवासी दैतेय दानव ही 'पणि' नाम से बतलाये गये हैं और इन्द्रदूती सरमा ने मन्त्रवर्णों का उच्चारण कर इन्द्र से इनके हृदय में भय उत्पन्न कराया था।[1]

(४) ऐतरेय ब्रा० में निर्दिष्ट हरिश्चन्द्र का उपाख्यान, जिसमें शुनःशेष की कथा अनुस्यूत है, भागवत के नवम स्कन्ध अध्याय सप्तम में प्रायः उसी भाषा और शैली में विद्यमान है।

(५) पुरुषसूक्त के विभिन्न मन्त्रों को भागवत ने उन्हीं शब्दों में अपनाया है। मन्त्रों का भाव विभिन्न अध्यायों में बहुशः मिलता है—

(क) 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' मन्त्र का भाव

= ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा —२।१।३७

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म —२।५।३७

(ख) 'चन्द्रमा मनसो जातः'

= मनश्च। स चन्द्रमाः सर्वविकारकोशः। —२।१।३४

(ग) नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्

= इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः–आदि श्लोक —२।१।२९–३३

(ख) उपनिषदों के सिद्धान्त का प्रतिपादन

उपनिषदों के सिद्धान्तों को श्रीमद्भागवतने अनेक स्थलों पर स्वायत्त किया है। भागवत ने वेद, सांख्ययोग तथा सात्त्वत तन्त्र के साथ उपनिषदों को भी हरि के माहात्म्य के प्रतिपादक ग्रन्थों में गिना है[2]। उसकी दृष्टि में ये चारों समभावेन भगवान् के ही गुणानुवादमें अपनी चरितार्थता सिद्ध करते हैं। अन्यत्र (१०।१३।५४) भागवत ने उपनिषद् के अध्ययन करनेवाले पुरुषों का उल्लेख किया है। ५।१८।३४ में उत्तरकुरु वर्णन-प्रसंग में यज्ञवाराहरूपधारी भगवान्

---

१. ततोऽधस्ताद् रसातले दैतेया दानवाः पणयो नाम ··· ये वै सरमयेन्द्रदूत्या वाग्भिर्मन्त्रवर्णाभिरिन्द्राद् बिभ्यति —भाग० ५।२४।३०

२. त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगेन सात्त्वता।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं साऽमन्यतात्मजम्॥ —भाग० १०।८।४५

की चर्चा है जहाँ उनके विषय में अनेक श्लोकों को 'उपनिषद्' की संज्ञा से संकेतित किया जाता है[1]। इतना ही नहीं, भागवत शैवतन्त्र से सम्बद्ध रहस्य ग्रंथों को भी 'उपनिषद्' नाम से पुकारता है। भागवत के, शिवस्तुति में प्रयुक्त, एक श्लोक[2] का तात्पर्य है—सद्योजात आदि पाँच उपनिषद् ही तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव तथा ईशान नामक पाँच मुख हैं भगवान् शिव के। उन्हीं के पदच्छेद से अड़तीस कलात्मक मन्त्र निकले हैं। जब आप समस्त प्रपंच से उपरत होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाते हैं, तब उसी स्थिति का नाम होता है—'शिव'। वास्तव में यहीं स्वयंप्रकाश परमतत्त्व है। बृहदारण्यक आदि प्रख्यात उपनिषदों के तत्त्व भागवत में कहाँ और किस प्रकार गृहीत हैं—यह विषय अन्यत्र विवेचित होगा।

पुराणों में पौराणिक मन्त्र

वैदिक मन्त्रों का धार्मिक विधि-विधानों में पुराणों ने अत्यन्त उपयोग किया, परन्तु साथ ही साथ पौराणिक मन्त्रों का भी प्रयोग उचित माना गया। यह बात ईस्वी सन् से आरम्भ के आसपास अथवा उससे एक दो शताब्दी पीछे सम्पन्न हुई—ऐसा मानना अनुचित नहीं प्रतीत होता। याज्ञवल्क्य ने अपने स्मृति ग्रन्थ में श्राद्ध के अवसर पर ऋग्वेद का प्रख्यात मन्त्र उल्लिखित किया है जिसमें पितृगणों को श्राद्ध में पधारने का निमन्त्रण दिया गया है और कुश के उपर बैठने की प्रार्थना है। इस पर मिताक्षरा (लगभग ११०० ई०) का कथन है कि इस अवसर पर—

'आगच्छन्तु महाभागा विश्वेदेवा महाबलाः।
ये तर्पणेऽत्र विहिताः सावधाना भवन्तु ते' ॥

इस पौराणिक मन्त्र का भी प्रयोग वैदिक मन्त्र के संग-साथ में अवश्य करना चाहिये। वायु (७४।१५–१६) तथा ब्रह्माण्ड (तृतीय खण्ड, २।१७-१८) में श्राद्ध के अवसर पर इस प्रसिद्ध पौराणिक मन्त्र का उल्लेख किया

---

१. ...इमां च परमामुपनिषद्मावर्तयति। ओं नमो भगवते मन्त्रतत्त्वलिङ्गाय यज्ञक्रतवे महाध्वरावयवाय महापुरुषाय नमः कर्मशुक्लाय त्रियुगाय नमस्ते ॥

—भाग० ५।१८।३५-३६

२. मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश
यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः।
यत् तत् शिवाख्यं परमार्थतत्त्वं
देव स्वयं ज्योतिरवस्थितिस्ते। —भाग० ८।७।२९

गया है जिसे श्राद्ध के आरम्भ में तीन बार और अन्त में भी यजमान द्वारा तीन बार उच्चारण करने का विधान है—

देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च ।
नमः स्वधायै स्वाहायै नित्यमेव भवन्त्युत ॥

इस मन्त्र के अन्त में 'नित्यमेव नमो नमः' पाठ भी मिलता है। मिताक्षरा की इस पर टिप्पणी है कि किन्हीं के मत में शूद्रों को भी इसका पूजानुष्ठान में पाठ करने का अधिकार है परन्तु अन्य आचार्यों के मत में शूद्रों को केवल 'नमः' कहने से कार्यसिद्धि होती है। पूरे मन्त्र के पढ़ने की आवश्यकता नहीं।

श्राद्ध तथा तर्पण के अवसर पर ही उभयविध मन्त्रों का प्रयोग अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत अभिषेक के समय में भी ऐसे मन्त्र प्रयुक्त किये जाते थे। अग्निपुराण (२१८ अ०) ने ७० पौराणिक मन्त्रों का उल्लेख किया है जो अभिषेक के अवसर पर नियमतः प्रयुक्त किये जाते थे। विष्णुधर्मोत्तर के द्वितीय खण्ड २१ अ० में राज्याभिषेक के लिये उपयुक्त वैदिक मन्त्रों के प्रयोग का विधान है तथा उसी खण्ड के अग्रिम २२ अध्याय में १८४ पौराणिक मन्त्रों का भी साथ-साथ पाठ न्याय्य बतलाया गया है। मध्ययुगीय अनेक निबन्धकारों ने विष्णुधर्मोत्तर के इन्हीं पौराणिक मन्त्रों में से कतिपय मन्त्रों को अपने निबन्ध-ग्रन्थों में उद्धृत किया है।

धीरे-धीरे पुराण का प्रभाव भारतीय समाज के ऊपर बढ़ता गया और एक समय ऐसा आया जब वैदिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा पौराणिक कृत्यों का अनुष्ठान ही श्रेयस्कर माने जाने लगा। ऐसी स्थिति का परिचय पद्मपुराण तथा नारदीय पुराण के कथनों से हमें भली भाँति मिलता है। पद्मपुराण में धनशर्मा नामक एक वैदिक ब्राह्मण की कथा दी गई है जिनके पिता वेद में निष्णात थे, परन्तु वैशाख में विहित स्नान न करने के कारण उन्हें प्रेतयोनि प्राप्त हुई थी। इस अवसर पर उन्होंने पुराण-महिमा का प्रतिपादन कर वेद से भी अधिक लाभकारी और उपादेय पुराण को ही बतलाया[1] गया।

---

१. उनके उद्गार सुनने लायक हैं—

मया केवलमेकैव श्रौतमार्गानुसारिणा ।
उद्दिश्य माधवं देवं न स्नातं मासि माधवे ॥
वैदिकं केवलं कर्म कृतमज्ञानतो मया ।
पापेन्धनदवज्वालापापद्रुमकुठारिका ॥
कृता नैकापि वैशाखी विधिना वत्स ! पूर्णिमा ।
अव्रता यस्य वैशाखी सोऽवैशाखो भवेन्नरः ।
दश जन्मानि च स ततस्तिर्यग्योनिषु जायते ॥

—पद्म, ४ खंड, ९४ अ.

नारदीय पुराण वेद, स्मृति तथा पुराण के परस्पर सम्बन्ध के विषय में बड़ा ही गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करता है। इन तीन धार्मिक ग्रन्थों के विषय तथा क्षेत्र के विभाग को दिखलाते हुए यह कहता है—वेद का क्षेत्र भिन्न भिन्न है। वेद का प्रधान क्षेत्र है यज्ञ कर्म का सम्पादन—इसी कार्य में वेद का महनीय तात्पर्य है। गृहाश्रमियों के लिए स्मृति ही वेद है अर्थात् गृहस्थ के आचार—व्यवहार आदि के ज्ञान का प्रकाशक धर्मस्मृति ही है। ये दोनों प्रकार के ग्रन्थ पुराण में केन्द्रित रहते हैं। जिस प्रकार यह आश्चर्यमय जगत् उस पुराण पुरुष (अर्थात् भगवान् नारायण) से उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार समस्त वाङ्मय—विस्तृत अर्थ में साहित्य—पुराण से ही उत्पन्न हुआ है; इसमें तनिक भी संशय नहीं है। वेद के अर्थ (तात्पर्य) से मैं पुराण के अर्थ (अभिप्राय) को अधिक (विस्तृत अथवा श्रेष्ठतर) मानता हूँ। पुराण की सहायता वेद भी अपने रहस्य के उपबृंहण के निमित्त सर्वदा चाहता है। वह अल्प शास्त्रों के ज्ञाता से सदा डरा करता है कि वह मुझे मार न डाले[1]। नारदीय के ये कथन बड़े महत्त्व तथा गम्भीर अर्थ के प्रकाशक हैं। नारदीय के इन पद्यों में पुराण तथा वेद के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना है। इनमें सबसे भव्य श्लोक वह है जो वेद के अर्थ से पुराण के अर्थ को कहीं अधिक मानता है और इसीलिए समग्र वेदों को पुराणों में ही प्रतिष्ठित स्वीकारता है:—

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणेष्वेव सर्वदा॥

—नारदीय २।२४।१७

इस सिद्धान्त की पुष्टि में इस पुराण का कथन यह है कि वेद में ज्योतिष सम्बन्धी व्यावहारिक बातों का सर्वथा अभाव है। कौन तिथि कब होती है? दो एकादशी होने पर कौन ग्राह्य होगी? इत्यादि तिथिनिर्णय और काल-

---

बहु शास्त्रं समभ्यस्य बहून् वेदान् सविस्तरान्।
पुंसोऽश्रुतपुराणस्य न सम्यग्याति दर्शनम्।

—तत्रैव १०५।१३

१. शृणु मोहिनि ! मद् वाक्यं वेदोऽयं बहुधा स्थितः।
यज्ञकर्म क्रिया वेदः स्मृतिर्वेदो गृहाश्रमे॥
स्मृतिर्वेदः क्रिया वेदः पुराणेषु प्रतिष्ठितः।
पुराणपुरुषाज्जातं यथेदं जगदद्भुतम्
तथेदं वाङ्मयं सर्वं पुराणेभ्यो न संशयः॥
—नारदीय पुराण, २।२४।१५-१६

शुद्धि का विषय पुराण में ही सर्वथा विवेचित है। इसलिए पुराण की महिमा वेद से कहीं अधिक है।[१] इसी स्वर में देवी भागवत की यह प्रख्यात उक्ति है—

श्रुति-स्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्।
एतत्त्रयोक्त एव स्याद् धर्मो नान्यत्र कुत्रचित्॥

—११।१।२१

श्रुति-स्मृति तो नेत्र है, परन्तु पुराण हृदय है धर्म-पुरुष का। इससे बढ़ कर पुराण की महिमा क्या हो सकती है ?

--oo*o*oo--

१. न वेदे ग्रहसंचारो न शुद्धिः कालबोधिनी।
तिथिवृद्धिः क्षयो वापि पर्वग्रहविनिर्णयः॥
इतिहासपुराणैस्तु निश्चयोऽयं कृतः पुरा।
यन्न दृष्टं हि वेदेषु तत् सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ
उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत् पुराणैः प्रणीयते॥

—नारदीय २।१२।१८-२०

पुराण और शूद्र

पुराण की रचना सार्ववर्णिक है। पुराण का लक्ष्य भारतीय समाज के अन्तर्गत विराजमान प्रत्येक वर्ण के कल्याण तथा उद्धार की भव्य भावना है। वेद के गम्भीर रहस्यों को लौकिक बोधगम्य भाषा में सरस–सुबोध शैली के द्वारा जनहृदय तक सरलता से पहुँचा देना ही पुराण के मुख्य उद्‌देश्यों में अन्यतम उद्‌देश्य है। वेद की भाषा स्वयं दुरूह है और कालक्रम से जब उसके समझनेवालों की संख्या पण्डित-समाज में भी न्यून हो चली, तब यह आवश्यक प्रतीत होने लगा कि वेदों के उपदेश, जो गम्भीररूप से संहिता तथा उपनिषदों में निबद्ध हैं, भारतीय प्रजा के सामने रखे जाँय जिससे उसे सदाचार की शिक्षा मिले, भारतीय समाज का उन्नयन हो तथा समाज के भीतर पाप की प्रवृत्ति का उन्मूलन या ह्रास सम्पन्न हो और जनसाधारण ऐहिक अभ्युदय तथा आमुष्मिक कल्याण को पाकर अपना इहलोक तथा परलोक दोनों को सुधारें। कहना न होगा कि पुराणों का यह उद्‌देश्य पूर्णमात्रा में चरितार्थ हुआ। आज कल भारत में जो कुछ भी धर्म में अभिरुचि दीख पड़ती है, लोंगों में जो धार्मिकता का अवशेष आज भी बचा-खुचा है, यह सब पुराण के ही व्यापक प्रभाव का अभिव्यक्त परिणाम है।

कालान्तर में बौद्ध धर्म का जन्म हुआ। तथागत बुद्ध ने अपने धर्म का—अष्टांगिक मार्ग का—प्रचार समाज के समग्र वर्गों के लिए किया, परन्तु समाज के दलित वर्ग—धर्म तथा धर्म के उग्र आचारों से उत्पीडित वर्ग के प्रति उसका आकर्षण बड़ा जोरदार था। वैदिक समाज के अनेक बन्धनों को शिथिल कर गौतम बुद्ध ने जो धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न की, वह पूर्व समाज के समग्र वर्गों को, विशेष कर शूद्रों को, अपनी लपेट में इतनी तेजी से बाँधने में समर्थ हुई कि देखते ही देखते समाज की अधिकांश जनता बुद्ध धर्म में बिल्कुल मिल गई और जो न भी मिली तो उसकी अभिरुचि, सहानुभूति तथा झुकाव उस धर्म के प्रति निःसन्देह हो गया। अशोक तथा कनिष्क जैसे राजाओं का आश्रयप्रदान इस धर्म के परिबृंहण का मुख्य हेतु बन गया। इन बौद्ध राजाओं ने तथागत के नैतिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अपनी सारी राजकीय शक्ति लगा दी। दूर-दूर विदेशों में बौद्ध भिक्खु भेजे गये जिन्होंने विषम परिस्थिति में भी अपने व्यक्तिगत सुख-सौख्य का विना विचार किये धर्म-प्रचार के पावन कार्य में अपने आप को गला दिया। फल यह हुआ कि जिस प्रकार बौद्ध धर्म ने भारतवर्ष के कोने-कोने को अपने प्रभावक्षेत्र के भीतर

खींच लिया, उसी प्रकार भारत के बाहरी देशों में भी वह पुष्पित तथा फल-भार से सम्पन्न बन गया। इस बौद्ध धर्म के व्यापक प्रभाव को खर्व करना जिससे जनता ब्राह्मण-धर्म के आस्तिकवाद की ओर झुके तथा वैदिक धर्म का आश्रय ग्रहण करे, पुराण का व्यापक और महत्त्वशाली कार्य था।

वैदिक धर्म के उन्नायक भट्ट कुमारिल भली भाँति जानते थे कि शूद्र ही बौद्ध धर्म के विशिष्ट अनुयायी हैं जब वे कहते हैं—"शाम (बुद्ध) आदि के समस्त वचन, केवल दम, दान, विषयक वचनों को छोड़ देने पर, समस्त चौदह विद्यास्थानों से विरुद्ध हैं। ये वचन वेदमार्ग को छोड़ कर विरुद्ध आचरण करने वाले बुद्ध आदिकों के द्वारा प्रचारित किये गये हैं। ये उपदेश उन लोगों को समर्पित किये गये हैं जो व्यामूढ हैं, जो तीनों वेद के द्वारा प्रतिपादित धर्म के क्षेत्र से बहिर्भूत हैं तथा जो मुख्यतः चतुर्थ वर्ण (शूद्र) के अन्तर्गत हैं तथा अन्य जो समाज से नितान्त बहिष्कृत किये गये हैं[1]। इस प्रकार सप्तम शती में समाज का जो चित्र ऊपर कथन में कुमारिल भट्ट ने खींचा है, वह वैदिक समाज की दृष्टि से कथमपि उपेक्षणीय नहीं था। वैदिक धर्म के उन्नायकों ने इन बौद्धानुयायी शूद्रों को अपने समाज में फिर खींचकर लाने का जो अश्रान्त उद्योग किया, उसका पूर्ण परिचय पुराणों के अनुशीलन से भली भाँति चलता है। इस कार्य की सिद्धि के लिए विद्वानों ने हजारों की संख्या में पौराणिक मन्त्रों का निर्माण किया तथा पुराणों में वैदिक मन्त्रों के संग में इन मन्त्रों का भी सन्निवेश प्रस्तुत किया।

पुराणों के साथ शूद्रों का किंरूप सम्बन्ध है? वेदमन्त्रों से पुराणों का कलेवर शून्य नहीं है; इसका सप्रमाण प्रतिपादन पहिले ही किया गया है। वेद के पठन तथा श्रवण में शूद्रों का अधिकार कथमपि नहीं है—इस तथ्य का प्रतिपादन प्रायः सर्वत्र धर्मशास्त्र तथा पुराण में समभावेन किया गया है। श्रीमद्भागवत का यह प्रसिद्ध-वचन इसी सिद्धान्त का सर्वथा पोषक माना जा सकता है—

---

१. शामादिवचनानि तु कतिपयदमदानानि वचनवर्जं सर्वाण्येव समस्तचतुर्दशविद्यास्थानविरुद्धानि त्रयीमार्गव्युत्थितविरुद्धाचरणैश्च बुद्धादिभिः प्रणीतानि। त्रयीबाह्येभ्यश्चतुर्थवर्णनिरवसितप्रायेभ्यो व्यामूढेभ्यः समर्पितानीति न वेदमूलत्वेन सम्भाव्यन्ते।

—जै० सू० १।३।४ पर तन्त्रवार्तिक।

कुमारिल ने यहाँ 'निरवसित' पद का प्रयोग पाणिनिदत्त अर्थ में किया है—

शूद्राणामनिरवसितानाम् २।४।१० तथा इस सूत्र का भाष्य द्रष्टव्य।

स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥

—१।४।२५

श्रीमद्भागवत के इस श्लोक को मित्र-मिश्र ने 'परिभाषा प्रकाश' में उद्धृत किया है तथा उसके ऊपर यह टिप्पणी भी लिखी है—वेदकार्यकारित्वावगमाद् भारतस्य वेदकार्यात्मज्ञान-कारित्वसिद्धिः (परिभाषाप्रकाश पृ० ३७)। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि महाभारत वैदिक कार्यों के सम्पादन का वर्णन करता है और इसीलिए वेद से उत्पन्न जो आत्मज्ञान है उसके उत्पादन की भी सिद्धि उससे अवश्यमेव होती है। फलतः महाभारत के श्रवण से स्त्री-शूद्रादिकों को आत्मज्ञान की और तज्जन्य मोक्ष की उपलब्धि अवश्यमेव होती है—भागवत के वचन का यही स्वारस्य है। देवी भागवत भी भागवत के पूर्वोक्त कथन की ही पुष्टि करता है—

स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां न वेदश्रवणं मतम्।
तेषामेव हितार्थाय पुराणानि कृतानि च ॥

—देवीभाग० १।३।२१

भागवत के पद्य में भारत की रचना का जो हेतु बतलाया गया है, देवी भागवत की दृष्टि में पुराणों के प्रणयन का भी वही हेतु है। फलतः इतिहास तथा पुराण दोनों की रचना का एक ही समान उद्देश्य है—वेद से वर्जित प्राणियों के लिए वेदप्रतिपाद्य आत्मज्ञान तथा मुक्ति प्राप्ति की शिक्षा। त्रयी (=वेदत्रयी) जिन व्यक्तियों को श्रुतिगोचर नहीं होती (अर्थात् जिन्हें वेद के श्रवण का अधिकार नहीं है) ऐसे व्यक्तियों में स्त्री की गणना प्राथम्येन की गई है। तनदन्तर शूद्रों की तथा सबके अन्त में उन द्विजों की जो जन्मना द्विज हैं, परन्तु कर्मणा नहीं। अर्थात् जन्मना द्विज होने पर भी जो द्विज के कर्म से हीन हैं उन्हें श्रुति के सुनने का अधिकार नहीं है। पुराण में इसी त्रयी के मन्त्रों का स्थलविशेष पर प्रतीक रूप से या पूर्णरूप से उल्लेख है। फलतः पुराणों के साथ शूद्र का सम्बन्ध एक अन्वेषणीय विषय है। इस विषय की मीमांसा पुराण तथा धर्मशास्त्र दोनों शास्त्रों ने अपनी दृष्टि से की है।

प्रथमतः पुराणीय मीमांसा पर ध्यान देना आवश्यक है। भविष्य पुराण का यह प्रख्यात वचन शूद्रों को पुराण के अध्ययन का अधिकार नहीं देता; केवल श्रवण का ही अधिकार देता है। अर्थात् शूद्र स्वयं पुराण का पाठ नहीं कर सकता, ब्राह्मण द्वारा पठ्यमान पुराण का वह केवल श्रवण कर सकता है। यह वचन[1] इस प्रकार है—

---

१. इस वचन का उल्लेख श्री राधामोहन गोस्वामी ने भागवत सन्दर्भ की अपनी व्याख्या में किया है पृ० ३२ (कलकत्ता सं०)

अध्येतव्यं न चान्येन ब्राह्मणं क्षत्रियं विना ।
श्रोतव्यमिह शूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन ॥

प्रायश्चित्तविवेक में उद्धृत पाद्म का यह श्लोक जो स्वयं सूत की उक्ति है, पूर्वोक्त कथन का स्पष्टीकरण है। सूत का वचन है कि वेद में किसी भी शूद्र का अधिकार नहीं है तब मुझे वेद-तुल्य पुराण में अधिकार कैसे ? मुझे यह अधिकार अर्थात् पुराण के पठन-पाठन, पठन-प्रवचन का अधिकार ब्राह्मणों के द्वारा दिखलाया गया है, अन्यथा शूद्र होने के नाते मुझे भी पुराण में अधिकार नहीं था—

न हि वेदेष्वधीकारः कश्चित् शूद्रस्य जायते ।
पुराणेष्वधिकारो मे दर्शितो ब्राह्मणैरिह ॥

तथ्य तो यह है कि सूत विलोमजात प्राणी होता है—'ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतः' इस स्मृतिवचन के अनुरोध से क्षत्रिय पिता की ब्राह्मण माता में उत्पन्न सन्तान 'सूत' कहा जाता है। फलतः सूत का अधिकार वेदश्रवण में कथमपि नहीं। इसकी पुष्टि शौनक ऋषि के इस कथन से स्पष्टतः होती है—

मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात्

—भाग० १।४।१३

शौनक के कथन का अभिप्राय है कि सूत वेद को छोड़ कर अन्य वचनों में सर्वथा निष्णात अर्थात् कुशल थे। परन्तु पुराणों के वे वक्ता थे। इस विप्रतिपत्ति का उत्तर वे स्वयं देते हैं भागवत के प्रथम स्कन्ध के[1] दो श्लोकों में। सूत के कथन का सारांश यही है कि विलोमजात होने पर भी आज ही हमारा जन्म इसी कारण सफल हुआ कि शौनक आदि महर्षियों की मुझ में आदर बुद्धि उत्पन्न हुई (वृद्धानुवृत्त्या)। मुझे उन्होंने आदर देकर कथाश्रवण करने, भगवान् अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक की लीला का गुण-गान करने के निमित्त वक्ता के रूप में वरण किया। लोक में यह बहुशः प्रत्यक्ष है कि महान् पुरुष के साथ संभाषण का योग ही नीच कुल में उत्पन्न होने से जायमान मानसिक

---

१. अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हा स्म
वृद्धानुवृत्त्यापि विलोमजाताः ॥
दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं
महत्तमानामभिधान-योगः ।।
कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो महद्गुणत्वाद् यमनन्तमाहुः ॥

पीड़ा को दूर भगा देता है। ऐसे महान् पुरुषों के भी आराध्य तथा सेवनीय, अनन्तशक्तिसम्पन्न भगवान् अनन्त के नाम के कीर्तन से मेरी यह आधि एकदम दूर भाग गई है; इस विषय में बहुत कहने की क्या आवश्यकता है ? नहीं, कभी नहीं। श्रीमद्भागवत (१२।१२।६४) का (अधीत्य) शूद्रः शुध्यति पातकात्' वचन[1] (अर्थात् शूद्र पुराण के पठन से पातक से शुद्ध हो जाता है) पूर्वोक्त कथन से स्पष्टतः विरुद्ध होने से अपनी संगति चाहता है। इसकी संगति टीकाकारों ने 'अधीत्य' पद को अन्तर्भावित ण्यर्थक क्रिया मानकर 'पाठयित्वा' अर्थ देकर की है अर्थात् शूद्र को ब्राह्मण द्वारा पुराण पढ़वा कर सुनने का अधिकार है, स्वयं पढ़ने का नहीं। इसी तथ्य का समर्थन अन्यत्र भी प्राप्त है। मध्वाचार्य ने अपने वेदान्तभाष्य में 'व्योम संहिता'[2] से कतिपय पद्य उद्धृत किया है जिसका तात्पर्य है कि भगवान् की भक्ति से सम्पन्न, अन्त्यज—शूद्र से भी नीच जाति में उत्पन्न व्यक्ति—को भगवान् के नाम तथा ज्ञान का, अधिकार प्राप्त है। स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धुओं को वेद से इतर धर्मग्रन्थों अर्थात् तन्त्र आदि के ज्ञान में अधिकार है, परन्तु ग्रन्थपुरःसर नहीं; केवल एकदेश में—मन्त्र तथा पूजा आदि में ही।

निष्कर्ष यह है कि पुराण शूद्र को स्वयं पुराण को श्रवणमात्र का ही अधिकार देता है, पठन का नहीं। वह पुराण के वाचन को ही सुन सकता है, स्वयं उसका वाचन या पठन नहीं कर सकता।

पुराणों की आलोचना का समर्थन शंकराचार्य जैसे आत्मवेत्ता वेदान्त-प्रतिष्ठापक आचार्य के द्वारा भी किया गया है। शंकराचार्य ने (शारीरक भाष्य १।३।३८) बड़ी सावधानी से शूद्रों को वेदाधिकार का निषेध किया है अवश्य, परन्तु वे उन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति करने से कभी निषेध नहीं करते। इस विषय में उन्होंने विदुर तथा धर्मव्याध का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है जो

---

१. विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम्।
वैश्यो निधिपतित्वं च शूद्रः शुध्यति पातकात्॥
—भाग० १२।१२।६४।

२. अन्त्या अपि ये भक्ता नामज्ञानाधिकारिणः।
स्त्री–शूद्र–द्विजबन्धूनां तत्र ज्ञानेऽधिकारिता॥
एकदेशोपरक्ते तु न तु ग्रन्थपुरःसरे।
त्रैवर्णिकानां वेदोक्तं सम्यग् भक्तिमतां हरौ।
—व्योमसंहिता

भागवतसन्दर्भ की श्रीराधामोहन गोस्वामी कृत टीका में उद्धृत वचन

इस जन्म में शूद्र योनि में अवश्य उत्पन्न हुए थे, परन्तु पूर्व जन्म के संस्कार उनमें जागरूक थे—पूर्व जन्म में वे उच्च योनि में उत्पन्न होकर शुभकर्मों के निष्पादक थे। उसी संस्कार के वश इस योनि में उन्हें आत्मज्ञान का उदय हुआ और तज्जन्य मोक्ष की -- संसार से आवागमन की मुक्ति की—उन्हें सद्यः प्राप्ति हुई - इसका निषेध कथमपि नहीं किया जा सकता। शंकर की दृष्टि में शूद्रों को इतिहास-पुराण के श्रवण करने का पूरा अधिकार है, क्योंकि 'श्रावये-च्चतुरो वर्णान्' के नियम से इतिहास-पुराण के श्रवण में चारों वर्णों का अधिकार है और इस प्रकार वे आत्मा का ज्ञान तथा तन्निष्पन्न मोक्ष की उपलब्धि अवश्यमेव कर सकते हैं। आचार्य के वचन इस प्रकार हैं :

येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद्-विदुर-धर्मव्याध-प्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिः, तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुं ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात्। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारश्रवणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम्।

—ब्र० सू० १।३।३८ पर शां० भा०

'अन्तरा चापि तद्दृष्टेः' ३।४।३६ के भाष्य में आचार्य ने रैक्व तथा वाचक्नवी का दृष्टान्त, वर्तमान रहने से आत्मविद्या में अधिकार सम्पन्न होता है इस तथ्य के समर्थन में दिया है—रैक्व वाचक्नवी प्रभृतीनामेवं भूतानामपि ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धेः। यहां वाचक्नवी स्त्री थी जिसके चरित का वर्णन बृहदा-उप० (३।६।१; ३।८।१) में विशेषरूपेण दिया गया है। महाभारत स्वयं इस तथ्य का समर्थन बहुशः करता है कि यह चारों पुरुषार्थों के साधनों का वर्णन करता है। धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति के समान ही मोक्ष की प्राप्ति कराता है और इसलिए मोक्ष के इच्छुकों के द्वारा, ब्राह्मण, राजा तथा गर्भिणी स्त्रियों के द्वारा इसका श्रवण सर्वदा करना चाहिए—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥
जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता।
ब्राह्मणेन च राज्ञा च गर्भिण्या चैव योषिता॥

—स्वर्गा० पर्व ५।५०-५१

पुराण तथा शूद्र के सम्बन्ध की मीमांसा मध्ययुगीय निबन्धकारों ने की है जिसकी विशिष्ट चर्चा काणे महोदय ने अपने ग्रन्थ में भली भांति की है। धर्मशास्त्रीय लेखकों के सामने बौद्धधर्म के मनोरम तथा हृदयावर्जक क्षेत्र के भीतर जीवन-यापन करने वाले शूद्रों को वहाँ से निकाल कर वैदिक धर्म में पुनः सम्मिलित

करने की विषम समस्या थी। इस समस्या का समाधान पुराण के नवीन संस्करण बना कर किया गया, लेखक का यह परिनिष्ठित मत है। इसी कार्य के लिए पुराण का प्रणयन हुआ—यह मत समीचीन नहीं, क्योंकि पुराण की प्राचीनता इस युग से पूर्व थी जिसका प्रतिपादन किसी पहिले परिच्छेद में सप्रमाण किया गया है। प्राचीन पुराण में ये नवीन संस्करण तथा कतिपय नूतन पुराणों का प्रणयन दो उद्देश्यों को लेकर सप्तम-अष्टम शती में किया गया। पहिला उद्देश्य था जैन तथा बौद्धधर्मों के वृद्धिशील प्रभाव का रोकना अर्थात् उनके सिद्धान्तों को आत्मसात् कर वैदिकधर्म में उन लोभनीय तथ्यों की सत्ता उत्पन्न करना। दूसरा उद्देश्य था कि बुद्धधर्म के अनुयायी जनों को, जो अधिकतर शूद्र तथा अन्त्यज थे, अपनी ओर आकृष्ट करना। इन दोनों उद्देश्यों की सिद्धि में पुराण विशेषरूपेण सफल तथा कृतकार्य हुए। और आज हिन्दूधर्म का जो लोकप्रिय स्वरूप वर्तमान है, वह पुराणों के ही व्यापक प्रभाव का महनीय परिणाम है।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में निवन्धकारों ने शूद्रों की समस्या का समाधान किया। काणे का कथन[1] है कि प्राचीन निवन्धकारों में शूद्रों को संतुष्ट करने की भावना कुछ मात्रा में थी और इसलिए उन्होंने उस भावना के अनुकूल विशेष उदार वृत्ति का परिचय दिया। श्रीदत्त (पितृभक्ति, समय-प्रदीप आदि ग्रन्थों के प्रणेता—समय १२७५ ई०—१३१० ई० लगभग) का कथन है कि शूद्र पौराणिक मन्त्रों का धार्मिक कृत्यों में स्वयं उच्चारण कर सकता है, परन्तु पुराण का श्रवण ब्राह्मण द्वारा ही कर सकता है, स्वयं उसका पाठ नहीं कर सकता। यह निर्णय उदार वृत्ति का परिचायक है। कमलाकर (निर्णयसिन्धु के लेखक; समय १६१०–१६४० ई० के आसपास) का समय श्रीदत्त से तीन शताब्दियाँ पीछे है। इस युग में शूद्र हिन्दू समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। अब प्राचीन सन्तुष्टि-भावना का सर्वथा ह्रास हो गया था। फलतः कमलाकर की भावना उग्र तथा कठोर है और इसीलिए उन्होंने अपने 'शूद्र कमलाकर' नामक एतद्विषयक ग्रन्थ में शूद्रों के विषय में अपना विशिष्ट मत दिया है—(क) शूद्र धार्मिक कृत्यों में पौराणिक मन्त्रों का स्वयं प्रयोग नहीं कर सकता, प्रत्युत उसे यह कार्य किसी ब्राह्मण द्वारा ही कराना न्याय है (यह मत श्रीदत्त से एकदम विपरीत तथा विरुद्ध है)। (ख) शूद्र ब्राह्मण द्वारा पुराण का पाठ सुन सकता है, स्वयं पाठ नहीं कर सकता। इस निर्णय से

१. द्रष्टव्य काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, खण्ड ५ भाग २, पृष्ठ ९२४–९२७।

वैदिक मन्त्रों से सम्पन्न पुराणों के शूद्रों द्वारा उपयोग किये जाने की समस्या का समाधान निबन्धकारों ने भली भाँति कर दिया।

प्रश्न है क्या शूद्रों के लिए ही पुराण की उपयोगिता थी ? उत्तर है—नहीं, द्विजों के लिए भी उसकी उपयोगिता उसी प्रकार मान्य थी। इस तथ्य को अभिव्यक्ति अनेक पुराण-वचनों से वैशद्येन होती है। फलतः मध्ययुग में पुराण का बोलबाला था और भारत के समग्र समाज तथा समस्त वर्ण इसी का उपयोग धार्मिक कृत्यों में करते थे। वेद के दुर्बोध तथा दुर्ज्ञेय होने से तत्प्रतिपाद्य विधि-विधानों का अब ह्रास हो गया और वैदिक मन्त्रों के स्थान को पौराणिक मन्त्रों ने ले लिया। उदाहरणार्थ नव ग्रह की पूजा के लिए वैदिक मन्त्रों के स्थान पर नवीन पौराणिक मन्त्रों का अब प्रयोग होने लगा। आज के प्रचलित कर्मकाण्ड की पद्धति में धार्मिक कृत्यों में पौराणिक मन्त्रों का प्रयोग अधिकतर पाया जाता है, वैदिक मन्त्रों के सह-प्रयोग की प्रथा वेद-ज्ञान के ह्रास के कारण आज कल नामशेष रह गई है।

वेदार्थ का उपबृंहण

पुराण में वेद के अर्थ का उपबृंहण है। यह तथ्य महाभारत काल में अवश्य प्रादुर्भूत हो गया था, क्योंकि महाभारत में इस तथ्य के साधक अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं। महाभारत (१।१।८६) का स्पष्ट कथन है कि पुराणरूपी पूर्णचन्द्र ने श्रुति की चाँदनी को प्रकाशित किया:—

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः।

वह प्रख्यात श्लोक जिसमें इतिहास-पुराण के द्वारा वेदार्थ के उपबृंहण करने का उपदेश है, कि अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद सर्वदा डरा करते हैं कि कहीं वह उसे प्रहार न करे (या दूसरे पाठ के अनुसार प्रतारण न करे = ठग न लेवे) मूलतः महाभारत का ही है और अन्य पुराणों में सम्भवतः पीछे उद्धृत किया गया है। वह विश्रुत श्लोक है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥ —(प्रतरिष्यति)

'उपबृंहण' शब्द का अर्थ है किसी तथ्य की पुष्टि करना तथा उसका विस्तार करना। बृंह धातु का मुख्य अर्थ वर्धन ही तो है। फलतः वेद के मन्त्रों द्वारा प्रतिपादित अर्थ का, सिद्धान्त का तथा तथ्य का विस्तार तथा पोषण पुराणों के श्लोकों में किया गया है। पूर्वोक्त श्लोक का यही तात्पर्य समझना चाहिए। श्रीमद्भागवत ने अपने को इसी परम्परा के भीतर अन्तर्भुक्त माना है। भागवत ने अनेक स्थलों पर स्पष्ट शब्दों में अपने-आप को वेदार्थ का प्रतिपादक माना है। भागवतने अपने को निगम-कल्पवृक्ष का गलित सुपरिपक्व, अत एव मधुरतम फल माना है (निगम-कल्पतरोर्गलितं फलम्—१।१।३)। ग्रन्थ के अन्त में वह अपने को 'सर्ववेदान्तसार' बतलाता है (भाग० १२।१२।१५)। फलतः पुराण सामान्य में, श्रीमद् भागवत में विशेषतः, वेदार्थ का उपबृंहण किया गया है।

उपबृंहण के प्रकार

वेदार्थ के उपबृंहण के अनेक प्रकार पुराणों के अन्वेषण से विशदरूपेण प्रतीयमान होते हैं।

(क) वैदिक मन्त्रों के कहीं पर विशिष्ट पद ही पुराणस्थ स्तुतियों में स्पष्टतः गृहीत किये गये हैं। विष्णु-स्तुतियों में विष्णु-मन्त्रों के विशिष्ट पद तथा

शिवस्तोत्रों के विशिष्ट पद तथा समग्र भाव अक्षरशः संचित किये गये हैं। उदाहरणार्थ वायुपुराण के ५५ अध्याय में दी गई दार्शनिक शिवस्तुति में यजुर्वेदस्थ रुद्राध्याय (अ० १६ माध्यन्दिन संहिता) के मन्त्रों के भाव तथा पद बहुशः परिगृहीत हैं। वैष्णवों में **पुरुषसूक्त** (ऋग्वेद १०।९०) की महिमा अपरिमेय तथा असीम है। इसका उपयोग विष्णु भगवान् की स्तुति के अवसर पर तद्रूप से या किंचित् परिवर्तित रूप से बहुशः पुराणों में किया गया है। भागवत में समग्र सूक्त का उपयोग अनेक बार किया है। भागवत के द्वितीय स्कन्ध में (अ० ६, श्लो० १५–३०) तथा १०।१।२० में पुरुषसूक्त का विस्तार से उपयोग किया गया है नारायण की स्तुति के अवसर पर। इस सूक्त के 'पुरुष' का समीकरण कभी नारायण के साथ और कभी 'कृष्ण' के साथ किया गया है। द्रष्टव्य भागवत २।५।३५–४२; विष्णु पुराण १।१२।५६—६४; ब्रह्म १६१।४१–५०; पद्म ५।४।११६—१२४ तथा ६।२५४।६२–८३। भागवत में विष्णु के लिए प्रयुक्त 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' विशेषण पूर्णतः वैदिक हैं (द्रष्टव्य ऋग्वेद १।१५४ सू०)

(ख) **वैदिक मन्त्रों की व्याख्या**

पुराणों में वैदिक (संहिता तथा उपनिषद् के) मन्त्रों की बहुशः व्याख्या मिलती है जिसमें मूल मन्त्र का तात्पर्य कभी थोड़े ही शब्दों में और कभी विस्तार से बड़े वैशद्य से दिखलाया गया है। मूल अर्थ की असंदिग्ध तथा परिबृंहित व्याख्या पुराणों का निजी वैशिष्ट्य है।

(१) **विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्** (ऋ० १।१५४।१) **की विशद व्याख्या भाग० २।७।४० में की गई है जिसमें मूल तात्पर्य का स्पष्टीकरण नितान्त श्लाघ्य और ग्राह्य है:—**

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।
चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरु कम्पयानम्॥

(२) **ईशावास्यमिदं सर्वम्** (ईशावास्योपनिषद् के मन्त्र) की व्याख्या केवल आदि पद के परिवर्तन के संग में **आत्मा वास्यमिदं विश्वम्** (भाग० ८।१।१०) में की गई है। यहाँ श्लोक ९ से लेकर १६ तक **मन्त्रोपनिषद्** नाम से व्यवहृत किया गया है (८।१।१७) यह स्पष्ट सिद्ध करता है कि ग्रन्थकार उपनिषद् के ही मन्त्रों का प्रयोग साक्षाद्भावेन कर रहा है।

(३) **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया** (ऋ. १।१६४।२०; अथर्व ९।९।२०; श्वेताश्वतर ४।६) नामक विख्यात मन्त्र की व्याख्या भाग० ११।११।६ में

बड़े वैशद्य से की गई है जिससे मूल का गम्भीर भाव स्पष्ट अभिव्यक्त होता है। वायु ९।११९ में भी इसी मन्त्र का अर्थ संकेतित किया गया[1] है, परन्तु उतने वैशद्य से नहीं जैसे भागवत में।

(४) **ओं तत् सवितुर्वरेण्यं** (ऋ. ३।६२।१०) गायत्री मन्त्र की अत्यन्त विशद व्याख्या अग्निपुराण अ० २१६ (१–१८) में की गयी है। प्रश्न उठाया गया है कि गायत्री के उपास्य देव कौन हैं ? शिव, शक्ति, सूर्य तथा अग्नि जैसे विविध विकल्पों का परिहार कर विष्णु को ही गायत्री-मन्त्र द्वारा संकेतित देव माना गया है जो अग्निपुराण के वैष्णव रूपसे सर्वथा संगत ही है।

(५) **प्रणवो धनुः** (मुण्डक २।२।४) की व्याख्या भागवत ७।१५।४२ में की गई है—

> **धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति**
> **शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम्।**

यह व्याख्या मूलगत सन्देह को दूर करती है कि शर यहां जीव है, प्रत्यगात्मा ही है, परमात्मा नहीं। यहीं पर ७।१५।४१ श्लोक में '**रथशरीर**' की कल्पना कठोपनिषद् के आधार पर की गई है।

(६) **आत्मानं चेद् विजानीयात्** (भागवत ७।१५।४०) में बृहदारण्यक के 'आत्मानं वेद' (४।४।१२) के अर्थ का परोक्षरूपेण स्पष्टीकरण है।

(७) मुण्डक १।२।४ में अग्नि की सप्त जिह्वाओं का—काली, कराली, मनोजवा आदि का—समुल्लेख है। इसकी विशद व्याख्या मार्कण्डेय ९९।५२–५८ श्लोकों में की गई है।

(८) **चत्वारि श्रृंगा त्रयोऽस्य पादाः** (ऋ० ४।५८।३) बड़ा ही गम्भीरार्थक मन्त्र माना जाता है।। इस रहस्यात्मक मन्त्र की विविध व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं। महाभाष्य के पस्पशाह्निक में पतञ्जलि ने इसे शब्द की स्तुति माना है, मीमांसासूत्र १।२।४६ में यज्ञ की स्तुति तथा राजशेखर के काव्यमीमांसा में काव्यपुरुष की स्तुति मानी गई है। गोपथ ब्रा० १।२।१६ में यागपरक अर्थ ही माना गया है जो निरुक्त में स्वीकृत है। इस मन्त्र की दो प्रकार की व्याख्यायें पुराणों में मिलती हैं। स्कन्दपुराण के काशी खण्ड (७३ अ०, ९३–९६ श्लो०) में इसका शिवपरक अर्थ किया गया है। भागवत

---

१. दिव्यौ सुपर्णौ सयुजौ सशाखौ पटविद्रुमौ।
एकस्तु यो द्रुमं वेत्ति नान्यः सर्वात्मनस्ततः।।
—वायु० ९।११९,

ने इस मन्त्र की यज्ञपरक व्याख्या कर मानों इसी अर्थ के प्राधान्य की घोषणा की है—

नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतुःशृङ्गाय तन्तवे ।
सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः ।।

—भाग० ८।१६।३१

'यज्ञो वै विष्णुः' के अनुसार विष्णु-भक्ति के पुरस्कर्ता श्रीमद्भागवत की दृष्टि में यह व्याख्या स्वाभिप्रायानुकूल तो है ही; साथ ही साथ मूल तात्पर्य की भी द्योतिका है। यज्ञ ही वेद के द्वारा मुख्यतया प्रतिपाद्य होने से इस मन्त्र की यज्ञीय व्याख्या ही नितान्त समीचीन तथा ऐतिहासिक महत्त्वशाली प्रतीत होती है।

(९) ब्राह्मण वाक्यों की भी व्याख्या पुराणों में मिलती है। तैत्ति० आर० २।२ में सन्ध्याकर्म में विघ्न डालने वाले **मन्देह** नामक राक्षसों का वर्णन मिलता है। इन्हीं राक्षसों के कर्मों का विस्तृत विवरण वायु ५०।१६३-१६५ में किया गया है कि किस प्रकार वे सूर्य भगवान् को खाना चाहते हैं। ब्रह्मा, देवता तथा ब्राह्मणगण सन्ध्या कर्म में प्रयुक्त जल का जब क्षेपण करते हैं, तब वे राक्षस नाश प्राप्त करते हैं। क्योंकि वह जल ओंकार-संवलित गायत्री-मन्त्र के द्वारा अभिमन्त्रित होता है और इसलिए उस वज्रभूत जल से राक्षसों का सद्योनाश हो जाता है।[1]

(१०) भागवत के ११।१०।१२ श्लोक में आचार्य तथा अन्तेवासी को अरणिरूप बतलाया गया है तथा दोनों का सन्धान प्रवचन रूप में निश्चित किया गया है। यह पूरी व्याख्या तैत्ति० उप० १।३ की है।

---

१. तिस्रः कोटयस्तु विख्याताः मन्देहा नाम राक्षसाः ।
प्रार्थयन्ति सहस्रांशुमुदयन्तं दिनेदिने ।
तापयन्तो दुरात्मानः सूर्यमिच्छन्ति खादितुम् ।। —१६३
अथ सूर्यस्य तेषां च युद्धमासीत्सुदारुणम् ।
ततो ब्रह्मा च देवाश्च ब्राह्मणाश्चैव सत्तमाः ।
संध्येति समुपासन्तः क्षेपयन्ति महाजलम् ।। १६४ ।।
ओंकारब्रह्मसंयुक्तं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् ।
तेन दह्यन्ति ते दैत्या वज्रभूतेन वारिणा ।।
अग्निहोत्रे हूयमाने समन्ताद् ब्राह्मणाहुतिः ।
सूर्यज्योतिः सहस्रांशुः सूर्यो दीप्यति भास्करः ।।

—वायुपुराण—अध्याय-५०

(११) भागवत के ८।१९।३८ श्लोक में 'अत्रापि वह्वृचैर्गीतम्' प्रस्तावना के साथ सत्य तथा अनृत की व्याख्या की गई है तथा सत्य को आत्मारूपी वृक्ष का फल-पुष्प बतलाया गया है। यह पूरा प्रसंग (श्लोक ३८-४२) ऐतरेय आरण्यक के एक अंश की मार्मिक व्याख्या है जो मूल के अर्थ का विस्तार कर उसे संपुष्ट बनाती है।

(१२) **त्रियम्बकं यजामहे** (ऋक् ७।५९।१२ तथा शुक्ल यजु० ३।६०) रुद्रशिव का नितान्त प्रख्यात मन्त्र है। इस मन्त्र की व्याख्या लिंगपुराण में दो बार की गई है जहाँ मन्त्र के पदों की विस्तृत नाना व्याख्या दर्शनीय तथा मननीय है (१।३५।१६-३५ तथा २।३४।१७-३१)

निष्कर्ष—ऊपर दिये गये कतिपय मन्त्र स्थलों का व्याख्यान इस तथ्य का पर्याप्त द्योतक है कि पुराणों के रचयिता ने वेद के मन्त्रों के तात्पर्य का विशदीकरण कर उन्हें सामान्य जनता के लिए (जिन के लिए धर्मतत्त्व की मीमांसा करना पुराणों का मुख्य लक्ष्य है) बोधगम्य बनाया। नहीं तो इन दुरूह मन्त्रों का तात्पर्य समझना साधारण बुद्धि से बाहर की बात रहती। पौराणिक व्याख्या से वेद का रहस्य खिलता है और खुलता भी है।

(ग) वैदिक आख्यानों का पौराणिक बृंहण

वैदिक साहित्य में—संहिता तथा ब्राह्मण में—प्रसंगवश अनेक आख्यान स्थान-स्थान पर विभिन्न देवताओं के स्वरूप-विवेचन के समय वर्णित हैं। इन आख्यानों का पर्याप्त उपबृंहण पुराणों में किया गया है। इन आख्यानों को दो श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है—धार्मिक और लौकिक। धार्मिक आख्यानों के भीतर प्रजापति तथा विष्णु द्वारा अनेक रूपों के धारण करने की बात बहुशः उपवर्णित है, तो लौकिक आख्यानों में किसी विशिष्ट राजा का वृत्त, ऋषि का चरित्र या कोई अलौकिक लोकरंजन, प्रणय-कथा संक्षिप्तरूप में, कहीं विस्तृतरूप में विवृत है। इन समस्त आख्यानों के सूक्ष्म वैदिक संकेतों की पुराणों ने बड़े ही वैशद्य के साथ व्याख्या की हैं। यह व्याख्या-पद्धति पुराण की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है। पुराण का प्रणयन लोक-समाज को सुलभ शैली में गम्भीर वैदिक तत्त्वों का लोकप्रिय उपदेश देने के निमित्त ही किया गया है। वेद के आख्यान को पुराणों ने एक विशिष्ट तात्पर्य तथा उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही परिबृंहित किया है। वेदों में प्रजापति के ही नाना रूप धारण करने का उल्लेख मिलता है। पुराणों ने अवतारवाद के सिद्धान्त की संपुष्टि में इन समग्र कथाओं का उपयोग किया है और प्रजापति के स्थान पर वे समग्र रूप में विष्णु या नारायण द्वारा गृहीत माने गये हैं। अतिरंजना या मनोरंजक सातिशय का भाव अनेक कथाओं के उपबृंहण का निमित्त ठहराया जा

सकता है। दो चार दृष्टान्त ही इस मत के पोषण के लिए यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं।

(१) प्रजापति के द्वारा मत्स्य रूप धारण का आख्यान शतपथ ब्राह्मण (२।८।१।१) में संक्षेपरूप से दिया गया है। जलप्लावन से इस कथा का सम्बन्ध पूर्व अध्याय में अभिव्यक्त किया गया है। इस कथा का उपबृंहण पुराणों में अनेकत्र मिलता हैं। द्रष्टव्य भागवत १।३।१५; ८।२४।११-६१। अग्नि २।४९; गरुड १।१४२; पद्म ५।४।७३; महाभारत शान्ति अध्याय ३४०; मत्स्य पुराण का आरम्भ तो इस आख्यान के उपबृंहण के लिए किया गया है। इसका प्रथम अध्याय इस प्रसंग में मननीय है।

(२) कूर्म का आख्यान तैत्ति० आर० (१।२३।३), शतपथ ब्रा० ७।५।१।५ तथा जैमिनीय ब्रा० ३।२७२ में संक्षिप्त रूप से दिया गया है। कूर्म प्रजापति का ही स्वरूप बतलाया गया है। पुराण इस कूर्म को भगवान् विष्णु का द्वितीय अवतार मानकर इस आख्यान की विस्तृत व्याख्या करते हैं। द्रष्टव्य भाग० ८।७; कूर्म-पुराण १।१६।७७ ७८; अग्नि ४।४९; गरुड १।१४२; पद्म ५।४ तथा ५।१३; ब्रह्म अ० १८० तथा २१३; विष्णु १।४।

(३) प्रजापति को वराह रूप धारण करने की कथा का संकेत तैत्तिरीय संहिता (७।१।५।१) तथा शतपथ (१४।१।२।११) में उपलब्ध होता है, परन्तु यह कथा ऋग्वेद में भी उल्लिखित है। ऋग्वेद के अनुसार विष्णु ने सोमपान कर एक शत महिषों को और क्षीरपाक को ग्रहण किया, जो वास्तव में 'एमुष' नामक वराह की सम्पत्ति थे। इन्द्र ने इस वराह को भी मार डाला।[1] शतपथ के अनुसार इसी एमुष वराह ने जल के ऊपर रहने वाली पृथ्वी को ऊपर उठा लिया था। तैत्तिरीय-संहिता पृथ्वी को ऊपर उठाने वाले इस वराह को प्रजापति का रूप मानती है। इसी कथा का उपबृंहण वराह अवतार के प्रसंग में पुराणों ने किया है। द्रष्टव्य विशेषतः भागवत ३।१३। ३५-३९; विष्णु १।४।३२-३६ आदि।

(४) ऋग्वेद के सूक्तों में उरुगाय त्रिविक्रम विष्णु की कथा बहुशः वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण (१।२।५।१) में वामन का असुरों से पृथ्वी जीतकर देवों को दे देने की घटना का विस्तरशः निर्देश है। इस घटना का उपबृंहण प्रायः

---

१. विश्वेत् ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः।
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम्॥

—ऋग्वेद ८।७७।१०

पुराणों में सर्वत्र है। वामन पुराण का नामकरण तो इसी घटना के उपलक्ष्य में किया गया है और वहां इसका विस्तार से वर्णन भी है[1]।

(५) पुरूरवा उर्वशी का आख्यान ऋग्वेद के विख्यात आख्यानों में अन्यतम है। मूलतः यह स्वल्पकाय है, परन्तु पुराणों में इसका अतिरंजना के साथ उपबृंहण किया गया है। विष्णु पुराण (४।६) ने चन्द्रवंश के आरम्भ के प्रसंग में पुरूरवा का आख्यान बड़े ही विस्तार तथा वैशद्य के साथ एक पूरे अध्याय में दिया है। हरिवंश १।२६ में भी यह वर्णित है। श्रीमद्भागवत ने एक पूरे अध्याय (९।१४) में ऐलोपाख्यान के अवसर पर इस आख्यान का उपवृंहण किया है। इतना ही नहीं, इसी अध्याय के ३३ श्लोक से लेकर ३८ श्लोक तक पांच मन्त्रों के भाव विशद अनुष्टुपों में अभिव्यक्त किये गये हैं। चन्द्रवंश के प्रारम्भ से सम्बद्ध होने के हेतु इसका संकेत अनेक पुराणों में तो वर्तमान ही है; भागवत तथा विष्णु में इसका उपबृंहण संस्कृत में प्रणय-कथा का विशुद्ध साहित्यिक रूप भी प्रस्तुत करता है।

(६) **हरिश्चन्द्र तथा शुनःशेष का** आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण (अ० ३३) में विस्तार से वर्णित है। यह आख्यान ऋग्वेद के मन्त्रों में भी अव्यक्तरूपेण संकेतित माना जाता है, परन्तु विस्तार है ऐतरय ब्रा० में निश्चयरूपेण। इस कथा का उपवृंहण पुराणों में बहुशः किया गया है, विशेषतः मार्कण्डेय अ० ८ तथा ब्रह्मपुराण अध्या १०४ (हरिश्चन्द्र तीर्थ के प्रसंग में) ब्रह्मपुराण तो अपने विवरण के संग-साथ में ऐतरेयस्थ मन्त्रों की भी व्याख्या करता गया है—

नापुत्रस्य लोकोऽस्ति तत् सर्वे पशवो विदुः (ऐत०) = नापुत्रस्य परो लोको विद्यते नृपसत्तम (ब्रह्म० १०४।७)। मार्कण्डेय का हरिश्चन्द्रोपाख्यान नितान्त मंजुल, प्रभावोत्पादक तथा साहित्यिक है। श्मशान का यथार्थ वर्णन कर इस पुराण ने कथानक में रोचकता तथा स्वाभाविकता का पूर्ण प्रसार प्रदर्शित किया है (अ० ८, श्लो० १०७–११८)। वैदिक कथा का यह उपवृंहण पिछले युग के कथा-विकास का मूल प्रवर्तक माना जा सकता है। श्रीमद् भागवत ने भी ९।७ में वैदिक मन्त्रों की विशद व्याख्या भी प्रस्तुत कर दी है। देवी भाग० ७।१३–२७ ऐतरेय का बहुशः अनुगमन कर इस कथा को रोचक ढंग से वर्णन करता है।

(७) **नाचिकेतोपाख्यान**—नचिकेत का उपाख्यान तैत्तिरीय-ब्राह्मण तथा कठोपनिषद् में पर्याप्तरूपेण विस्तृत है तथा विद्वज्जनों में विश्रुत है। इस

---

१. इन चारों अवतारों के वैदिक मूल तथा पौराणिक उपवृंहण की विस्तृत चर्चा 'पौराणिक अवतार वाद' के प्रसंग में पञ्चम परिच्छेद में की गई है। जिज्ञासुजन उसका अनुशीलन अवश्य करें।

आख्यान का उपबृंहण इतिहास (महाभारत) तथा पुराण (वराह) में विशेष रूप से मिलता है साथ ही साथ परिवर्तित परिस्थिति में मूल तात्पर्य का समयानुसारी परिवर्तन भी करके आख्यान में रोचकता तथा समयानुकूलता दोनों का सामञ्जस्य प्रस्तुत किया गया गया है । इस कथा के विकास का गम्भीर ऐतिहासिक अनुशीलन परिशिष्ट रूप से यहां प्रस्तुत किया जाता है जिससे परिबृंहण की दिशा का भी परिचय जिज्ञासुजनों को मिल जावेगा ।

(घ) वैदिक प्रतीकों की पौराणिक व्याख्या

वेद की भाषा निश्चयरूपेण प्रतीकात्मक है । वहां रूपकों की सहायता से मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है, परन्तु रूपकों को यथार्थतः समझना एक विषम पहेली है । इसकी कुंजी पुराणों में अन्तर्निविष्ट हैं । पुराणों की सहायता से ही यह गम्भीर तत्त्व उद्घाटित किया जा सकता है । इस विषय में वेद तथा पुराण में किसी प्रकार का विरोध नहीं है । जो तत्त्व वैदिक मन्त्रों में रूपकालंकार की लपेट में गुह्यरूप से निर्दिष्ट हैं, वे ही पुराणों में सरल सुबोध शैली में सामान्य जनता के उपदेशार्थ रोचक शब्दों में प्रकट किये गये हैं । तात्पर्य दोनों ग्रन्थों का एक ही अभिन्न है । इसलिए वेद में श्रद्धा रखने वाला जन पुराण में अश्रद्धा रखे; यह एक विषम तथा औचित्य-विहीन कथन है । पुराण वे ही बातें विस्तार से कहता है जो वेद ने सूक्ष्मरूप में कहा है अथवा केवल संकेतित किया है । इस तथ्य को भुलाना क्या है ? मानों हिन्दू धर्म के मौलिक तथ्य की जानकारी से पराङ्मुख होना है । पुराणों के वर्णनों में कहीं असम्बद्धता, असंगति, तथा व्यवहार-विरुद्धता का जो दोष दृष्टिगोचर होता है, उसे ठीक-ठीक समझने के लिए वेदों के पास आलोचकों को जाना होगा । वैदिक प्रतीकों को यथार्थ रूप से न जानने के कारण ही पुराणों पर दोषों का तीव्र आरोप किया गया है, क्योंकि पुराण वैदिक प्रतीकों की ही व्याख्या अपनी कहीं सुबोध शैली में, और कहीं ऐतिहासिक पद्धति में करता है । और इन प्रतीकों का अज्ञान अथवा अल्पज्ञान ही पुराणों के ऊपर कलंक लगाने का सर्वथा उत्तरदायी माना जा सकता है । ठोस दृष्टान्तों से इस आरोप-परिहार के तथ्य को समझना होगा ।

(१) अहल्यायै जारः

इन्द्र अहल्या का (या मैत्रेयी अहल्या का) जार (उपपति) था -- यह कथन अनेक वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है[1] इतना ही नहीं, पूर्व दिशा का स्वामी

---

१. शतपथ ३।३।४।१८, तैत्ति० १।१२।४; षड्विंश १।१; लाट्यायन श्रौतसूत्र १।३।१.

इन्द्र सहस्राक्ष हो जाने से अतिपश्य अर्थात् क्रान्तदर्शी हुआ—यह कथन भी अथर्व वेद (११।२।१७) के एक मन्त्र में उपलब्ध होता है।[1] अर्थात् इन्द्र अहल्या का जार तथा सहस्रनेत्र-सम्पन्न व्यक्ति था—यह तथ्य वैदिक ग्रन्थों से अभिव्यक्त होता है। अब पुराणों की ओर दृष्टिपात कीजिए। देवीभागवत (१।५।४६) तथा ब्रह्मवैवर्त (कृष्ण-जन्म-खण्ड ६१।४४–४६) में तथा वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड (अ० ४९) में गौतम ऋषि और अहल्या की कथा वर्णित है जो लोक में नितान्त विश्रुत है। देवराज इन्द्र ने गौतम ऋषि की धर्मपत्नी अहल्या का धर्षण किया, जिससे रुष्ट होकर गौतम ने अहल्या को पाषाण बन जाने का तथा इन्द्र को 'सहस्रभग' बन जाने का शाप दिया। प्रार्थना करने पर ऋषि ने प्रसन्न होकर अहल्या को रामचन्द्र के पादस्पर्श होने पर मुक्ति पाने का तथा इन्द्र को 'सहस्राक्ष' होने का आशीर्वाद दिया। विचारणीय प्रश्न है कि इस इन्द्र-अहल्या वृत्त का वास्तविक तात्पर्य क्या है ?

इस समस्या का समाधान कुमारिलभट्ट ने अपने 'तन्त्रवार्तिक' में बड़ी युक्तिमत्ता के साथ किया है। उन्होंने इस कथानक के रूपक का रहस्य समझाया है। यह वेदगाथा सूर्यरात्रि के दैनन्दिन व्यवहार की द्योतिका है। चन्द्रमा ही गोतम है (उत्तम गावो रश्मयो[2] यस्य सः गोतमः)। चन्द्र की पत्नी रात्रि ही अहल्या है; अहर्लीयते यस्यां सा; दिन जिसमें लीन हो जाय ऐसी अर्थात् दिन को अपने में लीन कर देने वाली—'अहल्या' का यह निरुक्तिगम्य अर्थ है। सूर्य ही परमैश्वर्य से सम्पन्न होने के हेतु, इन्द्र है। इन्द्र और सूर्य के ऐक्यबोधक वाक्य वैदिक साहित्य में बिखरे पड़े हैं, यथा—

य एष सूर्यस्तपति, एष उ एव इन्द्रः।

—(शतपथ ४।५।९।४)

सूर्य के उदय लेते ही रात्रि जीर्ण होकर भाग खड़ी होती है। अतः रात को जीर्ण कर देने के हेतु सूर्य 'जार' कहलाता है[3] (रात्रि को जीर्ण = परिसमाप्त कर देने वाला)। अतएव कुमारिल (सप्तमशती) की सम्मति में 'चन्द्रमा की पत्नी रात्रि सूर्य के उदित होते ही जीर्ण होकर समाप्त हो जाती है' यही

---

१. सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्तात्—अथर्व ११।२।१७

२. सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते······सर्वेऽपि रश्मयो गावः उच्यन्ते।

—निरुक्त २।२।२.

३. आदित्योऽत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयिता।

—वही, ३।३।४

लोक-व्यवहार की प्रतिदिन साक्षात्कृत घटना का वर्णन पूर्वोक्त वेद-गाथा में किया गया है। कुमारिल से एक हजार वर्ष पूर्व होने वाले यास्काचार्य ने भी इसी तात्पर्य की ओर संकेत किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इस व्याख्या का प्रामाण्य मान कर ठीक ऐसी ही व्याख्या की है[1]। फलतः पुराण-वर्णित अहल्या-चरित में किसी प्रकार की अश्लीलता या दुराचरण का स्पर्श भी नहीं है।

पुराण तथा रामायण में वैदिक गाथा का स्पष्टतः उपबृंहण है। अहल्या की कथा ऐतिहासिक जगत् से भी सम्बद्ध है। इसे यथार्थ इतिहास मानना भी पौराणिक शैली से अनुचित नहीं होगा। इस धर्षण का कारण भी रामायण[2] में उपन्यस्त है। गौतम ऋषि उग्र तपस्वी थे जिनका तप समग्र जनस्थान को ध्वस्त तथा दग्ध करने में समर्थ था। देवों का उनसे इस कारण भयाक्रान्त होना स्वाभाविक था। वे गौतम की उग्र तपस्या को भंग करना चाहते थे, परन्तु प्रश्न था किस प्रकार? बिना क्रोध उद्दीप्त किये उनकी तपस्या निष्फल नहीं हो सकती थी। इसीलिए इन्द्र देवगणों की इच्छा तथा स्वीकृति से इस कुकर्म में प्रवृत्त हुए। इस घटना से क्षुब्ध होकर गौतम ने शाप दिया जिससे उनकी तपस्या का फल-विफल हो गया। एक नारी के धर्षण से (वस्तुतः अहिल्या ब्रह्मा की मानसी सृष्टि थी तथा इन्द्र सूक्ष्म देहधारी दिव्य प्राणी थे जिससे अमैथुनी सृष्टिविषयक होने से यह धर्षण नहीं कहा जा सकता) यदि राष्ट्र के लाखों व्यक्तियों का कल्याण हो, तो वह कथमपि हेय नहीं माना जा सकता।

पुराण के उपबृंहण पर ध्यान दीजिये। इन्द्र को 'जार' (उपपति) बतला कर भी वेद उसके दोष के मार्जन की व्यवस्था नहीं करता। उधर पुराण मानव-मर्यादा की रक्षा के लिये दोषी व्यक्ति के पदाधिकार का बिना ध्यान दिये ही उसे उचित दण्ड देने की व्यवस्था करता है। इन्द्र को वृषणहीन होना पड़ा (या कल्पान्तर में सहस्र भग से सम्पन्न होना पड़ा)। परन्तु इन्द्र ने लोको-

---

१. ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका पृष्ठ ३००।

२. कुर्वता तपसो विघ्नं गौतमस्य महात्मनः।
क्रोधमुत्पाद्य हि मया सुरकार्यमिदं कृतम्॥
अफलोऽस्मि कृतस्तेन क्रोधात्मा च निराकृतः।
शापमोक्षेण महता तपोऽस्यापहृतं मया॥
तन्मां सुरवराः सर्वे ऋषिसंघाः सचारणाः।
सुरकार्यकरं यूयं सफलं कर्तुमर्हथ॥

—वाल्मीकि-रामायण बालकाण्ड ४९

पकारार्थ किये गये कर्म से देवगण सन्तुष्ट हुए और उन्होंने इन्द्र को मेष का वृषण (अण्डकोश) लगाकर उन्हें 'सवृषण' बना दिया। रूपक-दृष्टि से देखने पर यह घटना दैनन्दिन घटना का प्रतीकमात्र है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचारने पर यह राष्ट्रहित का महनीय कार्य है। उभय दृष्टियों को ध्यान में रखने पर पुराणस्थ घटना में कोई भी विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती।

(२) तारापतिश्चन्द्रमाः

बृहस्पति तथा चन्द्रमा से सम्बन्ध रखने वाली एक आख्यायिका वेदों में उपलब्ध होती है। इन कथा-सूत्रों को एकत्र गुम्फन करने पर कथा का निखरा रूप इस प्रकार अभिव्यक्त होता है। चन्द्रमा ने अपने गुरु बृहस्पति की धर्मपत्नी तारा को हठात् छीन लिया। हजार बार माँगने पर भी जब उसे नहीं लौटाई, तब घन घोर देवासुर-संग्राम छिड़ गया। ब्रह्मा जी ने बीच-बचाव करके तारा को बृहस्पति को लौटा दिया। इसी बीच में उसे 'बुध' नामक पुत्र उत्पन्न हो गया था, जो चन्द्रमा का ही पुत्र सिद्ध होने पर उसे ही दे दिया गया। कथा नितान्त अश्लील है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। पुराणों में (भागवत ९।१४।४-१४) तथा देवीभागवत में यह कथा इसी रूप में उपलब्ध होती है। यह पौराणिकरूप वैदिकरूप का उपबृंहण मात्र है।

अथर्ववेद में तथा ताण्ड्य ब्राह्मण में इस कथा के बीज स्पष्टरूप से मिलते हैं[1] :—

(क) सोम पहिला राजा हुआ जिसने ब्राह्मण (बृहस्पति) की जायाको बिना लज्जा किये निर्लज्जतापूर्ण फिर से लौटा दिया।

(ख) जिस स्त्री को बढ़ी केशों वाली (विकेशी) तारका ऐसा कहते हैं।

(ग) सोम के द्वारा ली गई अपनी जाया को बृहस्पति ने प्राप्त किया।

(घ) बुध सौमायन कहलाता है, क्योंकि वह सोम का पुत्र है।

---

१. (क) सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमाणः ॥
—अथर्व० ५।१७।२

(ख) यामाहुस्तारकैषा विकेशीति।
—वही ५।१७।४

(ग) तेन जायामन्वविन्दत् बृहस्पतिः सोमेन नीताम्।
—वही ५।१७।५

(घ) सौमायनो (सोमपुत्रो) बुधः।
—ताण्ड्य ब्रा० २४।१७।६

विष्णु पुराण (चतुर्थ अंश, षष्ठ अध्याय १०-३३) और श्रीमद्भागवत में ऊपर निर्दिष्ट निर्देश (९।१४।४-१४) के द्वारा इस कथा के रूप का पता चलता है जो संक्षेप में ऊपर दी गई है। वेद के दिये गये निर्देशों से इस कथानक के भीतर वर्तमान प्रतीक का तात्पर्य नहीं खुलता, परन्तु भागवत की व्याख्या से इस रहस्य का पता भल-भाँति लग सकता है—

सुरासुरविनाशोऽभूत् समरस्तारकामयः।

—भाग० ९।१४।७

इस घटना के होने पर जो देवासुर-संग्राम छिड़ गया था, वह ऐतिहासिक न होकर **तारकाओं का युद्ध था। 'समरस्तारकामयः'** इस विचित्र कथा के रहस्योद्घाटन की कुंजी है। भागवत के कथनानुसार जब चन्द्रमा ने तारा को देना स्वीकार नहीं किया, तब शुक्राचार्य ने देवगुरु बृहस्पति के द्वेष से चन्द्रमा को असुरपक्ष में मिला लिया। और उधर भी शिव ने तथा देवराज इन्द्रने देवगणों के साथ बृहस्पति का पक्ष लिया। तभी युद्ध छिड़ गया। युद्ध की समाप्ति तब हुई जब तारा बृहस्पति को मिल गई और बुध चन्द्रमा को प्राप्त हुआ।

इस कथा को ऐतिहासिक रूप में लेने का अवसर-प्राप्त प्रसंग है भागवत पुराण में। चन्द्रवंशीय नरेशों की उत्पत्ति बतलाते हुए भागवत का कथन है कि ब्रह्मा से उत्पन्न हुये अत्रि। अत्रि से चन्द्रमा। चन्द्रमा से बुध और बुध से पुरुरवा। यह तो हुआ ऐतिहासिक पक्ष। परन्तु वस्तुतः यह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त का संकेत है। यह खगोलविषयक सिद्धान्त का प्रतीकात्मक विवरण है जिसका स्पष्ट कथन इस प्रकार समझना चाहिए :—बृहस्पति, चन्द्रमा, तारा तथा बुध—ये चारों ही खगोलीय नक्षत्र हैं। बृहस्पति ग्रह की कक्षा में भ्रमण करने वाला तारा नामक उपग्रह चन्द्रमा के आकर्षण के द्वारा अपनी मूल कक्षा से च्युत होकर चन्द्रकक्ष में आ गया। इस आकर्षण-विकर्षण के कारण आकाश-मण्डल में बड़ी गड़बड़ी मच गई। पुनः सूर्यरूपी प्रजापति (भागवत का विश्वकृत्) के पुनः आकर्षण होने पर तारा अपनी मूल कक्षा में बृहस्पति के पास आ गई। इस आकर्षणविकर्षण के कारण चन्द्रमा का कोई भाग, जो आकाश के आग्नेयवाष्पों के मिश्रण से उसका अपना स्वरूप ही बन गया था, उससे टूट कर अलग हो गया जिससे 'बुध' नामक ग्रह का जन्म हुआ। बुध में चन्द्रमा के अनेक अंश की सत्ता विद्यमान होने से वह चन्द्रमा का पुत्र माना जाता है।[1]

इस प्रकार की व्याख्या एक मर्मज्ञ पुराणविद् ने अपने ग्रन्थ में की है',

---

१. पण्डित माधवाचार्य शास्त्री : पुराण दिग्दर्शन पृष्ठ २९८-२९७ (दिल्ली)

परन्तु ज्योतिष के सिद्धान्तों से इस मत की ठीक संगति नहीं बैठती। चन्द्रमा से बृहस्पति सौरमण्डल में इतनी अधिक दूरी पर हैं कि इन दोनों के आकर्षण की कल्पना ठीक नहीं जमती। दूसरी बात यह है कि बुध ग्रह है और चन्द्रमा उपग्रह है जो बुध की अपेक्षा छोटा है। इस दशा में चन्द्र के शरीर से बुध के निकलने का पूर्वोक्त संकेत भी संगत नहीं होता। इसलिए इस पौराणिक आख्यान का ज्योतिःशास्त्र के ज्ञात सिद्धान्तों से सुसंगत व्याख्या यहाँ दी जाती है।[1]

पौराणिक कथा—चन्द्रमा गुरु का शिष्य था, तारा गुरु की पत्नी। चन्द्रमा ने तारा का बलात् धर्षण किया। इससे बृहस्पति क्रुद्ध हुए तथा बृहस्पति और चन्द्रमा का युद्ध हुआ। देवताओं ने इस युद्ध को छुड़ा दिया। तत्पश्चात् तारा से बुध की उत्पत्ति हुई और देवताओं ने उसे चन्द्रमा का पुत्र मान कर चन्द्रमा को दे दिया।

ज्योतिष अर्थ—पुराण में गुरु को देवताओं का गुरु माना गया है चन्द्रमा को एक देवता। अतः चन्द्रमा को गुरु का शिष्य मानना एक पौराणिक कल्पना है। प्राचीन काल में वैदिक आर्य लोग ग्रहों का वेध पृष्ठभूमि में स्थित तारों के संदर्भ से किया करते थे। ग्रहों की स्वाभाविक गति होने के कारण वह दूरस्थ तारों से कुछ हट बढ़ जाते थे। अतः उन्हें ग्रह मान लिया जाता था। बृहस्पति का भी इसी प्रकार ज्ञान हुआ होगा। संभवतः बृहस्पति का क्रान्ति-वृत्त के समीपस्थ किसी चमकीली तारा के साथ देखने से ही ज्ञात हुआ होगा कि बृहस्पति वर्ष भर में एक राशि अथवा ३०° पूर्व की ओर चलता है। अतः उसका पूर्वोक्त प्रकाशवती तारा के पास दृश्य होना तथा उसके साथ-साथ बहुत दिनों तक दिखलाई पड़ना संभव है। यदि दो प्रकाश वाले तारा ग्रह १ अंश से अधिक दूरी पर हों, तो उनके योग कों समागम कहते[2] हैं। संभवतः बृहस्पति उक्त तारा से एक अंश से कुछ अधिक दूरी के शरान्तर[3] पर होगा। इसी समागम के कारण उक्त तारा को बृहस्पति की पत्नी के रूप में कल्पना की होगी। यही उस तारा की संज्ञा पड़ गई होगी। कालान्तर में बृहस्पति के स्वगति से कुछ दूर पूर्व जाने पर पश्चिम से पूर्व को आते समय चन्द्रमा से उस तारा की युति

१. इस व्याख्या के लिए लेखक वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के ज्योतिषशास्त्र के प्राध्यापक डाक्टर मुरारिलाल शर्मा का आभार मानता है। इस व्याख्या की संगति बैठाने का श्रेय उन्हीं को है।

२. समागमोंऽशादधिके भवतश्चेद् बलान्वितौ।

—सू० सि० ग्र० प्र० अधि० १९

३ शर = क्रान्तिवृत्त (पृथ्वी का सूर्य की कक्षा) से दक्षिण अथवा उत्तर अन्तर।

होने से वह ढकी गई होगी। इसको उसका चन्द्रमा द्वारा धर्षण माना गया होगा। उसके बाद चन्द्रमा शीघ्र गति[1] होने के कारण बृहस्पति की ओर अग्रसर हुआ होगा। यदि बृहस्पति-युति के आसन्न काल में कृष्ण की द्वादशी या त्रयोदशी रही होगी तो युद्ध के पश्चात् चन्द्रमा का क्षीणकान्ति दृश्य होना स्वाभाविक है। यदि गुरु तथा चन्द्र का शरान्तर एक अंश से कम हो तो ऐसी स्थिति की संज्ञा अपसव्य युद्ध है।[2] अत एव गुरु और चन्द्र के युद्ध की कल्पना है। तत्-पश्चात् चन्द्रमा के अमान्त के आसन्न होने के कारण बुध के पास होना भी संभव है। सामान्य अवस्थाओं में बुध ग्रह की ओर ध्यान नहीं जाता क्योंकि यह सूर्य के अत्यासन्न रहता है।[3] किन्तु उस विशेप परिस्थिति में वेधकर्ता आर्यों का ध्यान उस तारा की तरफ भी गया। बुध की गति अत्यधिक होने से उसका ग्रहत्व शीघ्र ही ज्ञात हो गया होगा। इस प्रकार आर्यों ने एक नये ग्रह को खोज लिया जिसमें चन्द्र की तारा से युति ने ही उनका ध्यान आकृष्ट किया था। अत एव उसे चन्द्रमा द्वारा तारा के धर्षण करने से उत्पन्न, चन्द्रसुतत्व कल्पित किया। यही इस कथा की व्याख्या प्रतीत होती है।

(३) विश्वरूपं जघानेन्द्रः

शतपथ ब्रा० (१।२।३।२;१।६।३।२–५) में तथा ताण्डय ब्रा० (१७।५।१) में विश्वरूप तथा इन्द्र के सम्बन्ध में एक विचित्र कथानक है। विश्वरूप त्वष्टा के पुत्र थे जिन्हें थे तीन सिर, छः आंखें तथा तीन मुँह। इन्हीं विचित्रताओं के कारण ही वे 'विश्वरूप' नाम से पुकारे जाते थे। वे एक मुख से सुरा पीते थे, दूसरे से सोम और तीसरे से अन्न खाते थे। इन्द्र ने उनसे द्वेष किया तथा उनके तीनों सिरों को काट डाला। सोमपानवाला मुख बन गया कपिञ्जल, सुरापान वाला हो गया कलविंक तथा अन्न खानेवाला मुख हो गया तित्तिरि (तीतर नामक चिड़िया)। शतपथ के अनुसार यही कथा है। श्रीमद्भागवत (६।६।४४–४५ तथा ६।९।१–७) में यही कथा वैदिक कथा से अक्षरशः मिलती है। एक दो बातें बिल्कुल नई हैं—

(क) त्वष्टा ब्राह्मण देवता थे, परन्तु इन्होंने दैत्यों की अनुजा—छोटी बहिन—रचना से शादी की थी। उसी के पुत्र थे—विश्वरूप जो इसी हेतु, 'त्वाष्ट्र' कहलाते थे।

---

१. चंद्रगति लगभग प्रतिदिन १३° है।

२. अंशादूनेऽपसव्याख्यं युद्धमेकोऽत्र चेदणुः।

—सू० सि० ग्र० पृ० अधि १९ श्लोक

३. बुध सूर्य के अत्यन्त समीप रहता है। इसकी रवि से अधिकतम दूरी २८° है।

(ख) किसी कारण से रुष्ट होकर बृहस्पति ने अपने यजमान तथा भक्त देवों को छोड़ दिया था, जब वृत्रासुर के मारने के लिए यज्ञ करने का अवसर आया, तब बृहस्पति के अभाव में देवों ने इन्हीं त्रिशिरा, त्वाष्ट्र, विप्रवर्य विश्वरूप को अपने यज्ञ का पुरोहित बनाया, यद्यपि वे जानते थे कि ये हमारे शत्रु असुरों के भांजे हैं।

(ग) शतपथ में त्वाष्ट्र के इन्द्र द्वारा वध का कोई भी कारण निर्दिष्ट नहीं किया गया है। वहाँ केवल सामान्य शब्द हैं—तमिन्द्रो दिद्वेष (उस से इन्द्र ने द्वेष किया) फलतः मारने का कोई भी कारण न होने से वैदिक गाथामें इन्द्र द्वारा विश्वरूप-वध नितान्त अनुचित, अयुक्तिमत् तथा यादृच्छिक कार्य था। परन्तु पुराण ने उस जघन्य कार्य के लिए एक युक्तियुक्त हेतु, बतला कर सचमुच ही वेदार्थ का उपबृंहण किया है। वह हेतु है—चुपके[1] चुपके परोक्ष में असुरों को यज्ञ भाग का अर्पण। विश्वरूप के हृदय में मातृप्रेम उबलने लगा था और इसीलिए अपने पौरोहित्य के विरुद्ध भी वे देवों के प्रतिपक्षी (जिनके पराजय के निमित्त वह याग किया जा रहा था) असुरों को यज्ञ भाग देने में पराङ्मुख नहीं थे। इन्द्र ने उसे देखा और समझा। उनके शिरों को काट डाला जिससे उन्हें ब्रह्महत्या लगी।

(घ) ब्रह्महत्या लगने पर इन्द्र ने उसे अंजुली बाँध कर ग्रहण किया और उसका पूरा प्रतिशोध-प्रायश्चित्त किया। इस प्रकार देवराष्ट्र के हित में ही देवराज इन्द्र ने अपराधी पुरोहित का वध किया और उसका यथोचित प्रायश्चित्त स्वीकार कर उस हत्या से मुक्त भी हो गये। अपने राजमद के वशीभूत वे नहीं हुए।

इस प्रकार पौराणिक कथा ने मूल कथा की त्रुटि का परिहार कर और उसमें अवसर-विशेष तथा अपराध-विशेष की कल्पना कर युक्तियुक्त हेतु का ब्रह्महत्या के लिए जो निर्देश किया है वह यथार्थतः मूल का संपुष्टिकारक उपबृंहण है।

(४) ब्रह्मा स्वर्दुहितुः पतिः

ब्रह्मा अपनी पुत्री (वाग् या सरस्वती) के पति थे जिसका उन्होंने धर्षण किया—यह एक वैदिक प्रतीक है। वेद में जिस प्रकार से यह उपन्यस्त है, पुराणों ने भी उसे उसी रूप में बिना ननुनच किये, ग्रहण किया है। पुराणों पर इस वर्णन के लिए तीव्र दोष लगाया जाता है कि वह समाजविरोधी अधार्मिक

१. स एव हि ददौ भागं परोक्षमसुरान् प्रति।
यजमानोऽवहद् भागं मातृस्नेहवशानुगः॥

—भाग० ६।९।२

तथ्यों का वर्णन कर धर्मविरुद्ध आचरण को प्रोत्साहन देता है। इस कथा के पीछे विद्यमान प्रतीक को यथार्थ रूप से समझने की आवश्यकता है।

पुराण ने वैदिक गाथा का, कई अंशों की पूर्ति कर, उचित परिबृंहण किया है। वैदिक गाथा का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है—प्रजापति ने अपनी दुहिता का धर्षण किया (ऋग्वेद[१]), प्रजापति ने अपनी दुहिता का अनुगमन किया (ऐतरेय[२]), जिसका समर्थन शतपथ[३] ब्राह्मण करता है। अथर्ववेद[४] एक पग आगे बढ़ कर कहता है—पिता ने पुत्री में गर्भ स्थापित किया। इसी की पुष्टि ताण्ड्य ब्राह्मण[५] करता है कि प्रजापति आरम्भ में अकेला था। वाक् (सरस्वती) दूसरी थी। ये दोनों मिथुन बने। तब वह वाक् गर्भवती हुई। इन उद्धरणों से कथानक का संक्षिप्त रूप स्पष्ट हो जाता है।

श्रीमद्‌भागवत (२।१२।२८-३३) में ब्रह्मा-सरस्वती का यह प्रसंग ठीक इसी रूप में वर्णित है। 'काम के वशीभूत होकर स्वयम्भू ने कामनाहीन 'वाक्' नाम्नी अपनी पुत्री को चाहा'—ऐसा हमने सुन रखा है। अपने पिता को इस अधर्म कार्य में कृतमति देख कर मरीचि आदि पुत्रों ने उन्हें समझाया—'आजतक किसी ने भी ऐसा जघन्य कार्य नहीं किया है और आगे भी कोई ऐसा कार्य न करेगा। अतः आपको भी ऐसे कार्य में आसक्ति रखना नितान्त अनुचित और अधार्मिक है।' पुत्रों को इस प्रकार कहते हुए देखकर प्रजापति ने लज्जित होकर अपने शरीर का त्याग कर दिया।

दोनों कथाओं का ठीक एक ही आकार है। भागवत ने एक बात और भी जोड़ दी है कि अधर्म के प्रति अपनी अभिरुचि देखकर तथा अपने ही पुत्रों द्वारा अपमानित किये जाने पर प्रजापति ने अपना वह शरीर त्याग दिया। यह उचित प्रायश्चित्त है। इसका निर्देश मूल गाथा में नहीं है।

इस कथा के भीतर एक गम्भीर आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक तथ्य है जिसके न जानने से ही कथा में अश्लीलता तथा अनाचार की अभिव्यक्ति हो रही है। उसका निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है:—

---

१. प्रजापतिः स्वां दुहितरमधिष्कन् (ऋग्वेद, १०।६१।७)

२. प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत् (ऐतरेय, ३।३३)

३. प्रजापतिः स्वां दुहितरभिदध्यौ (शत०, १।७।४।१)

४. पिता दुहितुर्गर्भमाधात् (अथर्व, ९।१०।१२)

५. प्रजापतिर्वा इदमासीत्। तस्य वाक् द्वितीयासीत्। तां मिथुनं समभवत्। सा गर्भमाधत्त (ताण्ड्य० २०।१४।२)

(क) वैज्ञानिक तथ्य

प्रजाओं के पालन करने के कारण सूर्य ही प्रजापति है। यह प्रतिदिन का दृश्य है कि प्राची क्षितिज पर उषा का आगमन पहिले होता है और सूर्य का आगमन उसके पीछे होता है। सूर्य के आगमन होने पर उषा का जन्म होता है और इसलिए वह उसकी दुहिता कही गई है। उषा में सूर्य अपने अरुण किरणों का सन्निवेश कर दिवस रूपी पुत्र को उत्पन्न करता है। अरुण किरण रूपी बीज के निक्षेप के कारण ही दोनों में स्त्रीपुरुष का उपचार किया गया है। इस प्रकार सूर्य और उषा का दैनन्दिन व्यवहार यहाँ ब्रह्मादुहितृ रूप में चर्चित किया गया है। उषा का सूर्य द्वारा अनुगमन पुत्री का पिता द्वारा अनुगमन माना गया है तथा अरुण किरणों को बिखेर कर दिन की उत्पत्ति वीर्याधान की व्याख्या है। यही वैज्ञानिक तथ्य इस कथा के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। 'परोक्षप्रिया हि देवा प्रत्यक्षद्विषः' की शैली के आधार पर प्रत्यक्ष दृश्य घटना का यह परोक्ष संकेत है।[1]

श्रीमद्भागवत ने इस कथानक के वर्णन में इस संकेत की संक्षेप में अभिव्यक्ति की है। 'वाचं दुहितरं तन्वीम्' में 'तन्वी' शब्द का प्रयोग व्यञ्जना से प्रकट करता है कि यह दुहिता कोई स्थूल शरीर वाली न होकर सूक्ष्म शरीरिणी है तथा निषेद्धा मानसपुत्रों में 'मरीचि' ऋषि का उल्लेख प्रकारान्तर से 'किरण' का भी बोधन करता है। इस प्रकार भागवत सूर्य-उषा परक तात्पर्य को संकेत द्वारा प्रकट करता है।

(ख) आध्यात्मिक रहस्य

वेदों में मन की ही संज्ञा 'प्रजापति' है तथा 'वाक्' की संज्ञा सरस्वती है। यत् प्रजापतिस्तन्मनः (जैमिनिउप० १।३३।२) तथा वाग् वै सरस्वती (कौषीतकि ५।१) मन की सत्ता वाणी से पूर्ववर्तिनी होती है। मनुष्य जो भी प्रथमतः संकल्प करता है उसे ही वह वाणी द्वारा प्रकट करता है। मन की सत्ता पहिले है तथा वाणी की स्थिति उसके अनन्तर है। इस पारस्परिक सम्बन्ध के कारण मन पिता (प्रजापति) कहा गया है और वाक् दुहिता। जब मन रूपी पिता वाणी रूपी अपनी पुत्री में

---

१. इस व्याख्या का बीज ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विद्यमान है—प्रजापतिरुषसमध्यैत् स्वां दुहितरम् (ताण्डय ब्रा० ८।२।१०) जिसका पल्लवन कुमारिल भट्ट ने अपने तन्त्रवार्तिक में किया है;—प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकारात् आदित्य एवोच्यते। स च अरुणोदयवेलायामुषसमुद्यन्नभ्यैत्। सा च तदागमनादेवोपजायते इति तद्-दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते। तस्यां चारुणकिरणाख्यबीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषयोगवदुपचारः। —तन्त्रवार्तिक १।३।७

प्रेरणा रूपी वीर्य का आधान करता है, तब शब्द रूपी पुत्र का जन्म होता है। इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का आविष्करण इस कथा के मूल में वर्तमान है। इस अर्थ की सूचना ब्रह्मवैवर्त पुराण के किन्हीं श्लोकों द्वारा मिलती है।

(ग) आधिदैविक तथ्य

आधिदैविक स्तर पर भी इसकी व्याख्या की जा सकती है। वैदिक मन्त्रों के समान ही पौराणिक कथाओं की भी व्याख्या तीनों स्तरों को दृष्टि में रख कर की जा सकती है। वैदिक मन्त्रों की इस त्रिविध व्याख्या का मार्ग यास्क ने अपने निरुक्त में पूर्व ही प्रशस्त कर दिया है। उसी प्रक्रिया का प्रयोग पौराणिक कथानकों की व्याख्या के निमित्त भी करना चाहिये। आधिदैविक रूप में भी यह कथानक एक सारगर्भित तथ्य की अभिव्यञ्जना करता है। वह तथ्य वैदिक ग्रन्थों तथा स्मृतिग्रन्थों में स्थान-स्थान पर निर्दिष्ट किया गया है। सृष्टि के अवसर पर ब्रह्माजी ने अपने शरीर को दो भागों में विभक्त कर डाला। उसका वामभाग तो स्त्रीरूप हो गया तथा दक्षिण भाग पुरुष बना[1] और इन दोनों के संयोग से ही सारी सृष्टि—मनुष्य, पशु, गाय, अश्व आदि आदि की उत्पत्ति हुई। शतपथ के एक अंश (१४।३।४।२) में इसका विवरण बड़े विस्तार से दिया गया है। तथा मानव-पशु सृष्टि की प्रक्रिया बड़े सुन्दर ढंग से दिखलाई गई है। फलतः ब्रह्मा वाली यह कथा इसी आदिम सृष्टि रहस्य की प्रतिपादिका है।[2]

व्यावहारिक दृष्टि से भी इसकी पर्यालोचना करने पर इस में अधर्म की बात कहीं नहीं खटकती। इस अधार्मिक कृत्य की निन्दा तब उचित होती, जब इसका कर्ता विना दण्डित हुए रह जाता, प्रायश्चित्त किये विना जीवित बच जाता। वह तो हुआ नहीं। लोक के स्रष्टा होने पर भी ब्रह्मा को इसका

---

१. मनुस्मृति में भी यह रहस्य उद्घाटित है—

द्विधाकृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां तु विराजमसृजत् प्रभुः॥

—मनु १।३२

२. इन रहस्यों के अज्ञान के कारण ही पुराणों पर अनेक घृणित दोषों का आरोप किया जाता है। इनके समाधान के लिए द्रष्टव्य पण्डित माधवाचार्य शास्त्री रचित 'पुराण दिग्दर्शन' (तृतीय सं०, प्रकाशक माधव पुस्तकालय, देहली, पृष्ठ ४१०–७२०)। ऊपर की कई व्याख्याओं के लिए लेखक इस ग्रन्थ का विशेष ऋणी है तथा शास्त्री जी को अपना आभार प्रदर्शित करता है।

दण्ड भोगना पड़ा और वह उग्र दण्ड था अपने प्रिय प्राणों का भी धर्मवेदी पर समर्पण अर्थात् उनका त्याग :—

> स इत्थं गृणतः पुत्रान् पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन् ।
> प्रजापतिपतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा ॥
>
> —भाग० ३।१२।३३

इस प्रकार नाना दृष्टियों से विचार करने से इस बहुशः चर्चित तथा अनेकशः निन्दित कथा का मूल रहस्य सातिशय गम्भीर तथा गौरवशाली है। उसी रहस्य की पीठिका पर आश्रित होने से यह कथा सारवती तथा महिमान्वित है। इस प्रकार पुराणों ने वैदिक प्रतीकों का सरल-सुबोध तथा सहेतुक व्याख्यान प्रस्तुत कर उन्हें जनसाधारण के जिए ग्राह्य तथा आदरणीय बनाया है। यहाँ भी वेदार्थ का समुपबृंहण नाना दृष्टियों से चरितार्थ होता है।

परिशिष्ट

वेद, इतिहास तथा पुराण में नाचिकेतोपाख्यान

विद्वानों से यह बात सुपरिचित है कि में वेदों नाना प्रकार के भौतिक विषयों से सम्बद्ध आध्यात्मिक कहानियाँ मिलती है। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में कहीं ये कहानियाँ कुछ विस्तार के साथ तो कहीं संक्षेप रूप में उपलब्ध होती हैं। कहीं तो अपने मूल अभिप्राय में ही ये उपलब्ध होती हैं पर कहीं अभिप्राय भी बदल जाता है। इन आख्यानों का यदि अध्ययन किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस आख्यान का मूल रूप क्या है तथा किस प्रकार वह विकसित हुआ है।

वेद में नाचिकेतोपाख्यान

यह बात सुविदित है कि यह आख्यान वैदिक है। किन्तु यह आख्यान वेद की किसी मन्त्रसंहिता में उपलब्ध नहीं होता। सम्प्रति यह कथा **तैत्तिरीय-ब्राह्मण** (३।११।८), **कठोपनिषद्** प्रथम अध्याय, **महाभारत** (अनुशासन पर्व, ७१वां अ०), **वराहपुराण** (अ० १९३–२१३) में मिलती है। इस कथा के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन तत्तत् स्थलों पर इस कथा का अभिप्राय एक ही नहीं रहा है। यहाँ हम इसका विवेचन करेंगे।

मंत्र-संहिता में यह आख्यान नहीं है, इस कथन का प्रामाणिक विवेचन अपेक्षित है। ऋग्वेद १०।१३५ के देवता यम हैं तथा यमगोत्र कुमार ऋषि हैं। यह बात अनुक्रमणी से स्पष्ट है—**'यस्मिन्कुमारो यामायनो याममा-नुष्टुभं तु'**। इस यमगोत्र कुमार को सायणाचार्य नचिकेता ही बताते हैं। किन्तु सूक्त के मन्त्राक्षरों से यह कथा अनिर्दिष्ट है तथा सन्दर्भ से भी इसकी सम्पुष्टि नहीं होती। जैसे—

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनुवेनति॥

—ऋग्वेद, १०।१३५।१

सूक्त का यह आद्य मंत्र है। यद्यपि इस मन्त्र का सायणभाष्य नाचिकेतो-पाख्यानपरक है तथापि विद्वज्जनों को यह अभिमत नहीं। इस मन्त्र में 'नः' यह बहुवचन पद व्यत्यय से एकवचनान्त कर दिया गया है। 'विश्पति' शब्द 'विशां प्रजानां पतिः पालकः' इस विग्रह से प्रजापालक के अर्थ में बहुशः प्रयुक्त होता है। चतुर्थ चरण की व्याख्या है—**पुराणान् पुरातनान् अनु पश्चात्** **तत्समीपे निवसत्वयमिति वेनति मां कामयते मम नचिकेतसो जनकः।**

अर्थात् मेरा पिता चाहता है कि मैं पूर्वजों के समीप निवास करूँ। मूलमंत्र में 'वेनति' क्रियापद का कोई कर्म दिखाई नहीं पड़ता। 'माम्' पद का उपन्यास भाष्यकार ने किया है अतः उपर्युक्त व्याख्या समीचीन नहीं लगती। स्वयं आचार्य सायण भी उपर्युक्त व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं हुये और वे 'यथा वेति' वचन से इस सूक्त को सामान्य ऋषिपरक बताते हैं।

तैत्तिरीय-ब्राह्मण में नाचिकेतोपाख्यान

तैत्तिरीय ब्राह्मण के तृतीय काण्ड, एकादश प्रपाठक, अष्टम अनुवाक में यह कथा मिलती है और वहाँ यह कथा प्रसङ्गप्राप्त है। सातवें अनुवाक में पक्ष्याकारवायुदेवताविषयक नाचिकेताग्नि की उपासना तथा फलस्वरूप ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही गई है। यह कैसे प्राप्त होती है, इसी प्रश्न के समाधान के अवसर पर इस आख्यान का उपन्यास हुआ है। इस आख्यान का विषय संक्षेप में इस प्रकार है :—

वाजश्रवा नामक ऋषि ने सर्वस्व दक्षिणा वाले विश्वजिदादि याग के द्वारा उसके फल की इच्छा से यागमध्य में ऋत्विजों को सर्वस्व दान कर दिया। उस ऋषि के नचिकेता नामक पुत्र थे। उस समय नचिकेता की आयु उपनयन के योग्य थी। दक्षिणा में जिस समय गायें ले जायी जा रही थीं उस समय नचिकेता के मन में दानविषयक श्रद्धा आविर्भूत हुई। उसने सोचा कि इस याग में तो यजमान को सर्वस्व देना चाहिये और मैं भी अपने पिता की ही वस्तु हूँ। यह विचार उसने पिता से तीन बार पूछा कि मुझे किसे दे रहे हैं? पुत्र के इस आग्रह से पिता क्षुब्ध हो गये और कह दिया मृत्यु को तुझे देता हूँ। बालक नचिकेता पिता की इस अप्रत्याशित आज्ञा से किंचित् विस्मित हो गया। इसी समय दैवीवाक् ने कहा—'पिता ने तुझे मृत्यु को दे दिया। अतः तुम्हें मृत्यु के पास जाना चाहिये। यम के प्रवासी रहने पर जाओ, तीन रात बिना भोजन किये उनके घर रहो। जब लौटने पर यम पूँछे कि कितनी रातें वहाँ रहे हो तो तीन रातें बताना। भोजन विषयक प्रश्न किये जाने पर कहना कि पहली रात उपवास करके तुमने उनकी प्रजाओं का भक्षण किया, दूसरी रात में उनके पशुओं का भक्षण किया, तीसरी रात्रि में उनके सुकृतों का भक्षण किया।' दैवी वाक् से इस प्रकार आदिष्ट नचिकेता ने इसी प्रकार किया।

नचिकेता के इस शास्त्रमर्मानुसारी वचन से यम का हृदय द्रवित हो गया, वे उस बालक के प्रति आकृष्ट हो गये और निश्चय किया कि यह तो सत्कारार्ह है, मारणीय नहीं। उन्होंने कह दिया, वर माँगो। नचिकेता ने चट तीन वर माँग लिये। १. तुम्हारे द्वारा मारा न जाकर जीवित ही पिताजी के पास चला जाऊँ, २. मेरे इष्टापूर्त, श्रौतस्मार्तसुकृत की रक्षा हो, और ३. पुनर्जन्म-

निवारण के साधन विषयक जिज्ञासा। यम ने तीनों वरों को तुरन्त दे दिया। प्रथम वर तो यम के बिना कुछ किये ही प्राप्त हो गया। द्वितीय वर की पूर्ति के लिये नाचिकेत अग्नि का विस्तृत उपदेश किया और तीसरे वर में भी पुनः नाचिकेताग्नि-विद्या का उपदेश किया। एक अग्नि विद्या से ही दो फलों की सिद्धि कैसे हो सकती है, इस शङ्का का समाधान करते हुये आचार्य सायण ने लिखा है :—

"चयन और उपासना में जिस व्यक्ति की चयन की प्रधानता और उपासन की गौणता होती है उसकी इष्टापूर्ति अक्षय होती है, वह चिरकाल तक पुण्य लोक का अनुभव कर पुनर्जन्म स्वीकार करता है। जिसका उपासन प्रधान होता है और चयन गौण उसकी ब्रह्मलोक प्राप्ति के द्वारा मुक्ति हो जाती है, जन्मान्तर नहीं होता।"

(तैत्तिरीय ब्राह्मण, सायणभाष्य, पृ० १३८३, आनन्दा० सं०)

भाष्यकारका आशय यह है—दो वर की प्रार्थना में एक भी अग्निविद्या का उपदेश फलभेद से दो प्रकार से उपकारक है। होमाग्नि उपासना में अग्निचयन शब्द से विशिष्ट आकार वाली ईंटों से वेदी की रचना, तदनन्तर अग्नि की स्थापना और यज्ञीय साधनों से होमविधान ये सभी आदिष्ट हैं। वह्नि की देवता-रूप में उपासना और यजमान का उसमें मनोनिवेश यह परवर्ती विधि है। इसमें प्रथम से तो इष्टापूर्त की अक्षीणता निष्पन्न होती है और दूसरे से मृत्यु का अपक्षय होता है, यही सायणाचार्य का अभिमत है।

तैत्तिरीय ब्राह्मणगत आख्यान का यह संक्षेप है।

कठोपनिषद् में नाचिकेतोपाख्यान

कठोपनिषद् का आख्यान लोक में नितान्त प्रसिद्ध है। वह आख्यान भी तैत्तिरीय-ब्राह्मण के समान ही है यद्यपि कुछ विस्तृत रूप में मिलता है। दोनों कथाओं में कुछ भेद है जिसमें कठोपनिषद में जो नवीनता है उसका यहाँ निदर्शन किया जाता है :—

(क) दक्षिणा में ले जायी जाती हुई गायों की कृशता ही नचिकेता के पिता से प्रश्न का कारण है। क्योंकि :—

> पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरीन्द्रियाः।
> अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥
>
> —कठ०, १।१।३

निरीन्द्रिय गायों का दान आनन्दरहित तथा दुःखदायी लोकों को प्राप्त कराता है यही विचार कर नचिकेता अपने पिता वाजश्रवा से अपने दान के लिये पूछता है।

(ख) तैत्तिरीय ब्राह्मण में अशरीरिणी वाक् का सद्भाव है जो नचिकेता को भावी कार्य को करने का उपदेश करती है। कठोपनिषद् में इसका संकेत भी नहीं है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में दैवी वाणी के उपदेश से ही नचिकेता अपने कार्य के यथोचित सम्पादन में समर्थ हुआ। कठोपनिषद् में दैवी वाणी का अभाव नचिकेता की तेजस्विता और अन्तःसत्त्व को सद्यः प्रकाशित कर देता है। दैवी वाणी के विना उपदेश के ही कुशाग्र बुद्धि, असामान्यसत्त्व तथा दृढनिश्चयी नचिकेता सभी कार्यों को उसी भाँति निष्पन्न करता है, यह उसके चारित्र्य के प्रागल्भ्य का परिचायक है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थ में यम द्वारा बताये भौतिक वैभवविलास के प्रलोभन का संकेत भी नहीं है। पर, उपनिषद् में वह प्रलोभन नितान्त हृदयहारी है :

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान्कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः॥
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥

—कठ०, १।१।२५

इन प्रलोभनों से नचिकेता अपने निश्चय से जरा भी नहीं डिगा, यह उसकी प्रगल्भता और दृढ़ता का परिचायक है।

(ग) दूसरा पार्थक्य भी स्पष्ट ही है। दो ग्रन्थों में वरों की संख्या बराबर है—कठोपनिषद् में भी तीन वर ही हैं। पर प्रथम दो वरों में भेद न होने पर भी तीसरे वर के स्वरूप में बड़ा भेद है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में कर्मकाण्ड के अनुरूप याज्ञिक सरणि का अनुसरण कर पुनर्मृत्यु-निवारण के लिये नाचिकेताग्नि का उपदेश नितान्त समीचीन है। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थ में तो याग का ही प्राधान्य है। उपनिषद् में आध्यात्मिक उत्तर है। अतः ज्ञानकाण्डपरक कठोपनिषद् में आध्यात्मिक उत्तर सुतरां संगत है।

अतः ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थ में तात्पर्य में समानता होने पर भी उपदेश की भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है।

इतिहास में नाचिकेतोपाख्यान

महाभारत, अनुशासनपर्व के ७१वें अध्याय में समग्र नाचिकेतोपाख्यान प्राचीन इतिहास के रूप में वर्णित है। नचिकेता के पिता उद्दालक ऋषि ने दीक्षा के समाप्त होने पर नचिकेता को नदी तीर से समिधा, दर्भ, पुष्प, कलश-

जल लेने के लिये भेजा। किन्तु नदी के वेग से सब कुछ बह गया था अतः लौटकर बालक नचिकेता ने पिता से कहा दिया कि उसे वहां कुछ दिखाई नहीं पड़ा। यह सुन भूख-प्यास से आर्त ऋषि ने नचिकेता को शाप दे दिया—यम के पास जा। ऋषि के इस अतर्कित वाग्वज्र से आहत नचिकेता गतसत्त्व होकर सद्यः भूलुण्ठित हो गया। दुःखित पिता ने शेष दिन तथा रात को अत्यन्त दुःखी होकर बिताया।

पिता के अश्रु से सिक्त नचिकेता पुनः उठ बैठा। आश्चर्यचकित पिता ने नचिकेता से यमपुरी का वृत्तान्त पूछा। नचिकेता ने कहा—अत्यन्त प्रकाशमान वैवस्वती सभा में जाने पर यम ने अर्घ्यादि से मेरा स्वागत किया। और कहा कि तुम्हारे पिता ने केवल यमपुरी देखने के लिये कहा है अतः तुम मरे नहीं हो। मैंने उनसे पुण्यवानों के लोक देखने की इच्छा प्रकट की जिसे उन्होंने दिखाया। दूध और घी से भरी नदियों को देखकर मैंने यम से पूछा :—

> **क्षीरस्यैताः सर्पिषश्चैव नद्यः।**
> **शश्वत् स्रोताः कस्य भोज्याः प्रदिष्टाः॥**

अर्थात् दूध और घी से भरी ये नदियां किसकी भोज्य हैं। यम ने कहा—

> **यमोऽब्रवीद् विद्धि भोज्यास्त्वमेता**
> **ये दातारः साधवो गोरसानाम्।**
> **अन्ये लोकाः शाश्वता वीतशोकैः**
> **समाकीर्णा गोप्रदाने रतानाम्॥**

—महा., अनु, ७१।२९

यम ने गोदान की प्रभूत प्रशंसा की। गोदान के प्रसंग में पात्र, काल और गोविशेष की भी महिमा वर्णित है। शोभन समय में, शोभन विधि से, शोभन पात्र को दी गई गौ दाता को अनन्त दिव्य लोकों को देती है। हीन और पुरानी गौ देने पर दाता को नरक ही देती है:—

> **दत्त्वा धेनुं सुव्रतां कांस्यदोहां**
> **कल्याणवत्सामपलायिनीं च।**
> **यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्या-**
> **स्तावद् वर्षाण्यश्नुते स्वर्गलोकम्॥ ३३॥**

यह पद्य गोदान की प्रशंसा करता है। गौओं के साथ मानवों का प्रेम सदा से रहा है इसका प्रतिपादक यह श्लोक देखिये :—

> **गावो लोकांस्तारयन्ति क्षरन्त्यो**
> **गावश्चान्नं संजनयन्ति लोके।**

यस्तं जानन् न गवां हार्दमेति
स वै गन्ता निरयं पापचेताः ॥ ५२ ॥

—(महाभार० अनु० ७१)

इस प्रकार इस सम्पूर्ण अध्याय में वैवस्वत यम ने गोदान का गौरव बताया है।

विवेचन

यहाँ महाभारतीय नाचिकेत कथा का संक्षिप्त विवेचन किया जाता है। ७१ वें अध्याय से पूर्व ही गोदान का प्रसङ्गोपात्त वर्णन है। अनुशासन पर्व अध्याय ६९ में गोदान का माहात्म्य सामान्यतः वर्णित है। ७० वें अध्याय में नृग राजा के गोदानजन्य कीर्ति का वर्णन है (नृग का वर्णन श्रीमद्भागवत १०।६४ में विशेष रूप से है)। तदनन्तर गोदान की दृढ़ता से महत्त्वस्थापन के लिये प्रसङ्गोपात्त ७१ वाँ अध्याय आता है। वहाँ 'अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्' अर्थात् (इस विषय में यह पुराना आख्यान है) कह कर नचिकेता की कथा संक्षेप में वर्णित है। क्योंकि कथा संक्षेप में वर्णित है अतः कई कथांशों में सामञ्जस्य स्थापित नहीं होता। जैसे :—

(१) नचिकेता के अल्पापराध से ऋषि उद्दालक का शाप अनुचित प्रतीत होता है। ऋषि ने नचिकेता को नदीतीर से इध्मादि के आहरण के लिये कहा। नदी वेग से तत्तत् पदार्थों के बह जाने से नचिकेता उन्हें न ला सका अतः उसका इसमें कोई अपराध नहीं। इस प्रकार इस कथा में यह अनौचित्य दिखाई पड़ता है।

(२) कठोपनिषद् में वर्णित इस कथा में पिता द्वारा निरिन्द्रिय गायों के दान को देखकर नचिकेता का हृदय दुःखित हो उठा अतः उसने स्पष्ट इसका प्रतिरोध किया। इस प्रकार उपनिषद् में नचिकेता ने गोदान के उचित नियम का प्रतिपादन कर अपने ऊपर विपत्ति ली। यहां उसके हृदय की उत्कट गोभक्ति का परिचय मिलता है। स्वर्ग में गोदानकर्ताओं को उत्तम गति मिलती है इस महाभारतीय कथा का औपनिषदिक कथा से सामञ्जस्य होता है। किंतु महाभारत में इस कथांश का निर्देश नहीं अतः वहाँ पूर्वोत्तर के कथांश में असामञ्जस्य खटकता है।

पौराणिक नाचिकेतोपाख्यान

वराह-पुराण में अध्याय १९३ से २१२ तक नाचिकेतोपाख्यान वर्णित है। वहाँ इस कथा को 'पुरावृत्ता कथैषा' कहा गया है जिससे इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। वहां इस आख्यान की महिमा भी वर्णित है :—

शृणु राजन् पुरावृत्तां कथां परमशोभनाम् ।
धर्मवृद्धिकरीं नित्यां यशस्यां कीर्तिवर्धिनीम् ॥
पावनीं सर्वपापानां प्रवृत्तौ कीर्तिवर्धिनीम् ।
इतिहासपुराणानां कथां वै विदुषां प्रियाम् ॥

—वराहपुराण, १९३।१०-११

२१२ वें अध्याय के अन्त में कथा-समाप्ति के अवसर पर भी इसका महत्त्व प्रतिपादित है :—

इदं तु परमाख्यानं भगवद् भक्तिकारकम् ।
शृणुयाच्छ्रावयेद् वापि सर्वकामानवाप्नुयात् ॥

—वराह० २१२।२०-२१

यहाँ कथा अत्यन्त संक्षिप्त रूप से वर्णित है। कथा का स्वरूप इस प्रकार है:—

उद्दालक नामक कोई प्रसिद्ध ऋषि थे जो समस्त वेद-वेदाङ्ग में पारङ्गत थे। उनके पुत्र नचिकेता हुये और वे भी अत्यन्त बुद्धिमान् तथा समस्त वेद-वेदाङ्ग में पारङ्गत थे। पिता ने रुष्ट होकर पुत्र को शाप दिया—'जाओ शीघ्र यम को देखो'। योग विधि के ज्ञाता पुत्र ने पिता से कहा—'आप का वचन मिथ्या न हो इसलिये मैं शीघ्र ही धर्मराज की पुरी में जाऊँगा। यम का दर्शन कर निस्सन्देह यहां पुनः आ जाऊँगा।' क्रोध में ऋषि ने नचिकेता को शाप तो दे दिया पर पीछे उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ अतः उन्होंने पुत्र को यमपुरी जाने से बहुत रोका। किन्तु नचिकेता ने भावी पुत्रनाश की आशङ्का से सन्त्रस्त पिता को सत्यमार्ग से विचलित देखकर उन्हें सत्यमार्ग से न हटने के लिये बहुत प्रयत्न किया। सत्य की महिमा के प्रतिपादक ये श्लोक अत्यन्त उदात्त हैं:—

उदधिर्लंघयेन्यैव मर्यादां सत्यपालितः ।
मन्त्रः प्रयुक्तः सत्येन सर्वलोकहितायते ॥
सत्येन यज्ञा वर्तन्ते मन्त्रपूताः सुपूजिताः ।
सत्येन वेदा गायन्ति सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥
सत्यं गाति तथा साम सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।
सत्यं स्वर्गश्च धर्मश्च सत्यादन्यन्न विद्यते ॥
सत्येन सर्वं लभते यथा तात मयाश्रुतम् ।
न हि सत्यमतिक्रम्य विद्यते किञ्चिदुत्तमम् ॥

—वराहपुराण० १९३।३८-४१

पिता को अपने धर्म पर स्थिर कर नचिकेता उस परम स्थान पर गया जहाँ राजा यम रहते हैं। उन्होंने बालक को आया देख यथा विधि अर्चना कर तुरत लौटा दिया—

अर्चितस्तु यथान्यायं दृष्ट्वैव तु विसर्जितः ॥

नचिकेता वहाँ से लौटकर अपने पिता को आनन्दित करते हुये अपने आश्रम में आया। पुत्र को लौटा देख अपने भाग्य की उद्दालक प्रशंसा करने लगे और परलोक की कथा सुनने की इच्छा वाले अन्य ऋषि-मुनियों को बुला लिया। आश्रम में इकट्ठे उन लोगों ने यमलोक विषयक अनेक कौतूहलोत्पादक प्रश्नों को पूछा (अ० १९४)। यहाँ से लेकर २१२ अध्याय तक नचिकेता ने उन लोगों के प्रश्नों का उत्तर देकर उन्हें सन्तुष्ट किया। परलोक-विषयक जिज्ञासुओं के लिये ये अध्याय उपयोगी हैं तथा उन्हें इसका आलोडन करना चाहिये। १९५ वें अध्याय में यमलोकस्थ पापियों, और १९६ में धर्मराज की नगरी का विस्तृत वर्णन है जहाँ 'पुष्पोदका' नामक नदी बहती है। उसके तट पर ऊँचे प्रासाद हैं जो दर्शकों के मन को मुग्ध कर लेते हैं।

१९८ अध्याय में यमकृत नचिकेता की अभ्यर्थना वर्णित है। कुशास्तृत, पुष्पोपशोभित स्वर्ण आसन पर यम की आज्ञा से नचिकेता बैठे। यम का रौद्र मुख उस समय सौम्य हो गया। बालक नचिकेता ने उनकी प्रशस्त स्तुति की जिससे प्रसन्न होकर यम ने उन्हें चित्रगुप्त के पास भेजा। नचिकेता को चित्रगुप्त ने विविध नरक यातनाओं का दर्शन कराया। इन सबका नचिकेता ने अपने पिता के सामने यथावत वर्णन किया।

विवेचन

वराहपुराण में दी हुई कथा के विवेचन से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं :—

(क) वराहपुराण में यह कथा 'पुरावृत्ता' कही गयी है। इससे यह द्योतित होता है कि यह कथा प्राचीन है तथा यह अनुमान होता है कि यह कथा वैदिक है। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि पुराण-काल में यह कथा विस्मृत प्राय हो गयी थी।

(ख) ऋषि उद्दालक के क्रोध का कारण न देने से यहां कथा की नैसर्गिकता में बाधा आती है। किसी के भी क्रोध का हेतु होना चाहिये, उसके न होने से अनौचित्य प्रतीत होता है।

भावी पुत्रवियोग की आशंका से उद्दालक का पश्चात्ताप, उद्वेग, सत्य से प्रच्युति पाठकों को उद्विग्न कर देती है। ऋषि के हृदय में जिस दृढ़ता की अपेक्षा होती है उसकी कमी देखकर पाठकों का मन दुःखी होता है।

(ग) पुराणकार का अभीष्ट प्रतीत होता है यमलोक के वृत्तान्त, पुण्य कर्मों के परिपाक, और पापियों की नरकयातना का वर्णन। इसी उद्देश्य से प्राचीन नाचिकेत कथा यहाँ निर्दिष्ट है। साक्षात् देखी हुई वस्तु के वर्णन में जितनी श्रद्धा होती है उतनी सुनी हुई वस्तु के वर्णन में नहीं। इस विषय में नचिकेता की कथा नितान्त उचित प्रतीत होती है। पिता के शापवश नचिकेता ने स्वर्ग तथा नरक की गतियों का साक्षात् अवलोकन किया—इस वैदिक कथा को पुराणकार ने साग्रह तथा साभिप्राय यहां उपनिबद्ध किया है। दृष्ट वस्तु में श्रुत की अपेक्षा अधिक विश्वास जमता है। यही विचार कर नाचिकेत कथा पुराण में उपनिबद्ध है। कथा की प्राचीनता, प्रामाणिकता और विषयोपकारिता स्पष्ट है। समस्त स्थानों पर जहां यह आख्यान है मुनिबालक का नाम नचिकेता या नाचिकेत है।

नासिकेतोपाख्यान

उपर्युक्त पौराणिक कथा से कुछ सम्बद्ध, यद्यपि अनेकों भिन्नतायें वर्तमान हैं, एक नासिकेतोपाख्यान नामक पुस्तक उपलब्ध होती है। इसके कई हस्तलेख मिले हैं तथा कहीं से प्रकाशित भी हुई है। संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सरस्वती भवन पुस्तकालय में उपलब्ध हस्तलेखों के आधार पर इस कथा का उपन्यास किया जाता है।

यहां यह स्पष्ट कह देना उचित है कि नासिकेतोपाख्यान की कथा नाचिकेतोपाख्यान से सुतरां भिन्न है। इस आख्यान में कथा का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है :—

वेद-वेदाङ्ग में पारङ्गत महर्षि उद्दालक अपने आश्रम में उग्र तप कर रहे थे तभी वहां पिप्पलाद नामक ऋषि आये। उन्होंने गृहस्थाश्रम की बड़ी प्रशंसा की तथा पुत्रप्राप्ति की महत्ता वर्णित करते हुये कहा—

> **कुलानि तारयेत् तस्य सुपुत्रो वंशवर्धनः।**
> **अपुत्रस्य गृहं शून्यमपुत्रेण गृहेण किम्।**
> **अपुत्रो वंशनासोऽस्ति श्रुतिरेषा सनातनी॥**

मुनि अपने भाग्य को पूछने स्वर्गलोक में चले गये जहाँ प्रजापति ने उन्हें बताया कि पहले तो तुझे पुत्रलाभ होगा फिर पत्नी मिलेगी। आश्रम में लौटकर मुनि विषय की चिन्ता करने लगे और उनका वीर्य स्खलित हो गया। उसे उन्होंने कमल के पुष्प में रखकर गंगा नदी में छोड़ दिया। दैवयोग से किसी रघुनामक राजा की चन्द्रावती नामक लड़की थी जो उसी समय गंगास्नान के

लिये गई और उसने उस कमलपुष्प को देखा। सखियां उस फूल को उठा लायीं और राजकुमारी ने उसे सूंघ लिया। उद्दालक के अमोघ वीर्य से उसे गर्भ हो गया और दसवें महीने उसने नासाग्र से एक पुत्र उत्पन्न किया। नासाग्र से उत्पन्न होने से उसका नाम नासिकेतु या नासिकेत पड़ा—

नासाग्रेण समुत्पन्न ऋषिर्नाम तवाकरोत्।
नासिकेत इति ज्ञात्वा मम प्रोक्तं महात्मना॥

इस पुत्र को अन्याय से प्राप्त जान कर उस कन्या ने काष्ठ मञ्जूषा में रखवा कर, सखियों द्वारा गंगा जल में फेंकवा दिया। उस राजकुमारी के पिता को जब यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो उन्होंने अनर्थ की आशङ्का से उस लड़की को जंगल में छोड़वा दिया। काष्ठमञ्जूषा में बहते बालक को उद्दालक के शिष्य ने देखा और उसे उठा लाया। ऋषि ने उसका पालन-पोषण किया। चन्द्रावती भी उनके आश्रम पर पहुँची और अपना समस्त पूर्व वृत्तान्त बताया—

आगतं पद्मपुटकं दर्भेण परिवेष्टितम्।
तस्मिन्नाघ्रातमात्रेण जातं गर्भस्य धारणम्॥—४।४१

ऋषि को सब वृत्तान्त ज्ञात हो गया। उन्होंने रघु से जाकर समस्त समाचार निवेदन किया और नासिकेत को पुत्र रूप में तथा तदनन्तर चन्द्रावती को पत्नीरूप में ग्रहण किया। इस प्रकार प्रजापति द्वारा कही बात हो गयी।

किसी समय पिता ने नासिकेत को अग्निहोत्र की सामग्री लाने के लिये वन में भेजा। नासिकेत वन के किसी रमणीय भाग में जाकर समाधिस्थ हो गये और आधा वर्ष बीत गया। आने पर अग्निहोत्र में प्रत्यवाय की आशङ्का कर पिता उद्दालक ने नितान्त आक्रोश प्रकट किया। नासिकेत ने अग्निहोत्र की निन्दा कर योगविधि की प्रशंसा की—

अग्निहोत्रमिदं तात संसारस्य तु बन्धनम्।
जन्ममृत्युमहामोहे संसारे तव न ध्रुवम्॥
योगाभ्यासात् परं नास्ति संसारार्णवतारणम्॥

उसकी बात सुनकर क्रुद्ध पिता ने तुरत शाप दिया—

उवाच गच्छ शीघ्रं त्वं यमं पश्य सुताधम॥

अर्थात् तुम शीघ्र यमका मुख देखो।

नासिकेत ने यमलोक में जाकर यम की आज्ञा तथा चित्रगुप्त के अनुग्रह से यमलोक की यातनाओं तथा सुखों को स्वयं देखा। यमलोक से लौटने पर जब मुनियों ने उससे यमलोक का वृत्तान्त पूछा तो नासिकेत ने सभी बता दिया—

इत्यादि सर्वमाख्यातं तत्र दृष्टं मुनीश्वराः।
सन्देहो नात्र कर्तव्यः सर्वप्रत्ययदर्शनात्॥ १७।२९

इस ग्रंथ की हस्तप्रतियों का अवलोकन करने पर इसके दो पाठ दिखाई पड़ते हैं—(१) बृहत्पाठ और (२) लघुपाठ। इसकी बहुत सी हस्तप्रतियां उपलब्ध हैं। लघुपाठ वाले आख्यान का १८०३ ई० में सदल मिश्र ने कलकत्ता से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कराया जो हिन्दी के आरम्भिक ग्रन्थों में अपना विशेष महत्त्व रखता है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने इसे प्रकाशित किया है।[1]

नाचिकेतोपाख्यान—विमर्श

वेद, इतिहास तथा पुराण में उपलब्ध नाचिकेतोपाख्यान का संक्षिप्त विमर्श यहां प्रस्तुत किया जाता है :

(१) ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थ में ऋषिबालक का नाम नचिकेतस्' या नचिकेता है; इतिहासपुराण में नाचिकेत है। ब्राह्मण तथा उपनिषद् में पिता का नाम वाजिश्रवस है। फिर कठोपनिषद् में 'औद्दालकिरारुणिःमत्प्रसिष्टः में आरुणि को औद्दालकि भी कहा गया है। शाङ्कर भाष्य में उद्दालक एव औद्दालकिः' है अतः उसके पिता का उद्दालक भी नाम परिचित प्रतीत होता है। पुराण और महाभारत में उद्दालक या उद्दालकि ही नाम हैं।

(२) यह उपाख्यान वैदिक ही है। यह आख्यान सर्वप्रथम तैत्तिरीय-ब्राह्मण में दिखाई पड़ता है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि तैत्तिरीय-ब्राह्मण ही इसका मूल है। पर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि मूलतः यह आख्यायिका कठशाखा के अध्येताओं में ही प्रचलित थी। इस अनुमान का समर्थक यह प्रमाण है : तैत्तिरीय ब्राह्मण के मूल प्रपाठकों में स्वर्ग शब्द का उच्चारण 'सुवर्ग' है, यथा—

अपदातीनृत्विजः समावहन्त्या सुब्रह्मण्याया।
सुवर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै।
वाचं यत्वोपवसति—सुवर्गस्य लोकस्य गुप्त्यै॥

—तैत्तिरीय ब्रा० ३।८।१

किन्तु ११ वें प्रपाठक से आरम्भ कर तैत्तिरीय ब्राह्मण के अन्त तक यह बहुप्रचलित पद्धति उलट जाती है। यहां सुवर्ग शब्द स्वर्ग हो जाता है, यथा—

यो ह वा अग्नेर्नाचिकेतस्य शरीरं वेद, सशरीर एव स्वर्गं लोकमेति। हिरण्यं वा अग्नेर्नाचिकेतस्य शरीरम्। य एवं वेद। सशरीर एव स्वर्गं लोकमेति।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण, प्रपाठक ११, अनुवाक ७।

---

१. नासिकेतोपाख्यान की हस्तलिखित प्रतियों के विषय में विस्तृत विमर्श के लिए देखिये, काशिराजन्यास, रामनगर की पुराण पत्रिका (६।२) में मेरा एतद्विषयक निबन्ध। —पृ० ३९५-९६

अतः यह अनुमान होता है कि ये दोनों प्रपाठक किसी दूसरी शाखा के हैं जो इधर-उधर से यहाँ आ गये हैं। मूलतः ये दोनों प्रपाठक कठ शाखा के थे, यह अनुमान करना भी कठिन है। एकादश प्रपाठक में उपलब्ध यह आख्यान कठ शाखा का है; यह कथन भी विरुद्ध नहीं। अतः यह कहा जा सकता है कि कठोपनिषद् में सर्वाङ्ग रूप से उपलब्ध यह कथा कठशाखीय याज्ञिक सम्प्रदाय में ही मूलतः उत्पन्न हुई और अन्य ग्रन्थों में भी तात्पर्य-भेद से गृहीत वा स्वीकृत हुई।

(३) प्रेक्षकों को तात्पर्य में भेद भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस आख्यान का याज्ञिक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रहा और यह वहीं उद्धृत हुआ। अतः यह आख्यान कर्मकाण्डविषयक था इसमें कुछ विशेष कहने की अपेक्षा नहीं। कठोपनिषद् का वर्णन नाचिकेताग्नि का वैशिष्ट्य दर्शाता है। अन्य अग्नियों के चयन से उसके चयन में, ईंटों की संख्या में भेद है—**लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै, या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।'** यह कठोपनिषद् का ही वचन है। ब्राह्मण-ग्रन्थ में इस आख्यान का कर्मकाण्ड ही उद्देश्य है। नाचिकेताग्नि के सेवन से स्वर्गप्राप्ति तथा मृत्युहानि—ये दो तात्पर्य ब्राह्मण-ग्रन्थ में सुस्पष्ट हैं। चूंकि उपनिषद् में ब्रह्मविद्या का प्राधान्य है अतः यह कथा अध्यात्मविषयक है। उपनिषद् में नचिकेता का गौओं के लिये तीव्र कष्ट को अंगीकार करना, यमलोक में यम से ब्रह्मविद्या सीखना तथा लौटकर पिता का दर्शन वर्णित है। इतिहास-पुराण में इसके केवल दो ही भाग—गौ के लिये कष्टस्वीकृति तथा लौटना—ये ही मुख्य रूप से वर्णित हैं। महाभारत में यह कथा गो-महिमा के रूप में उपनिबद्ध है। पापी लोग परलोक में नाना तीव्र यातनाओं को सहते हैं और पुण्यात्मा लोग दिव्य लोकों को प्राप्त कर दिव्याङ्गनाओं के साथ अक्षय्य सुख भोगते हैं—यह नचिकेता के मुख से प्रामाणिक रूप से कहलवाकर पुण्य का परिपाक शुभ और पाप का परिपाक अशुभ होता है। यही इस आख्यान का सार है। इस प्रकार ग्रंथों के तात्पर्यभेद, कालभेद तथा परिस्थितिभेद से कथा का अभिप्राय बदल जाता है। मूलतः कर्मकाण्डपरक यह कथा उपनिषद् में विद्या-स्तुतिपरक हो गयी, महाभारत में गोदानप्रशंसापरक तथा इतिहास-पुराण में कर्मफल की ख्यापिका हुई। यह कालभेद के कारण हुआ। मूलतः नचिकेता का चरित्र तेजस्वी, ब्रह्मवर्चसम्पन्न तथा उदात्त था। ब्राह्मणकाल से आज तक परिवर्तित होती हुई भी यह कथा अत्यन्त लोकोपकारक है।

सप्तम परिच्छेद

पुराणों का वर्ण्य विषय

पुराणों का मुख्य वर्ण्य विषय पञ्चलक्षण ही है—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित। इन लक्षणों के स्वरूप का समीक्षण पुराणों के समझने के लिए नितान्त आवश्यक है। पीछे दिखलाया गया है कि पुराण का यही सर्वप्राचीन लक्षण है। इस परिच्छेद और अगले परिच्छेद में इन पाँचों विषयों की समीक्षा संक्षिप्त रूप में ही प्रस्तुत है। साथ ही साथ इतर विषयों का सामान्य निर्देश करने के अनन्तर पुराण-निर्दिष्ट भूगोल का भी विवरण अन्त में दिया जावेगा।

(१)

पौराणिक सृष्टितत्त्व

पुराण में सृष्टि-विद्या का बड़े वैशद्य से वर्णन किया गया है। 'सर्ग' (सृष्टि) पुराणों के पञ्चलक्षणों में से आद्य तथा मुख्य लक्षण है। पौराणिक सृष्टि-विद्या में सांख्य-दर्शन के द्वारा निर्दिष्ट सृष्टि-विद्या का विशेष अवलम्बन तथा आश्रयण लिया गया है। सांख्य का प्रभाव पुराणों के ऊपर विशेषरूप से पड़ा है; इसका प्रत्यक्ष प्रत्येक आलोचक को अल्प प्रयास से ही हो सकता है। ध्यातव्य तत्त्व यही है कि पुराण के सृष्टिप्रकरण पर सांख्य का विपुल प्रभाव पड़ा है अवश्य, परन्तु पौराणिक सृष्टितत्त्व सांख्यीय सृष्टितत्त्व का अक्षरशः अनुवाद नहीं है। पौराणिक सृष्टि-विद्या का अपना वैशिष्ट्य है, स्वातन्त्र्य है, सांख्यमत से प्रभावित होने पर भी उसमें अपना व्यक्तित्व है। पुराणों में वर्णित सृष्टितत्त्व महाभारत तथा मनुस्मृति के एतद्-वर्णन के अनन्तर किया गया है। वैदिक सृष्टितत्त्व का भी प्रभाव इन तीनों ग्रन्थों के सृष्टिवर्णन के ऊपर विशेषरूपेण दृष्टिगोचर होता है। पुराणकालीन सांख्य निरीश्वर दर्शन न होकर सेश्वर दर्शन है अर्थात् सांख्य-वेदान्त में किसी प्रकार का विरोध या वैषम्य इस प्राचीन काल में लक्षित नहीं होता जैसा वह अवान्तर काल में स्पष्टतया प्रतीत होता है। यहाँ तो सांख्य तथा वेदान्त का मञ्जुल सामरस्य है अर्थात् प्रकृति-पुरुष के द्वैत का प्रतिपादक सांख्य अद्वय ब्रह्म के द्योतक वेदान्त के साथ मिलकर पौराणिक दर्शन की मूलभित्ति तैयार करता है। प्रकृति तथा पुरुष दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं, प्रत्युत वे दोनों ब्रह्म के द्वारा प्रेरित होकर ही अपने कार्य के सम्पादन में समर्थ होते हैं। ब्रह्म इन

दोनों का अध्यक्ष है और इस ब्रह्म को वैष्णव विष्णु से तादात्म्य करते हैं, शैव शिव से, शाक्त शक्ति से—अर्थात् प्रत्येक मत अपने अभीष्ट परदेवता के साथ उसकी अभिन्नता मानते हैं।

सांख्य में सृष्टि का विकास प्रधान तथा पुरुष इन दोनों तत्त्वों के पारस्परिक प्रभाव तथा संयोग का परिणत फल है। सांख्य में ये दोनों ही अनादि तथा नित्य तत्त्व हैं, परन्तु पुराण में ये दोनों ही विष्णु के दो रूप माने गये हैं अर्थात् इनकी उत्पत्ति विष्णु की सत्ता पर आधारित है। विष्णु-पुराण का स्पष्ट कथन है कि विष्णु के परम (=उपाधिरहित) स्वरूप से प्रधान और पुरुष दो रूप होते हैं और विष्णु के एक तृतीय रूप—कालात्मक रूप—के द्वारा ये दोनों सृष्टि-समय में संयुक्त होते हैं तथा प्रलय-दशा में वियुक्त होते हैं। भगवान विष्णु कालशक्ति के द्वारा ही विश्व की सृष्टि तथा प्रलय किया करते हैं[1]। विषयों का रूपान्तर या बदलना ही काल का आकार[2] है। काल तो स्वयं अनादि, अनन्त तथा निर्विशेष है। उसी को निमित्त बनाकर भगवान् खेल-खेल में अपने आप ही को सृष्टिरूप में प्रकट कर देते हैं। पहिले यह समग्र विश्व भगवान् की माया से लीन होकर ब्रह्मरूप में स्थित था। उसी को अव्यक्तमूर्ति काल के द्वारा भगवान् ने पुनः पृथक् रूप से प्रकट किया।

पुराण के अनुसार यह विश्व अनादि तथा अनन्त है। इस समय में वह जैसा है, वह पहिले भी वैसा ही था और आगे भी वह इसी रूप में रहेगा।

यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम्।

—(भाग० ३।१०।१३)

तब प्रलय की सम्भावना कैसे ? यह जगत् कतिपय वर्षों में विलीन तथा नष्ट हुआ दृष्टिगोचर होता है—इसका रहस्य क्या है ? इसका उत्तर है **प्रवाहनित्यता**। गंगा जी में डुबकी लगानेवाला व्यक्ति उसी जल में फिर डुबकी नहीं लगाता, जिसमें वह एक क्षण पूर्व डुबकी लगा चुका था। जल तो सन्तत प्रवहणशील है—वह निरन्तर परिवर्तनशील है; एक क्षण के लिए भी उसमें विराम नहीं है, तब गंगा के उसी जल में डुबकी लगाने का तात्पर्य क्या है ? जल प्रतिक्षण अवश्य बदलता रहता है, परन्तु वह प्रवाह, वह धारा जिसका

---

१ विष्णोः स्वरूपात् परतो हि ते द्वे
रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र।
तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्ते
रूपान्तरं यद् द्विज कालसंज्ञम् ।—विष्णु १।२।२४

२. वही १।२।२७

वह अविभाज्य अंग है, कभी भी उच्छिन्न नहीं होती है। वह नित्य होती है। सृष्टि के विषय में भी यही प्रवाह-नित्यता का सिद्धान्त कार्यशील मानना चाहिए।

प्रकृति, पुरुष, व्यक्त (=जगत्) तथा काल—ये चारों रूप उसी परमात्मा विष्णु के हैं, परन्तु वह इन्हीं के द्वारा सीमित नहीं होता। वह इनसे परे भी वर्तमान रहता है। जगत् की सृष्टि उस विष्णु की क्रीडा ही समझनी चाहिए, अन्यथा उस आप्तकाम के लिए इस विचित्र विश्व के उत्पादन का तात्पर्य ही, उद्देश्य ही कौन सा हो सकता है? पुराणों ने विश्व के सृष्टितत्त्व का वर्णन कम या अधिक मात्रा में बहुशः किया है।[1] सांख्य के सृष्टि तत्त्व का पौराणिक सृष्टितत्त्व के ऊपर प्रभाव का विश्लेषण अनेक विद्वानों ने किया है। वह इस प्रसंग में अनुसन्धानयोग्य है।[2]

नवसर्ग

पुराणों में सृष्टि के नव प्रकार बतलाये गये हैं। इन नव[3] सर्गों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। सर्ग मुख्यतया तीन प्रकार के होते हैं— (१) **प्राकृतसर्ग**, (२) **वैकृतसर्ग** तथा (३) प्राकृत-वैकृत। प्राकृत तथा वैकृत सर्ग के पार्थक्य के विषय में पुराणों का कथन है कि प्राकृत सर्ग अबुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् उसकी सृष्टि नैसर्गिकरूप में होती है और उसके निमित्त ब्रह्मा को अपनी बुद्धि या विचार को कार्यरूप में लाने की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत, वैकृतसर्ग बुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् ब्रह्मा ने खूब सोच-समझ कर इस सर्ग के प्रकारों का निर्माण किया :—

---

१. द्रष्टव्य ब्रह्म, अ० १; विष्णु १।२-५; वायु ३-६ अ०; भाग० ३।१०, ३।२०; नारदीय १।४२ अ०; मार्कं० ४७-४८ अ०, भविष्य २।५-६; ३।५-१०; कूर्म १।४-१०; गरुड १।४ अ०, मत्स्य २-३ अ०; देवी भाग० ३।१-७; हरिवंश १।१—३.

२. द्रष्टव्य The Sānkhyization of the Emanation Doctrine shown in a Critical Analysis of texts by Dr. P. Hacker (Purāṇa Bulletin, Vol Iv, N0 2 PP. 218–338' 1962, Ramnagar)

३. नवसर्गविषयक श्लोक विष्णुपुराण अ० ५।१-२५ में तथा मार्कण्डेय (अ० ४७) में बिल्कुल एक समान ही हैं। दोनों में बहुत ही कम अन्तर है। विष्णु ५।२१ का पाठ है 'इत्येष प्राकृतः सर्गः सम्भूतो बुद्धिपूर्वकः' है जो मार्कण्डेय तथा शिवपुराण के पूर्वोक्त श्लोक-पाठ के स्वारस्य से 'अबुद्धिपूर्वकः' ही होना चाहिए।

प्राकृताश्च त्रये पूर्वं सर्गास्तेऽबुद्धिपूर्वकाः ।
बुद्धिपूर्वं प्रवर्तन्ते मुख्याद्याः पञ्च वैकृताः ॥

—शिवपुराण, वायवीय १।१२।१८

प्राकृतसर्ग की संख्या है तीन, वैकृतसर्ग की पाँच तथा प्राकृत-वैकृतकी एक । इस प्रकार सर्गों की सम्मिलित संख्या नव (९) है ।[1]

प्राकृत सर्ग—

(१) **ब्रह्मसर्ग**—महत् तत्त्व के सर्ग को ब्रह्मा का प्रथम सर्ग कहते हैं । 'ब्रह्मसर्ग' में ब्रह्मन् शब्द गीता के अनुसार महद् ब्रह्म अर्थात् बुद्धितत्त्व का बोधक है (गीता १४।३) सांख्य-दर्शन के अनुसार बुद्धि या महत्तत्त्व ही प्रकृति-पुरुष के संयोग का प्रथम परिणाम है । वही मत यहां भी स्वीकृत है ।

(२) **भूतसर्ग**—पञ्च तन्मात्राओं की सृष्टि का यह अभिधान है तन्मात्रायें पृथिव्यादि पंच भूतों की अत्यन्त सूक्ष्मावस्था के द्योतक तत्त्व हैं । ये 'अविशेष' नाम से भी सांख्य में प्रख्यात हैं ।

(३) **वैकारिक सर्ग**—इन्द्रियसम्बन्धी सृष्टि का यह नाम है । सांख्य-शास्त्राभिमत प्रक्रिया यहां पुराणों को अभिमत है कि अहंकार के तामस रूप से तो पञ्च तन्मात्रों का जन्म होता है तथा सात्त्विक रूप से इन्द्रियों का जन्म होता है । राजसरूप दोनों की सृष्टि में समान-भाव से क्रियाशील रहता है और इसीलिए उस रूप से किसी पदार्थ का उदय नहीं होता । पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां तथा उभयरूपात्मक संकल्प-विकल्पात्मक मन को मिलाने से इन्द्रियों की संख्या एकादश होती है ।

वैकृत सर्ग—(पांच संख्या में)

(४) **मुख्यसर्ग**—विष्णुपुराण के कथनानुसार (१।५।३–४) सर्ग के आदि में ब्रह्मा जी के पूर्ववत् सृष्टि का चिन्तन करने पर पहिले अबुद्धिपूर्वक तमोगुणी सृष्टि का आविर्भाव हुआ **पञ्चपर्वा अविद्या** के रूप में । तम (अज्ञान) मोह, महामोह (भोगेच्छा), तामिस्र (क्रोध) तथा अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) —ये अविद्या के पञ्च पर्व या पञ्च प्रकार हैं । पुनः ब्रह्मा जी के ध्यान करने पर जो सृष्टि हुई वह ज्ञानशून्य, भीतर-बाहर से तमोमय तथा जड नगादि (वृक्ष, गुल्म, लता, तृण, वीरुध्) रूप पांच प्रकार के जड़ पदार्थों की थी । यह जडसृष्टि मुख्यसर्ग के नाम से इसलिए अभिहित की गई है कि

१· बहुततर पुराणों में यही संख्या मान्य है, परन्तु श्रीमद् भागवतः ने इसमें एक सर्ग जोड़कर इसे दश संख्या बतलाया है (द्रष्टव्य भाग० ३।१० २८)

भूतल पर चिरस्थायिता की दृष्टि से पर्वतादिकों की मुख्यता है (**मुख्या वै स्थावराः स्मृताः**; विष्णु. १।५।२१)।

(५) **तिर्यक् सर्ग**—ब्रह्मा ने इस सृष्टि को पुरुषार्थ के लिए असाधिका जानकर पुनः ध्यान किया, तो तिर्यग्योनि के जीवों का उदय हुआ। 'तिर्यक्' नाम का स्वारस्य यही है कि इस योनि के प्राणी वायु के समान तिरछी गति से चलते हैं। इस सर्ग में आते हैं—पक्षी तथा पशु। ये सब प्रायः तमोमय (अज्ञानी) विवेक से रहित (अवेदिनः), अनुचित मार्ग का अवलम्बन करने वाले (उत्पथग्राहिणः) और विपरीत ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान मानने वाले होते हैं। ये सब अहंकारी, अभिमानी, अट्ठाइस प्रकार के वधों[1] से युक्त, अन्तः-प्रकाश तथा परस्पर में एक दूसरे की प्रवृत्ति को न जानने वाले होते हैं। स्थावर सृष्टि के वाद जंगम सृष्टि का यह प्रथम रूप उदय में आया।

(६) **देवसर्ग**—तिर्यक्योनि की सृष्टि से ब्रह्मा को प्रसन्नता नहीं हुई। उनकी प्रसन्नता का हेतु वह सर्ग है जो परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष का साधक सिद्ध हो। तिर्यक् स्रोत का सर्ग इस तात्पर्य में सहायक न होने से उन्होंने ऊर्ध्वस्रोत वाले प्राणियों का सर्जन किया। यह ऊर्ध्व लोक में निवास करने वाला सात्त्विक वर्ग है। इस सृष्टि के प्राणी विषय-सुख की प्रीति से सम्पन्न होते हैं, बाह्य तथा आन्तर दृष्टि से युक्त होते हैं। ये भीतरी-बाहरी प्रकाश से युक्त होते हैं।

(७) **मानुषसर्ग**—पूर्व सर्ग भी ब्रह्माजी की दृष्टि में पुरुषार्थ का असाधक ही निकला। इसलिए सत्यसंकल्प ब्रह्मा ने फिर अपने ध्यान से एक नवीन प्राणिवर्ग का निर्माण किया जो पृथ्वीपर ही भ्रमण करने वाले जीव थे (अर्वाक्स्रोतसः)। इनमें सत्त्व, रज तथा तम—इन तीनों गुणों का आधिक्य रहता है। इस वैशिष्ट्य के कारण वे दुःखबहुल होते हैं (तमोद्रेकात्), वे

---

१. 'वध' का अर्थ है अशक्ति। सांख्यकारिका (कारिका ४९ ५१) में इन समस्त वधों का रूप निर्दिष्ट हैं। अनावश्यक होने से ये यहाँ नहीं दिये जाते; जिज्ञासुजन इन्हें सांख्यकारिका तथा उसकी टीका में विस्तार से देखें।

श्रीमद् भागवत ३।१०।२० का पाठ है—'तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः' जहां तिर्यक्सर्ग २८ प्रकार का बतलाया गया है। भाग० ने २० श्लो०-२४ श्लो० तक इन अट्ठाइस प्रकार के पशु-पक्षियों का नाम्ना निर्देश भी किया है। लेखक की दृष्टि में 'अहंकृता अहम्माना अष्टाविंशद्-वधात्मकाः' इस विष्णुपुराणीय पाठ में 'वध' को 'विध' पढ़ने का यह दुष्परिणाम है। कहना न होगा कि विष्णुपुराण का यह वर्णन प्राचीन है जिसकी छाया भागवत पर है।

अत्यन्त क्रियाशील हैं—सदा कार्य में संलग्न रहते हैं (रजोद्रेकात्) तथा बाह्य आभ्यन्तर ज्ञान से सम्पन्न होते हैं (सत्त्वोद्रेकात्) इस सर्ग के प्राणी 'मनुष्य' कहलाते हैं (विष्णु १।५।१५-१८)

(८) **अनुग्रह सर्ग**—विष्णुपुराण ने इसे सात्त्विक-तामस कह कर केवल सामान्य संकेत कर दिया है (विष्णु १।५।२४)। इसके स्वरूप का निर्देश मार्कण्डेय ने स्पष्टतः किया है[1] (४७ अ०, २८-२९ श्लो०) जहाँ यह चार प्रकार का बतलाया गया है—विपर्यय, सिद्धि, शान्ति तथा तुष्टि। (६।६७-६८) वायु में इन चारों की व्यवस्था भी की गई है—स्थावरों में रहता है विपर्यास, तिर्यग्योनि में शक्ति, मनुष्यो में सिद्धि तथा देवों में तुष्टि।

यहाँ भावों की सृष्टि अभीष्ट है। सांख्य में यह **प्रत्यय सर्ग** कहा गया है जिसके चार भेद विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि तथा सिद्धि नाम से प्रख्यात हैं (द्रष्टव्य सांख्यकारिका, कारिका ४६)। वायु-पुराण की दृष्टि कुछ भिन्न ही है। समस्त प्राकृतसर्ग प्रकृति के अनुग्रह से जायमान होने के कारण ही अनुग्रह सर्ग कहलाता है। वायुपुराण का यह वर्णन बड़ा ही रोचक तथा साहित्यिक चमत्कार से मण्डित है[2]।

संसार रूपी वृक्ष

बीज	अव्यक्त (प्रकृति)
स्कन्ध	बुद्धि
अङ्कुर	इन्द्रिय
शाखा	महाभूत (पञ्च)
पत्र	विशेष (=पञ्चविषय)
पुष्प	धर्म तथा अधर्म
फल	सुख तथा दुःख
पक्षी	सब प्राणी

---

१ पञ्चमोऽनुग्रहः सर्गश्चतुर्धा स व्यवस्थितः।
विपर्ययेण शक्त्या च तुष्ट्या सिद्ध्या तथैव च॥
—मार्क० ४७।२८ = वायु ६।५७

२. अव्यक्तबीजप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियाङ्कुरकोटरः॥ ११४॥
महाभूतप्रशाखश्च विक्षेपैः पत्रवांस्तथा।
धर्माधर्मसुपुष्पस्तु सुखदुःखफलोदयः॥ ११५॥
आजीवः सर्वभूतानामयं वृक्षः सनातनः।
एतद् ब्रह्मवनं चैव ब्रह्मवृक्षस्य तस्य तु॥ ११६॥

वायुपुराण इस समस्त प्राकृत सर्ग को अनुग्रह सर्ग बतलाता है।

(९) **कौमार सर्ग**—यह अन्तिम सर्ग प्राकृत—वैकृत उभयात्मक माना गया है। इस शब्द से सनत्कुमार के उदय का संकेत है, क्योंकि भाग० १।३।६ में 'कौमार सर्ग' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है—

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम् ॥

—भाग० १।३।६

सनत्कुमार भगवान् विष्णु के ही अन्यतम अवतार माने गये हैं।

(भाग० २।७)

यह सर्ग उभयात्मक अर्थात् प्राकृत-वैकृत उभयरूप माना गया है। इसके विषय में टीकाकारों में ऐकमत्य नहीं है। विश्वनाथ चक्रवर्ती का कथन है कि ध्यानपूत मन से ही अन्य व्यक्तियों की सृष्टि हुई—यह कथन इसका प्रमाण है कि कुमारों की सृष्टि भगवद्ध्यानजन्य है तथा भगवज्जन्य भी है। और इसीलिए वे प्राकृत-वैकृत कहे गये हैं[1]। सुबोधिनी में वल्लभाचार्य जी ने इन्हें देव और मनुष्य मानकर इस द्विविधत्व का हेतु खोज निकाला है। इसका भागवत के निम्बार्की व्याख्याकार शुकदेवाचार्य ने खण्डन किया है कि सनत्कुमार कभी मनुष्यकोटि में नहीं माने गये हैं। ये ज्ञानभक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। इनका एक बार जन्म तो ब्रह्मा से हुआ तथा प्रत्यहं प्रादुर्भाव होने से ये चिरस्थायियों में अन्यतम परिगणित किये गये हैं। इसीलिए वे द्विविधरूप में अंगीकृत है—प्राकृत भी तथा वैकृत[2] भी।

प्राणिसृष्टि में नाना प्रकार के प्राणियों का निर्माण किस प्रकार हुआ? इस प्रश्न का भी समाधान पुराणों से प्राप्त होता है प्राणियों में असुर, सुर, पितर तथा मनुष्य मुख्य होते हैं। इसलिए इनकी उत्पत्ति का प्रकार भी बड़ी सुन्दरता से पुराणों में बतलाया गया है। सृष्टि की कामना करने पर

अव्यक्तं कारणं यत्तु नित्यं सदसदात्मकम्।
इत्येषोऽनुग्रहः सर्गो ब्रह्मणः प्राकृतस्तु यः ॥ ११७ ॥

—वायुपुराण, नवम अध्याय

१. तेषां 'भगवद्ध्यानपूतेन मनसाऽन्यांस्ततोऽसृजदिति अग्रिमोक्तेर्भगवद्ध्यानजन्यत्वेन भगवज्जन्यत्वाच्च प्राकृतो वैकृतश्चेति'।

—विश्वनाथ चक्रवर्ती की व्याख्या (भाग० ३।१०।२६।)

२. इन टीकाकारों के मतों के लिए द्रष्टव्य दशटीका समन्वित भागवत, तृतीय स्कन्ध, पृ० २५२ (वृन्दावन से प्रकाशित)

जब ब्रह्मा जी दत्तचित हुए तब प्रथमतः उनमें तमोगुण का आधिक्य हुआ। उस समय सबसे पहिले उनकी जंघा से असुर उत्पन्न हुए। असुर के निर्माण के अनन्तर ब्रह्माजी ने उस तामसिक देह का परित्याग कर दिया जो तुरन्त रात्रि के रूप में परिणत हो गया। अनन्तर सात्त्विक देह का आश्रय करने पर ब्रह्मा के मुख से सत्त्वप्रधान सुरों की उत्पत्ति हुई। उसके बाद प्रजापति के द्वारा परित्यक्त वह शरीर दिन के रूप में परिणत हो गया। इसके बाद उन्होंने आंशिक सत्त्वमय देह को धारण किया और अपने पार्श्व से पितरों का निर्माण किया। वह छोड़ा गया शरीर दिन और रात के बीच सन्ध्या बन गया। तब इन्होंने रजोमय देह का आश्रयण किया जिससे रजःप्रधान मनुष्यों को सृष्टि हुई। प्रजापति के द्वारा छोड़ा गया वह शरीर ज्योत्स्ना अर्थात् प्रभातकाल बन गया। इस प्रकार चार प्राणिवर्ग का सम्बन्ध चार काल-विभाग से है, क्योंकि उनकी बलशालिता उसी काल में देखी जाती है। इस प्रकार—

असुर	का सम्बन्ध है	रात्रि से
सुर	,,	दिन से
पितरों	,, ,,	सायं सन्ध्या से
मनुष्य	,,	प्रातःकाल से

सृष्टि के विषय में एक विशिष्ट तथ्य का पुराण वर्णन करता है जो मनुस्मृति (१।२९) में उल्लिखित है तथा जिसका प्रामाण्य आचार्य शंकर ने शारीरक भाष्य (१।३।३०) में स्वीकार किया है। यावत् स्थावर-जंगम की रचना ब्रह्माजी के द्वारा ही की जाती है। इन जीवों का यह वैशिष्ट्य है कि प्राक् कल्प में उनका जैसा स्वभाव था, जैसी प्रवृत्ति थी, इस सृष्टि में भी वही उन्हें प्राप्त होता है—वैसा ही स्वभाव तथा वैसी ही प्रवृत्ति। उस समय हिंसा-अहिंसा, मृदुता-कठोरता, धर्म-अधर्म, सत्य-अनृत—ये सब अपनी पूर्व भावना के अनुसार ही उन्हें प्राप्त होते हैं तथा उन जीवों को वे अच्छे लगने भी लगते हैं :—

> तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
> तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥
> हिंस्राहिंस्रे मृदु-क्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
> तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात् तत्तस्य रोचते॥
>
> —विष्णु १।५। ६०-६१.

इसी प्रकार के श्लोक मनुस्मृति में भी उपलब्ध होते हैं (मनुस्मृति १।२९ में द्वितीय श्लोक किंचित् भिन्न रूप में उपलब्ध है—यद्यस्य सोऽदधात् सर्गे तत् तस्य स्वयमाविशत्, परन्तु इसका तात्पर्य वही है)। इस प्रकार पुराण की

दृष्टि में कर्मानुसार सृष्टि है। इसमें ब्रह्मा पर न तो क्रूरता का और न वैषम्य का दोष आरोपित किया जा सकता है! पूर्व कर्म के कारण ही इस जन्म में प्राणियों की विभिन्न प्रवृत्ति तथा विभिन्न प्रकृति है। पुराणों का यह तथ्य कथन भारतीय दर्शन की सुचिन्तित परम्परा के अन्तर्भुक्त है—इसे कौन स्वीकार न करेगा?

ब्राह्मी सृष्टि

भगवान् विष्णु की प्रेरणा से उनके ही नाभिकमल पर बैठे हुये ब्रह्मा जी ने दिव्य शतवर्ष तक तपस्या की। तब उन्होंने देखा कि वह जल तथा उनका आसनभूत कमल प्रबल वायु के वेग से कांप रहा है। सृष्टि से प्राक् काल में यह उस दशा का सूचक है जब एकार्णव—समस्त समुद्र के ऊपर वायु का ही प्रबल आघात होता रहता है। तपस्या तथा अध्यात्म ज्ञान के बलपर ब्रह्मा में विज्ञान शक्ति का प्रावल्य हो गया और इसी शक्ति के बल पर उन्होंने उस प्रबल वायु को तथा विशाल जल-राशि को पान कर डाला। अवशिष्ट बचे हुए वियद्-व्यापी कमल को देख कर ब्रह्मा ने विचार किया कि इसी के द्वारा पूर्वकाल में प्रकृति में लीन लोकों की रचना करूँगा। फलतः उन्होंने उस आकाशव्यापी कमल में स्वयं प्रवेश कर उसे तीन भागों में विभक्त कर दिया, यद्यपि वह चौदह भागों में विभक्त होने के योग्य था। इन्हीं भागों का नाम है—भूः भुवः तथा स्वः। कर्म का राज्य इन्हीं लोकों में सीमित है। इसके ऊपर जो चार लोक अवशेष हैं महः, जनः, तपः, सत्यं, इनमें उनलोगों का निवास होता है जो निष्काम कर्म के सम्पादक होते हैं। इन चारों लोकों की समष्टि का एक सामूहिक अभिधान है—**परमेष्ठी** लोक या ब्रह्म लोक[1]।

इन्हीं ब्रह्मा ने पूर्ववर्णित जीवों की—स्थावर से लेकर देवपर्यन्त—सृष्टि की, परन्तु जब उस सृष्टि की वृद्धि आगे न बढ़ सकी और उनकी सृष्टि का तात्पर्य ही सिद्ध न होने लगा, तब उन्होंने **मानसपुत्रों** का सर्जन किया—अपने समान ही शक्तिसम्पन्न तथा अध्यात्ममण्डित। ब्रह्मा के इन मानस-पुत्रों को तत्समान होने के हेतु 'ब्रह्मा' के ही नाम से भागवत पुकारता है। ये संख्या में नव (९) हैं—भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अङ्गिरस्, मरीचि, दक्ष, अत्रि तथा वसिष्ठ। ये **नव ब्रह्मा** के नाम से पुराणों में विख्यात हैं। ख्याति, भूति आदि नव कन्याओं को भी उत्पन्न कर इन्हें ही पत्नी होने के लिये प्रदान किया जिससे आगे चल कर सृष्टि का विस्तार हुआ[2]।

---

१. भागवत ३।१०।४–९.

२. द्रष्टव्य, विष्णु-पुराण १।७।१–८

मानसी सृष्टि

ब्रह्मा की सृष्टि मानसिक ही होती है। वे शरीर-संयोगपूर्वक बैजी सृष्टि नहीं करते। जीवों के पूर्व जन्म में किये गये कर्मों को जान कर ही ब्रह्मा उन्हें उत्पन्न करते हैं। ब्रह्मा इन कर्मों को भगवत्-प्रदत्त ज्ञान द्वारा ही जान कर सृष्टि करते हैं। ब्रह्मा की मानसी सृष्टि द्वारा उत्पादित मरीचि, कश्यप आदि अनेक अधिकारी पुरुष होते हैं जो ब्रह्मा के संग-साथ में मिल कर उन्हीं की प्रेरणा में सृष्टि-कार्य का सम्पादन करते हैं। इसीलिए तो ये नव मानसपुत्र कार्य के साम्य के कारण नव ब्रह्मा के नाम से भागवत में पुकारे गये हैं। इसी कारण प्रजापति कश्यप से देव-दैत्य, पशु-पक्षी, स्थावर-जंगम-सब जन्तुओं का उदय होता है। 'कश्यप' की निरुक्ति भी उनकी सृष्टि-शक्ति की पर्याप्त द्योतिका है। ब्राह्मणग्रन्थों ने 'कश्यपः पश्यको भवति' कह कर कश्यप का अर्थ निर्वचन किया है—देखने वाला अर्थात् अपनी दृष्टि से सृष्टि करने वाला'। महाभारत में भी मानसी सृष्टि की परिभाषा इसी तथ्य की पोषिका है—

> **प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवासृजत् प्रभुः।**
> **तथैव देवान्, ऋषयस्तपसा प्रतिपेदिरे॥**
> **आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाक्षयाव्यया।**
> **सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा॥**

मानसी सृष्टि की परिभाषा है वह सृष्टि जो आदि देव ब्रह्माद्वारा वेदमूलक, अक्षय, अव्यय तथा धर्मानुकूल हो।

मानसी सृष्टि के अनन्तर ही बैजी सृष्टि होती है जिसका वर्णन वैकृत सर्ग के प्रसंग में ऊपर किया गया।

रौद्री सृष्टि

इनसे पूर्व सनन्दन, सनातन आदि चारों कुमारों की सृष्टि ब्रह्मा ने सृष्टि की वृद्धि के लिए ही की थी; परन्तु सन्तान तथा संसार के प्रति उनके औदासीन्य तथा निरपेक्षभाव को देख कर पितामह के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। उसी समय क्रोधदीपित तथा भ्रुकुटि-कुटिल ललाट से प्रचण्ड सूर्य के समान प्रकाशमान रुद्र का आविर्भाव हुआ। रुद्र के शरीर का वैशिष्टय यह था कि उनका आधा शरीर नर के आकार में था और अपर आधा शरीर नारी के आकार में था। ब्रह्माजी के आदेश से रुद्र ने अपने शरीर का द्विधा विभाजन किया—स्त्री रूप में और पुरुष रूप में। पुरुषभाग को इग्यारह भागों में पुनः विभक्त किया तथा स्त्री भाग को सौम्य—क्रूर, शान्त अशान्त; श्याम-गौर आदि अनेक रूपों में

विभक्त किया। रुद्र के द्वारा आविर्भावित यह सृष्टि रौद्री सृष्टि के नाम से पुराणों में अभिहित की गई है[1]।

पौराणिक सृष्टितत्त्व की मीमांसा

पुराण में वर्णित सृष्टितत्त्व की यह एक सामान्य रूपरेखा है। इसका विश्लेषण करने से भागवतों की समन्वयदृष्टि का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। त्रिदेवों का सृष्टि के उत्पादन में सहयोग है। प्रधानतः सृष्टि तो ब्रह्माजी का ही कार्य है, परन्तु इस सृष्टिकार्य के लिए उन्हें प्रेरणा प्राप्त होती है विष्णु के द्वारा ही। विष्णु के नाभि-कमल के ऊपर ब्रह्मा का निवास होता है। वे अगोचरा वाक् के द्वारा तप करने के लिए प्रेरित किये जाते हैं और सौ वर्षों तक निष्पन्न तपस्या के फलरूप उन्हें सृष्टिकार्य की योग्यता प्राप्त होती है और विष्णु के द्वारा प्रेरणा पाकर ही ब्रह्मा इस विशाल विश्व के सर्जन में प्रवृत्त होते हैं। विष्णु-पुराण इसीलिए ब्रह्मा को हरि का ही रूपान्तर मानता है। अर्थात् वह परम शक्तिशाली भगवान् विष्णु ही अपने ब्रह्मारूपी मूर्त्यन्तर से विश्व का निर्माण करते हैं। शैव पुराणों में शिव की प्रेरणा से यह कार्य होता है; परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि सृष्टिकार्य में रुद्र का भी सहयोग अनिवार्य है। भागवत तथा मार्कण्डेय ने रुद्रसर्ग की चर्चा की है जो अर्धनारी-स्वरूप होने से अपने ही देह का दो विभाग करके विश्व नर तथा नारी अर्थात् मानव-दम्पति की सृष्टि करते हैं। पुराणों की समन्वय-दृष्टि नितान्त आवर्जनीय है। भागवत सम्प्रदाय का यही वैशिष्ट्य रहा है और इस सम्प्रदाय का प्रभाव वैष्णव तत्त्व-मीमांसा के ऊपर विशेषरूप से पड़ा है—इस तथ्य को धार्मिक इतिहास का जिज्ञासु अपने दृक्पथ से ओझल नहीं कर सकता।

भारतीय षड्दर्शनों से सांख्य का विपुल प्रभाव सृष्टि-प्रक्रिया के ऊपर पड़ा है। कपिल आदि विद्वान् के रूप में उपनिषदों में गृहीत किये गये हैं। तत्त्वों की मीमांसा उनका महान् वैशिष्ट्य है। उनकी अपनी सृष्टि-प्रक्रिया है। इसका पूरा प्रभाव पौराणिक सृष्टिवाद पर है; परन्तु उसका अक्षरशः पालन यहाँ नहीं है। सांख्य तो प्रकृति तथा पुरुष को मूल तत्त्व मानता है; परन्तु पुराणों की दृष्टि में ये दोनों परमात्मा से ही विनिःसृत होते हैं और प्रलय-दशा में ये दोनों उसी मूल तत्त्व में लीन हो जाते हैं। विष्णु-पुराण का स्पष्ट कथन है—

प्रकृतिर्या मयाख्या व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि॥

---

१. द्रष्टव्य विष्णु, १।७।११-१५;—मार्कण्डेय ५२ अध्याय २-१० श्लोक।

परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः ।
विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते ॥

—विष्णु० ६।४।३९-४०

निष्कर्ष यह है कि सांख्य का बहुशः आधार लेने पर भी पौराणिक सृष्टि-प्रक्रिया अपनी मौलिकता से मण्डित है। आश्चर्य नहीं कि उस युग की लोक-संस्कृति के सिद्धान्त भी यहां गृहीत किये गये। पुराण अध्यात्मवादी दृष्टिकोण रखने पर भी अपने विवरणों में एकाङ्गी नहीं रहता। यह लोक-सामान्य के मंगल-साधन की प्रेरणा से निर्मित हुआ है। फलतः लोक की दृष्टि सदा पुराणकार के सामने जागरूक रहती है। इस तथ्य का अविस्मरण सर्वदा आवश्यक है।

(२)

प्रतिसर्ग

प्रतिसर्ग का वर्णन प्रायः समस्त पुराणों में किया गया[1] है। इन पुराणों के स्थलनिर्देश यहाँ संक्षेप में दिये जाते हैं। 'प्रतिसर्ग' के विषय में बहुत से विशिष्ट शब्द पुराणों के द्वारा व्यवहृत हैं—अन्तर प्रलय (ब्रह्म २३२।११); अन्तराला उपसंहृतिः (विष्णु ६।२।४०); आभूतसंप्लव, उदाप्लुत (भाग० ३।८।१०) निरोध, संस्था (भाग० १२।७।१७); उपसंहृति, एकार्णवावस्था, तत्त्वप्रतिसंयम (वायु १०२।७); प्रतिसंक्रमः, प्रतिसंचरः, प्रतिसंसर्गः, संप्लव (भाग० १२।४।६४) आदि।

प्रलय चार प्रकार का होता है (१) नैमित्तिक प्रलय, (२) प्राकृत प्रलय, (३) आत्यन्तिक प्रलय तथा (४) नित्य प्रलय। श्रीमद्भागवत के १२ वें स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में यह विषय बड़ी सुन्दरता और विशदता के साथ वर्णित है। उसी के आधार पर यह संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत है :—

(१) नैमित्तिक प्रलय

मन्वन्तर के वर्णन के अवसर पर कल्प का संक्षेप में निर्देश किया जावेगा। मनुष्यमान से या देवमान से हो, एक हजार चतुर्युगी ब्रह्मा का एक दिन माना जाता है। वर्षों की गणना ऊपर दी गई है। ब्रह्मा के एक दिन का ही नाम कल्प है जिसके भीतर १४ मनुओं का काल बीतता है। कल्प के अन्त हो जाने

---

१. पुराणों में प्रतिसर्ग का उल्लेख-ब्रह्म २३१।१-२३३।७५; विष्णु ६।३।१—७।१०४; वायु १००।१३२-१०२।१३५; भागवत १२ स्क०, ४ अ; मार्कं० ४६।१-४४; कूर्म २।४५।४-४६।६५; गरुड १।२१५।४-२१७।१७; ब्रह्माण्ड ३।१।१२८-३।११३

पर उतने ही काल के लिए प्रलय भी होता है। इसी प्रलय को ब्राह्मी रात्रि (=ब्रह्मा जी की रात) भी कहते हैं। इस समय तीनों लोकों—भूर् भुवर्, स्वर्—का प्रलय हो जाता है, परन्तु इनके उपरितन चारों लोक—महः, जनः, तपः सत्यम्—अपने स्थान पर स्थित रहते हैं। इस प्रलय के अवसर पर सारे विश्व को अपने अन्दर समेट कर अर्थात् अपने में लीन कर ब्रह्मा और तत्पश्चात् शेषशायी भगवान् नारायण भी शयन कर जाते हैं। ब्रह्मा जी के इस शयन को निमित्त मानकर इस प्रलय का उदय होता है। इसीलिए यह प्रलय नैमित्तिक कहलाता है।

एष नैमित्तिको नाम मैत्रेय प्रतिसंचरः।
निमित्तं तत्र यच्छेते ब्रह्मरूपधरो हरिः॥

—विष्णु ६।४।७

(२) प्राकृत प्रलय

यह प्रलय नैमित्तिक प्रलय की अपेक्षा अधिक वर्षों के अनन्तर होता है। ब्रह्मा की आयु उनके मान से एक सौ वर्ष की होती है तथा मानव-मान से वह दो परार्ध वर्षों की होती है। ब्रह्मा की इस आयु के समाप्त होने पर एक महान् प्रलय संघटित होता है। उस समय सातों प्रकृतियाँ - पञ्चतन्मात्रायें, अहंकार और महत्तत्व—अपने कारणभूता अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाती हैं। इस प्रलयके उपस्थित होने पर विश्व में भीषण संहार का दृश्य उपस्थित हो जाता है। पंचमहाभूतों के मिश्रण से बना हुआ यह समग्र ब्रह्माण्ड अपना स्थूल रूप छोड़ कर कारणरूप में स्थित हो जाता है। भागवत[1] ने इस प्रलय का बड़ा ही रोमांचकारी वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रलय का समय आ जाने पर मेघ सौ वर्षों तक वृष्टि ही नहीं करते; अन्न न उपजने के कारण क्षुत्क्षामकण्ठ वाली प्रजा एक दूसरे को देखने लगती है। प्रजा मृत्यु का ग्रास बनकर अपनी जीवन-लीला समाप्त करती है। ऊपर चमकता है प्रचण्ड तिग्मांशु की किरण और नीचे चमकती है पातालस्थ संकर्षण से मुख से निकलने वाली तीव्र अग्नि की ज्वाला। प्रचण्ड पवन बड़े वेग से सैकड़ों वर्षों तक बहता है। उस समय का आकाश धूम तथा धूलि से भरा ही रहता है। असंख्यों रंगविरंगे बादल आकाश में बड़ी भयङ्करता के साथ गरज-गरज कर सैकड़ों वर्षों तक वर्षा करते हैं। अखिल भुवन एक महार्णव बन जाता है। तब पृथ्वी के गुण गन्ध

१. विष्णुपुराण (६ अंश, ३ अ० तथा ४ अ०) में इसी प्रकार का साहित्यिक विवरण उपलब्ध है जो वैज्ञानिक दृष्टि से बड़ा ही सपन्न, सुव्यवस्थित तथा विस्तीर्ण है। दोनों की तुलना जिज्ञासुजन करें।

को जल तत्त्व ग्रस लेता है जिससे भूमि का जल में प्रलय हो जाता है। इस प्रकार तत्तत् विशिष्ट गुणों के लीन हो जाने से जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में लीन हो जाता है। आकाश का लय हो जाता है अहंकार में, अहंकार का महत्तत्त्व में और महत्तत्त्व का प्रकृति में। उस समय प्रकृति ही केवल शेष रह जाती है। प्रकृति जगत् का मूल कारण है, वह अव्यक्त, अनादि, अनन्त, नित्य और अविनाशी है। उस समय किसी प्रकार की सत्ता नहीं रहती। उस समय प्रकृति तथा पुरुष दोनों की शक्तियाँ काल के प्रभाव से क्षीण हो जाती हैं और अपने मूल कारण में विलीन हो जाती हैं। इसी का नाम है—प्राकृतिक प्रलय[1]।

(३) आत्यन्तिक प्रलय

पूर्ववर्णित दोनों प्रलयों का काल नियत है। नैमित्तिक प्रलय कल्प के अन्त में अर्थात् ब्रह्माजी के एक दिन व्यतीत होने पर होता है। उसी प्रकार प्राकृतिक प्रलय ब्रह्माजी के आयु-शेष हो जाने पर सम्पन्न होता है। परन्तु आत्यन्तिक प्रलय को काल की परिधि या सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। यह आज भी इसी एक क्षण में सम्पन्न हो सकता है अथवा कोटि-कोटि वर्षों के अन्तराल होने पर भी नहीं सम्पन्न हो सकता है। उसके उदय की साधन-सामग्री जब भी उपस्थित हो जाय, तभी वह हो सकता है। इसमें काल कोई व्याघातक तत्त्व नहीं है।

आत्यन्तिक प्रलय आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का ही अपर नाम है। त्रिविध दुःखों की निवृत्ति लौकिक-आनुश्रविक उपायों से हो सकती है तथा होती है; परन्तु वह सदा-सर्वदा के लिए कहाँ होती है? कुछ समय तक तो वह निवृत्ति दुःखों से अवश्य होती है, परन्तु फिर दुःख के साधन उपस्थित होने पर वह दुःख पुनः आविर्भूत होता है। तो यह दुःख का कारण क्या है? आत्मा-अनात्मा-विवेक या वेदान्त के शब्दों में अध्यास। अनात्मा को आत्मा रूप से समझना ही सब अनर्थों का बीज है। भागवत में अध्यास तथा तन्निवारक ज्ञान का वर्णन बड़े ही मोहक शब्दों में किया गया है। बादल तथा सूर्य के

---

१. द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै॥
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते।
आण्डकोशस्तु संघातो विघात उपसादिते॥
—भाग० १२।४।५—६.

व्यवहार पर दृष्टिपात कीजिये।[1] बादल सूर्य से ही उत्पन्न होता है और सूर्य से ही प्रकाशित होता है। फिर भी वह सूर्य के ही अंशभूत नेत्रों के लिए सूर्य का दर्शन होने में बाधक बन जाता है। ठीक यही दशा अहंकार तथा ब्रह्म की भी है। अहंकार ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है और ब्रह्म से ही प्रकाशित होता। ब्रह्म के अंशभूत जीव के लिए ब्रह्मस्वरूप के साक्षात्कार में बाधक बन जाता है। जब सूर्य से प्रकट होने वाला मेघ तितर-बितर हो जाता है, तब नेत्र अपने स्वरूपभूत सूर्य का दर्शन करने में समर्थ होता है। ठीक उसी प्रकार जब जीव के हृदय में जिज्ञासा जगती है, तब आत्मा की उपाधि-अहंकार नष्ट हो जाता है और जीव को अपने सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है।[2] इस प्रकार अहंकार को हटाना ही मुख्य, साधन ठहरा और यह कार्य सिद्ध होगा विवेकरूपी ज्ञान से।

"जब जीव विवेकरूपी तलवार से आत्मा को बाँधने वाले मायामय अहंकार का बन्धन काट डालता है, तब वह अपने एक रस आत्मस्वरूप के साक्षात्कार में स्थित हो जाता है। आत्मा की यह मायामुक्त वास्तविक स्थिति ही आत्यन्तिक प्रलय कही जाती है" :—

यदैवमेतेन विवेकहेतिना
मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम्।
छित्त्वाऽच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते
तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग संप्लवम्॥

—भाग० १२।४।३४

(४) नित्यप्रलय

पुराणों के अनुसार सृष्टि भी नित्य होती है और प्रलय भी नित्य होता है। तत्त्वदर्शी लोगों का कहना है कि ब्रह्मा से लेकर तिनके तक जितने प्राणी या पदार्थ होते हैं, वे सभी हर समय पैदा होते रहते हैं और मरते रहते हैं अर्थात्

---

१. यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो
ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो
ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः॥ —भाग० १२।४।३२

२. घनो यथार्कप्रभवो विदीर्यते
चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा।
यदा त्वहङ्कार उपाधिरात्मनो
जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत्॥ —वही १२।४।३३

नित्यरूप से सृष्टि तथा प्रलय होता ही रहता है। संसार के परिणामी पदार्थ नदी-प्रवाह और दीपशिखा के समान प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, परन्तु यह परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। आकाश में तारे हर समय में चलते रहते हैं, परन्तु उनकी गति स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर नहीं होती। प्राणियों के परिवर्तन की भी यही दशा है। इस परिवर्तन का कारण भगवान् की स्वरूपभूता काल-शक्ति है जो अनादि है और अनन्त है। उस शक्ति के कारण परिवर्तन क्षण-क्षण में होता रहता है, परन्तु वह इतना सूक्ष्म तथा दुर्बोध है कि वह मानव-बुद्धि से स्पष्टतः ग्राह्य नहीं होता। प्रतिक्षण जायमान इस विनाश को 'नित्य प्रलय' के नाम से पुकारा जाता है।

पौराणिक सृष्टि तथा प्रलय के विवेचन का यह संक्षिप्त रूप है। विस्तार के लिए पुराणों के तत्तत्-प्रसंग देखना चाहिये।

मन्वन्तर का विवरण

पुराणकार के मत से समय का स्वरूप

(मनुष्यमान)

('सिद्धान्तशिरोमणि'[१] के अनुसार)

१८ निमेष	=	१ काष्ठा
३० काष्ठा	=	१ कला
३० कला	.	१ घटी
२ घटी = ६० कला	=	१ मुहूर्त
६० घटी = ३० मुहूर्त	=	१ दिन-रात (दिवस)
१५ दिन-रात	=	१ पक्ष
२ पक्ष	=	१ महीना
६ महीने	=	१ दक्षिणायन
६ महीने	=	१ उत्तरायण
२ अयन	=	१ वर्ष
१ दक्षिणायन	=	१ दिव्यरात
१ उत्तरायण	=	१ दिव्य दिन
३० वर्ष	=	१ दिव्य मास
३६० वर्ष	=	१ दिव्य वर्ष
३०३० वर्ष	=	१ सप्तर्षि वर्ष
९०९० वर्ष	=	१ ध्रुव वर्ष
९६००० वर्ष	=	१ दिव्य वर्षसहस्र
१७,२८,००० वर्ष	=	१ सत्ययुग (कृतयुग)
१२,९६,००० वर्ष	=	१ त्रेतायुग
८,६४,००० वर्ष	=	१ द्वापरयुग
४,३२,००० वर्ष	=	१ कलियुग
४३,२०००० वर्ष	=	१ चतुर्युगी
३०,६७,२०,०० वर्ष०	=	१ मन्वन्तर (= ७१ चतुर्युगी)
४,२९,४७,८०,००० वर्ष०	=	१४ मन्वन्तर
२,५९,२०,००० वर्ष	=	मन्वन्तर संध्यांश
१,९७,२९,४९,०६४ वर्ष	=	सृष्टि भुक्तकाल[१] (सं० २०२१ तक)
४,३२,००,००,००० वर्ष	=	१ ब्राह्मदिन सहस्र चतुर्युगी
४,३२,००,००,००० वर्ष	=	१ ब्राह्मरात्रि

१. सि० शि० १९७२९४७१७९ + शकसंवत्सर = १९७२९४७१७९ + १८८५

१,९७,२९,४९,०६४

—सिद्धान्तशिरोमणि (कालमानाध्याये) २८ श्लोक

इस विवरण के अनुसार मनुष्य मान से एक चतुर्युगी ४३ लाख २० हजार वर्षों की होती है। एक हजार चतुर्युगी बीतने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का और ब्रह्मा की एक रात्रि का भी यही परिमाण है चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का। एक ब्राह्म दिन ही एक कल्प माना जाता है। इस प्रकार एक कल्प में (अर्थात् एक ब्राह्म दिन में) १४ मनुओं का साम्राज्य-काल माना जाता है। एक मनु के बीतने तथा दूसरे मनु के आने के समय के बीच वाले समय को—अन्तराल को—एक मन्वन्तर कहते हैं। एक हजार चतुर्युगी के काल में १४ मन्वन्तरों की सीमा होने से एक मन्वन्तर का काल निर्धारित किया जा सकता है।

$$१. \text{ मन्वन्तर} = \frac{१००० \text{ चतुर्युगी वर्ष}}{१४}$$

$$,, \quad = \quad ७१\tfrac{६}{१४} \text{ चतुर्युगी वर्ष}$$

एक मन्वन्तर की काल गणना बतलाते समय पुराण का एक बहुचर्चित वाक्य है[1]—मन्वन्तरं चतुर्युगानां साधिका ह्येकसप्ततिः। एक मन्वन्तर ७१ चतुर्युगी का होता है और उससे कुछ अधिक; परन्तु कितना अधिक? इस प्रश्न का उत्तर पुराणों में नहीं दिया गया है। अनेक पुराणों में ७१ चतुर्युगी का काल वर्षों में गिनाया गया है। यथा—

(क) विष्णु-पुराण (१।३।२०–२१)—

> त्रिंशत् कोट्यस्तु सम्पूर्णाः संख्याताः संख्यया द्विज।
> सप्तषष्टिस्तथान्यानि नियुतानि महामुने ॥ २० ॥
> विंशतिस्तु सहस्राणि कालोऽयमधिकं[1] विना।
> मन्वन्तरस्य संख्येयं मानुषैर्वत्सरैर्द्विज ॥ २१ ॥

(ख) वायु-पुराण से—

> एवं चतुर्युगाख्या तु साधिका ह्येकसप्ततिः
> कृतत्रेतादियुक्ता सा मनोरन्तरमुच्यते ॥
> मन्वन्तरस्य संख्या तु वर्षाग्रेण निबोधत।
> त्रिंशत् कोट्यस्तु वर्षाणां मानुषेण प्रकीर्तिताः ॥
> सप्तषष्टिस्तथाऽन्यानि नियुतान्यधिकानि तु
> विंशतिश्च सहस्राणि कालोऽयं सन्धिकं विना[2] ॥
> —(वायु, अ० ५७, ३३—३५ श्लो०)

---

१. आगे दिये गये वायु (५७।३५) के स्वारस्य पर यहाँ शुद्ध पाठ 'सन्धिकं' होना उचित प्रतीत होता है।

२. ये ही श्लोक इसी रूप में अनेक पुराणों में उपलब्ध होते हैं। वायु में ये ही पुनरुक्त हुए हैं—द्रष्टव्य वायु ६१।१३८–१४०।

इन दोनों पुराणों में मन्वन्तर का जो कालमान दिया गया है वह एक समान ही है—तीस करोड़, सतसठ लाख, बीस हजार। परन्तु यह मान 'सन्धिकं विना' है अर्थात् दो मन्वन्तरों के बीच जो सन्धिकाल होता है उसे छोड़ कर ही पूर्वोक्त गणना है। १४ मनुओं का ७१ चतुर्युगी प्रत्येक की मानने पर पूरा योग है ९९४ चतुर्युग और ६ चतुर्युग अवशिष्ट रह जाता है। और यही है १४ मन्वन्तरों का सन्धिकाल। विष्णुपुराण के निम्नलिखित श्लोक पर श्रीधरी में इसका संकेत-मात्र है।

चतुर्युगाणां संख्याता साधिका ह्येकसप्ततिः
मन्वन्तरं मनोः कालः सुरादीनां च सत्तम॥

—विष्णु०, १।३।१७

श्रीधर स्वामी ने 'साधिका' शब्द की व्याख्या में लिखा है:—

चतुर्युगसहस्रप्रमाणस्य ब्रह्मदिनस्य चतुर्दशधा विभागे प्रतिविभागमेकसप्ततिश्चतुर्युगानि भवन्ति। अवशिष्यन्ते चतुर्युग षट्कान्तरस्य चतुर्दशांशो यथा गणितः प्रतिमन्वन्तरमेकसप्ततेरधिक इत्यर्थः।

श्रीधरस्वामी के सामने विष्णु-पुराण का 'साधिका ह्येकसप्ततिः' पाठ था और इसी पाठ की उन्होंने व्याख्या की है। परन्तु, इस पाठ में निश्चित काल की सूचना भी नहीं है। मेरी दृष्टि में 'सन्धिकं विना' पाठ के द्वारा गणना का निश्चित रूप खड़ा किया जा सकता है। ज्यौतिष शास्त्र की सहायता इसमें नितान्त अपेक्षित है। किसी भी पुराण में 'साधिका' या 'सन्धिकं' के निश्चित काल-मान का निर्देश सम्भवतः उपलब्ध नहीं होता।

सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मन्वन्तर में एक सन्धिकाल होता है जो एक कृतयुग के मान के बराबर होता है (अर्थात् ४८०० दिव्यवर्ष) और प्रत्येक कल्प के आरम्भ में भी एक सन्धिकाल उतने ही वर्षों का होता है। इस प्रकार प्रत्येक ४८०० दिव्यवर्ष के पन्द्रह सन्धिकाल होते हैं जो गणना में ७२,००० दिव्यवर्ष होते हैं और यही ६ महायुग के बराबर होता है। इस प्रकार सूर्य-सिद्धान्त के श्लोकों द्वारा पुराण के इस स्थल की अपेक्षित व्याख्या की जाती है:—

युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तरमिहोच्यते।
कृताब्दसंख्या तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः॥
ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश।
कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशः स्मृतः॥

—सूर्यसिद्धान्त १।१८-१९

इन श्लोकों में एक नवीन तथ्य की भी सूचना मिलती है। वह यह है कि प्रत्येक सन्धिकाल में एक जलप्लव—जलप्लावन—(बड़ी बाढ़) आता है। यह मत्स्य-पुराण के कथन (प्रथम अध्याय) की पुष्टि करता है कि वैवस्वत मन्वन्तर के आरम्भ होने से पूर्व एक बड़ा ही दीर्घ जलप्लावन आया था जिसमें मत्स्य की अनुकम्पाा से मनु ने सृष्टि के समस्त बीजों को बचा लिया था।

मन्वन्तर की कालगणना में पुराणों ने सन्धिकाल को उसमें सम्मिलित न कर उसे अलग ही छोड़ दिया है। यह रीति बिल्कुल ठीक है, क्योंकि सन्धियाँ होती पन्द्रह तथा मन्वन्तर होते हैं चौदह। दो मन्वन्तरों के बीच में सन्धि होती है; परन्तु कल्प के आरम्भ में भी तो एक सन्धि होती है। इस प्रकार सन्धियों की संख्या १५ है। यदि सन्धियों का भी काल मन्वन्तर के साथ सम्मिलित किया जावेगा, तो 'कल्प' की संख्या-गणना में बड़ी गड़बड़ी मच जायेगी। इसे हटाने के लिए पुराणों ने 'सन्धिका ह्येकसप्ततिः' मन्वन्तर की परिभाषा तो अवश्य कर दी; परन्तु सन्धि के काल को मन्वन्तर के साथ जोड़ने की आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया। फलतः पुराणों की मन्वन्तर परिभाषा ज्यौतिषशास्त्र के साक्ष्य पर बिलकुल यथार्थ है।

मन्वन्तर के नाम[1]

चौदह मन्वन्तरों के नाम पुराणों में प्रायः एकाकार ही है।

(१) स्वायम्भुव मनु
(२) स्वारोचिष ,,
(३) उत्तम ,,
(४) तामस ,,
(५) रैवत ,,
(६) चाक्षुष ,,
(७) वैवस्वत मनु (= श्राद्धदेव)
(८) सावर्णि मनु
(९) दक्षसावर्णि ,,
(१०) ब्रह्मसावर्णि
(११) धर्मसावर्णि
(१२) रुद्रसावर्णि
(१३) देवसावर्णि[2]
(१४) इन्द्रसावर्णि

---

१. विष्णु० ३।१ तथा ३।२; भागवत ८।१३

२. अन्तिम दो मनुओं का पूर्वोक्त नाम श्रीमद्भागवत के अनुसार है। विष्णुपुराण में अन्तिम मनुओं की संज्ञा रुचि तथा भौम है, मार्कण्डेय (९४ अ० तथा ९९ अ०) रौच्य तथा भौत्य नाम मिलते हैं।

मन्वन्तर के अधिकारी

प्रत्येक मन्वन्तर में अधिकांश पुराणों के अनुसार पाँच (भागवत के अनुसार छः) अधिकारी होते हैं जो अपना विशिष्ट कार्य सम्पादित करने आते हैं और उस कार्य के अवसान होने पर, मन्वन्तर के परिवर्तन होने पर, वे अपने अधिकार को छोड़ कर निवृत्त हो जाते हैं। उनके स्थान पर नये मन्वन्तर में नये अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं। इन अधिकारियों के रूप में भगवान् विष्णु की ही शक्ति समर्थ तथा क्रियाशील रहती है और इन अधिकारियों को विष्णु पुराण स्पष्ट शब्दों में विष्णु की विभूति मानता है[1]। 'विष्णु' शब्द की निष्पत्ति विश् प्रवेशने धातु से होती है और इसलिए यह समग्र विश्व जिस परमात्मा की शक्ति से व्याप्त है, वही विष्णु नाम से अभिहित किये जाते हैं[2]।

इन अधिकारियों के नाम विष्णुपुराण (३।२।४९) के अनुसार हैं—(१) मनु, (२) सप्तर्षि, (३) देव (४) देवराज इन्द्र तथा (५) मनुपुत्र। श्रीमद्-भागवत में इन पांचों अधिकारियों के साथ ही हरि के अंशावतार की भी कल्पना कर संख्या में एक की वृद्धि की गई है :—

> मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
> ऋषयोऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते ।।
>
> —भागवत, १२।७।१५

इन अधिकारियों का कार्य बड़ा ही विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण है। विष्णु-पुराण के कथनानुसार जब चतुर्युग समाप्त हो जाता है, तब वेदों का विप्लव—लोप—हो जाता है। उस समय वेदों का प्रवर्तन नितान्त आवश्यक हो जाता है और इस राष्ट्रहित के कार्यनिमित्त सप्तर्षि लोग स्वर्ग से भूतल पर आकर उन उच्छिन्न तथा विप्लुत वेदों का प्रवर्तन करते हैं। अतः सप्तर्षि प्रत्येक मन्वन्तर में वेदों के प्रवर्तक-रूप से अधिकारी हैं[3]। सूर्य-सिद्धान्त के मत का प्रतिपादन ऊपर

---

१. विष्णु पुराण ३।१।४६

२. तत्रैव ३।१।४५

३. चतुर्युगान्ते वेदानां जायते किल विप्लवः।
प्रवर्तयन्ति तानेत्य भुवं सप्तर्षयो दिवः ।।
कृते कृते स्मृतेर्विप्र-प्रणेता जायते मनुः।
देवा यज्ञभुजस्ते तु यावन्मन्वन्तरं तु तत् ।।

—विष्णु० ३।२।४६-४७,

किया गया है जो चतुर्युग के अन्त में जलप्लावन की घटना का अवश्यम्भावी रूप से उल्लेख करता है। इसलिए प्रत्येक सत्ययुग के आदि में मनुष्यों की धर्ममर्यादा स्थापित करने के निमित्त स्मृति के प्रणयनकार्य के लिए मनु का जन्म होता है। फलतः स्मृति-रचयिता के रूप में मनु का अधिकारी होना उचित ही है। मनु की व्यवस्था में द्विजों के लिए यज्ञ का सम्पादन नितान्त आवश्यक कृत्य है। फलतः मन्वन्तर के अन्त तक देवता लोग यज्ञयागों के फल भोगने का कार्य करते हैं और इस प्रकार वे अपने अधिकार को चरितार्थ करते हैं। देवों के राजा होने से इन्द्र का भी अधिकारी होना स्वभावसिद्ध है। संसार की वृद्धि तथा अभ्युदय के लिए बीज का पर्याप्त उद्गम होना आवश्यक होता है और इस कार्य को जल की वृष्टि कर भगवान् इन्द्र ही करते हैं। फलतः मन्वन्तर में उनका एक विशिष्ट अधिकारी होना न्याय्य है (भाग० ८।१४।७)। मनुपुत्र से तात्पर्य क्षत्रिय राजाओं से है जो उस समय पृथ्वी का पालन तथा प्रजावर्ग का संरक्षण करते हैं। 'मनुपुत्र' की अन्वर्थता इस हेतु से है कि ये राजा लोग परम्परया मनु की सन्तान हैं अथवा तदीय वंश में अन्तर्भुक्त न होने पर भी मनु-प्रणीत व्यवस्थापद्धति का समाश्रयण करते हैं दण्डनीति के विधान में और इस प्रकार प्रजाओं के संरक्षण में वे सर्वथा कृतकार्य होते हैं। भागवत के कथनानुसार प्रति-मन्वन्तर में हरि के अंशावतार का भी उदय होता है। अवतार का कार्य विश्रुत ही है—धर्म का संरक्षण तथा अधर्म का विनाश। प्रत्येक काल में ऐसी विषम परिस्थिति के उपस्थित होने पर भक्तवत्सल भगवान् इस भूतल पर अपने प्रतिज्ञानुसार स्वयं अवतीर्ण होते हैं और भक्तों का क्लेश स्वयं ध्वस्त कर देते हैं। अतएव भागवत द्वारा अंशावतार को षष्ठ अधिकारी मानने में सर्वथा औचित्य उद्भासित होता है।

निष्कर्ष यह है कि पुराण मनु को एक विशिष्ट दीर्घकाल के लिए सम्राट् तथा शास्ता मानता है। मनु आदि पाँचों व्यक्ति भगवान् विष्णु के सात्त्विक अंश हैं जिसका कार्य ही है जगत् की स्थिति करना—

> मनवो भूभुजः सेन्द्रा देवाः सप्तर्षयस्तथा।
> सात्त्विकोंऽशः स्थितिकरो जगतो द्विजसत्तम॥
>
> —विष्णु, ३।२।५४

फलतः जगत् के संरक्षण के कार्य में सहायक जितने भी अधिकारी होते हैं, वे मनु के साथ ही उत्पन्न होते हैं, अपना विशिष्ट कार्य सम्पादित करते हैं जिससे लोक में सुव्यवस्था की शीतल छाया मानवों का मंगल करती है। इस प्रकार मन्वन्तर की कल्पना लोकमंगल की भावना का एक जाग्रत् प्रतीक है। बिना सुव्यवस्था हुए विश्व का कल्याण हो नहीं सकता और

मन्वन्तर सुव्यवस्था के निर्धारण का एक सुचारु साधन है— यही उसका मांगलिक पक्ष है।[1]

अधिकारियों के नाम

मन्वन्तरों के आदिम आठ मन्वन्तरों का बड़ा ही विशद विवरण मार्कण्डेय पुराण में दिया गया है। इसमें प्रत्येक मनु का वैयक्तिक जीवनचरित बड़े विस्तार से दिया गया है जो अन्य पुराणों में उपलब्ध नहीं होता। यथा स्वारोचिष मनु की कथा ६१ अ० से आरम्भ कर ६७ अ० तक, उत्तम मनु की कथा ६९ अ० से ७४ अ० तक, तामस की कथा ७४ अ० में, रैवत की कथा ७५ अ०, वैवस्वत मनु की ७७ अ० से लेकर ७९ अ० तक है। अष्टम मनु सावर्णि के चरित-प्रसंग में ही देवी-माहात्म्य का विशद विवरण तेरह अध्यायों में (८१ अ०—९३ अ०) दिया गया है जो मार्कण्डेय-पुराण का प्रकृष्ट वैशिष्ट्य है। अन्य पुराणों में यत्र तत्र इन मनुओं की जीवनलीलाओं का सामान्य संकेत ही उपलब्ध होता है, इतना विस्तार नहीं।

प्रथम पांच मनुओं का सम्बन्ध एक ही व्यक्ति के साथ निश्चित रूप से घटित माना गया है और वह व्यक्ति हैं मानवों के आदि स्रष्टा स्वायम्भुवमनु। इन्हीं के ज्येष्ठ पुत्र थे प्रियव्रत। और इन्हीं प्रियव्रत के वंश में विष्णु-पुराण स्वारोचिष, उत्तम, तामस तथा रैवत की गणना करता है[2]। विष्णु-पुराण इस सामान्य निर्देश से ही सन्तोष करता है कि ये चारों मनु प्रियव्रत के अन्वय या वंश में उत्पन्न थे, परन्तु श्रीमद्भागवत का उल्लेख अधिक स्पष्ट तथा विशद है। वह कहता[3] है कि प्रियव्रत की अन्य जाया (बर्हिष्मती से भिन्न भार्या) में उत्पन्न पुत्र उत्तम, तामस तथा रैवत तीनों ही क्रमशः तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम मन्वन्तरों के अधिपति थे।

इसका तात्पर्य यह है कि स्वायम्भुव मनु ही निश्चित रूप से इस मन्वन्तर परम्परा के प्रवर्तक हैं और उन्हीं के वंशधर ही इस महनीय तथा मान्य

---

१. द्रष्टव्य भागवत अष्टम स्कन्ध, १४ अध्याय जहां विष्णुपुराणोक्त तथ्य का पर्याप्त समर्थन किया गया है।

२. स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।
प्रियव्रतान्वया ह्येते चत्वारो मनवः स्मृताः॥

—विष्णु, ३।१।२४

२. अन्यस्यामपि जायायां त्रयः पुत्रा आसन् उत्तमस्तामसो रैवत इति मन्वन्तराधिपतयः॥ —भागवत ५।१।२८

उपाधि के धारण करने की योग्यता रखते थे और इसी कारण यह पद इसी वंश में कम से कम पांच मन्वन्तरों तक अवश्यमेव वर्तमान था। मन्वन्तर की काल-गणना तीस करोड़ वर्षों से भी अधिक ही है। ऐसी दशा में उत्तम, तामस तथा रैवत जैसे सहोदर भ्राताओं का क्रमशः विभिन्न मन्वन्तरों के अधिपति होने की घटना पर ऐतिहासिक विपर्यय का दोष इसलिए नहीं लगाया जा सकता की भागवत के अनुसार प्रियव्रत ने एकादश अर्बुद (अरब) वर्षों तक अकेले ही राज्य का निर्वाह किया था।[1] तब ऐसे दीर्घजीवी पिता के पुत्रों को अलौकिक दीर्घ आयु मिलना कोई विलक्षण वस्तु नहीं मानी जा सकती। जो कुछ भी हो, इन तीनों का प्रियव्रतान्वय में अन्तर्भुक्त होना विष्णुपुराण के आधार पर भी मान्य है।

प्रत्येक मन्वन्तर के अधिकारियों का नामनिर्देश अनेक पुराणों में उपलब्ध है। विष्णुपुराण का विवरण बड़ा ही सुव्यवस्थित तथा विशद है[2]। भागवत में भी यह अनेक अध्यायों में है[3]। विस्तृत होने से यह सूची यहां नहीं दी गई है। केवल वर्तमान मन्वन्तर के अधिकारियों का ही नाम यहां दिया गया है। वर्तमान मन्वन्तर सप्तम है—वैवस्वत मन्वन्तर जिसके मनु सूर्य (विवस्वान्) के पुत्र महातेजस्वी तथा बुद्धिमान् श्राद्धदेव हैं। इस मन्वन्तर में आदित्य, वसु, तथा रुद्र, विश्वेदेव, मरुद्गण, अश्विनौ और ऋभु—ये देवगण हैं। देवराज इन्द्र का नाम पुरन्दर है। कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि तथा भरद्वाज—ये सप्तर्षियों के नाम हैं जो वर्तमान मन्वन्तर में अपने विशिष्ट कार्य का निर्वाह करते हैं। मनु-पुत्रों की संख्या में मतभेद है। विष्णुपुराण के अनुसार वैवस्वत मनु के ९ पुत्र हैं—इक्ष्वाकु, नृग, धृष्ट, शर्याति, नारिष्यन्त, नाभाग, अरिष्ट, करूष तथा पृषध्र (३।१।३३–३४)। भागवत के अनुसार यह संख्या १० है और पूर्वसूची में 'वसुमान्' का नाम परिगणित कर यह संख्या पूर्ण की गई है (भागवत ८।१३।२–३)।

भागवत ने प्रत्येक मन्वन्तर में भगवान् के विशिष्ट अंशावतार का भी निर्देश किया है। भगवान् स्वयं अवतार लेकर उस मन्वन्तर में होने वाली धार्मिक अव्यवस्था को दूर करते हैं, जगत् में मंगल का साधन करते हैं जिससे प्राणिमात्र का कल्याण होता है। तथ्य तो यही है कि समस्त मन्वन्तरों में देवरूप से स्थित होने वाले भगवान् विष्णु की अनुपम और सत्वप्रधाना शक्ति ही संसार की स्थिति में उसकी अधिष्ठात्री होती है—

---

१. भागवत ५।१।२९

२. विष्णुपुराण अंश ३, अध्याय १ तथा २।

३ भागवत स्कन्ध ८, अध्याय ५ तथा १३

विष्णुशक्तिरनौपम्या सत्त्वोद्रिक्ता स्थितौ स्थिता।
मन्वन्तरेष्वशेषेषु देवत्वेनाधितिष्ठति ॥

—विष्णु, ३।१।३५

प्रत्येक मन्वन्तर में विष्णुपुराण के अंशावतारों का विवरण विष्णुपुराण में मिलता है (३।१।३६—४५)। वर्तमान मन्वन्तर के आराध्यदेव वामन हैं जो कश्यप ऋषि के द्वारा अदिति के गर्भ से विष्णु के अंश से प्रकट हुए हैं[1]।

सृष्टि का आरम्भ

प्रत्येक हिन्दू अपने संकल्पवाक्य में सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान समय तक होने वाले काल का संकेत करता है। यह संकल्पवाक्य है—

ॐ तत् सत्। अद्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तरगते कुमारिका नाम क्षेत्रे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे बौद्धावतारे ····· ।

इस संकल्पवाक्य को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि ब्रह्मा जी की अपने मान से सौ वर्षों की आयु होती है। इसका तात्पर्य है कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि से लेकर महाप्रलय तक इतना काल व्यतीत होता है। ब्रह्माजी का पूर्व परार्ध अर्थात् आधा जीवन बीत गया है। अपनी आयु का ५० वर्ष व्यतीत कर वे अपने ५१ वें वर्ष में इस समय वर्तमान हैं। द्वितीय परार्ध का प्रथम कल्प (दिन) चल रहा है जिसका नाम है— श्वेत वाराह कल्प'। इस प्रथम दिन की भी १३ घड़ियाँ, ४२ पल, ३ विपल, ४३ प्रतिविपल बीत चुके हैं। जानना चाहिये कि चारों युगों की वर्ष संख्या दो प्रकार की होती है दिव्यमान से और मानुष मान से। मनुस्मृति (१।६८-७४ तथा ७९–८०), महाभारत का वनपर्व (अ० १८८।२२-२४,२६) शान्तिपर्व (अ० २३१।१६-३१) तथा भागवत (३।११।१८–२० तथा २२-२४) में चतुर्युगों के मान दिव्य वर्षों में दिये गये है। हमारा एक वर्ष होता है देवों का एक अहोरात्र। इस प्रकार देव (दिव्य) वर्ष में ३६० अंकों से गुणा करने पर मानुष वर्ष बनते हैं।

---

१ मन्वन्तरेऽत्र संप्राप्ते तथा वैवस्वते द्विज।
वामनः कश्यपाद् विष्णुरदित्यां संबभूव ह ॥

—विष्णु ३।१।४२

इसकी तुलना कीजिये भागवत ८।१३।६ से:—

अत्रापि भगवज्जन्म कश्यपाददितेरभूत्।
आदित्यानामवरजो विष्णुर्वामनरूपधृक् ॥

इसका प्रमाण ज्यौतिष तथा उससे भिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। 'मासेन स्यादहोरात्रः पैत्रः, वर्षेण दैवतः' (अमर १।४।२१), 'एकं वा एतद् देवानामहर्यत् संवत्सरः' (तैत्ति० ब्रा० ३।९।२२।१)-इसी प्रकार के प्रमापक वाक्य हैं।

युगों का मान

	देव वर्ष	मानुष वर्ष
कलियुग	१२००	४, ३२, ०००
द्वापर	२४००	८, ६४, ०००
त्रेता	३६००	१२, ९६, ०००
सत्ययुग	४८००	१७, २८, ०००
	योग १२,०००	४३, २०, ०००

शब्दों में तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष। ७१ चतुर्युगों का एक मन्वन्तर होता है, इसका सप्रमाण वर्णन ऊपर किया ही गया है। एक मन्वन्तर की मानुषवर्ष की गणना ऊपर दी गई है—३०,६७,२०,००० (तीस करोड़, सतसठ लाख, बीस हजार)। एक कल्प में १४ मन्वन्तरों की सत्ता होने से कल्प की संख्या है—४,२९,४०,८०,०००। सूर्य सिद्धान्त का वचन उद्धृत किया है जिसके अनुसार १४ मन्वन्तरों की १५ सन्धियाँ होती हैं और प्रत्येक सन्धि का वर्ष परिमाण सत्ययुग के वर्ष के बराबर होता है (१७ लाख २८ हजार वर्ष)। इस प्रकार सब सन्धियों के वर्ष मिलकर होते हैं = १७ लाख २८ हजार वर्ष × १५ = २,५९,२०,००० (दो करोड़ ऊनसठ लाख बीस हजार)। अब मन्वन्तरों के काल के साथ सन्धिकाल को मिला देने पर एककाल अथवा ब्रह्मा के एक दिन का वर्षमान हो जाता है—एक सहस्र चतुर्युगी = ४,३२,००,००,००० मानुष वर्ष (चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष)। इतने ही वर्षों की ब्रह्मा की रात्रि भी होती है, परन्तु कल्प की गणना में ब्रह्मा की रात्रि की गणना नहीं की जाती। तात्पर्य यह है कि ब्राह्म दिन ही एक कल्प का बोधक होता है। ब्रह्मा के अहोरात्र के वर्ष होते हैं—आठ अरब चौसठ करोड़। इस संख्या में ३० अंकों से गुणा करने पर ब्राह्म मास का काल निकलता है और उसमें '१२ का गुणा करने से ब्राह्म वर्ष के समय का पता चलता है। इन अंकों में एकसौ से गुणा करने पर ब्रह्मा की पूरी आयु निकलती है—३१ नील, १० खरब, ४० अरब। इस पूरी आयु में से बीते हुए कालका निर्देश ऊपर किया गया है। इस काल के भुक्त वर्षों की जानकारी अब आवश्यक है—

(विक्रम सं० २०२१, कलियुग ५०६४, सन् १९६४-६५)

भुक्त कल्प के वर्षों का विवरण

गत छः मन्वन्तरों के वर्ष	=	१,८४,०३,२०,०००
इन की सात सन्धियों के वर्ष	=	१,२०,९६,०००
साँतवें मन्वन्तर के गत २७ चतुर्युगी के वर्ष	=	०,११,६६,४०,०००
२८ त्रियुगी के भुक्त वर्ष	=	३८,८८,०००
२८ कलि का भुक्त वर्ष	=	५,०६४
	=	१,९७,२९,४९,०६४

= शब्दों में एक अरब, सनतानवे करोड़, ऊनतीस लाख, ऊनचास हजार चौसठ

कल्प के भोग्य वर्षों की गणना कल्प के वर्षों से ऊपर वाली संख्या घटा देने से सरलता से निकल सकती है। इस प्रकार पुराणों के अनुसार पृथ्वी की आयु दो अरब वर्षों के आसपास है। यह गणना आधुनिक वैज्ञानिक गणना से भी मेल खाती है।[1]

१. नये मतों के लिए द्रष्टव्य महराज नारायण मेहरोत्रा:—पृथ्वी की आयु (हिन्दी समिति लखनऊ द्वारा प्रकाशित, १९६२)

(४)

पुराण में धर्मशास्त्रीय विषय

पुराणों ने सब वर्णों के लिए लोक तथा परलोक में आनन्द से जीवन प्राप्त करने का सब से सुगम उपाय बतलाया है। वेदों में भी उस जीवनमय जीवन की उपलब्धि के साधन बतलाये हैं अवश्य, परन्तु वे कलियुगी जीवों के लिए कष्ट-साध्य, तथा शौचसाध्य हैं। कलियुग का प्राणी न तो इतना अर्थसम्पन्न है, और न इतना पवित्र है कि यज्ञों के लिए अत्यावश्यक उपकरण का भी वह संचय कर सके। इसलिए कलियुग में पुराणों के द्वारा प्रतिपाद्य धर्म के ऊपर मनीषियों का इतना अधिक आग्रह है। पद्मपुराण में व्यासजी युधिष्ठिर से ये सारगभित वचन कहे हैं—"कलियुग में मनुद्वारा प्रतिपादित तथा वेद द्वारा निर्दिष्ट धर्मों का आचरण नहीं किया जा सकता; परन्तु पुराणों में प्रतिपादित एकादशी व्रत का अनुष्ठान सुखपूर्वक अल्पधन से तथा स्वल्पक्लेश से किया जा सकता है तथा फल भी उससे महान् उत्पन्न होता है। उसलिए यमलोक से निवृत्ति पाने की अभिलाषा से प्रत्येक मनुष्य को यावज्जीवन एकादशी व्रत करना चाहिए"।[1] सूतसंहिता में भी इसी तथ्य का निरूपण किया गया है। (१।७।२२)। फलतः पुराणों ने अल्पप्रयास से सर्वसाधारण के लिए मुक्ति-प्राप्ति के सुलभ साधनों को बतलाया और आजकल पुराण की लोकप्रियता का रहस्य इसी घटना में छिपा हुआ है।

अपने पूर्वोक्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिए पुराणों ने महाभारत तथा मनुस्मृति के कतिपय नियमों का उल्लंघन भी कभी-कभी किया है। बौधायन धर्मसूत्र, मनुस्मृति तथा वशिष्ठधर्मसूत्र ने श्राद्ध में विस्तार करने का इसलिए निषेध किया है कि यह पाँच वस्तुओं का अपकर्ष करता है—सत्कार—निमन्त्रित व्यक्तियों के प्रति पूर्ण सत्कार का दिखलाना, देश तथा काल का औचित्य, शुचिता, योग्य ब्राह्मणों की प्राप्ति। इन्हीं कारणों से श्राद्ध में विस्तार न करना चाहिए—

---

१. श्रुता ते मानवा धर्मा वैदिकाश्च श्रुतास्त्वया।
कलौ युगे न शक्यन्ते ते वै कर्तुं नराधिप॥
सुखोपायमल्पधनमल्पक्लेशं महाफलम्।
पुराणानां च सर्वेषां सारभूतं महामते।
एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि॥

—पद्म ६।५३।४–६

सत्-क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः ।
पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥

(मनु ३।१२६; बौ. ध. सू. २।४।४०; कूर्मपुराण २ २२।२१)

अनुशासन पर्व तथा अन्यत्र श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मणों के पात्रत्व का विचार बलपूर्वक उद्घोषित है[1]। दैव कर्म में ब्राह्मण की योग्यता का विचार नहीं करना चाहिए, परन्तु पितृकर्म में योग्यता की परीक्षा एकान्त आवश्यक है। अनुशासन के इस तथ्य का उद्घोष वायु-पुराण में भी उपलब्ध होता है।[2] परन्तु, पुराणों ने इन दोनों नियमों के उल्लंघन के प्रति अपना पूर्ण आग्रह दिखलाया है। श्राद्ध के अवसर पर प्रभूत धन व्यय करने की शिक्षा देते हुए पुराण कभी नहीं थकते। 'वित्तशाठ्य' की इस अवसर पर पुराणों में बड़ी निन्दा है। सम्पत्ति होने पर श्राद्ध तथा एकादशी के अवसर व्यय करने में कभी भी शठता या कृपणता न करनी चाहिए। इस प्रसंग में विष्णु-पुराण में एतद्विषयक श्लोक स्मरणीय हैं जिनमें पितृगणों ने अपनी कामना अभिव्यक्त की है। ऐसे नव[3] श्लोकों (३।१४।२२-३०) में से एक दो श्लोक ही यहाँ दिये जाते हैं—

अपि धन्यः कुले जायात् अस्माकं मतिमान् नरः ।
अकुर्वन् वित्तशाठ्यं यः पिण्डान्नो निर्वपिष्यति ॥
रत्नं वस्त्रं महायानं सर्वभोगादिकं वसु ।
विभवे सति विप्रेभ्यो योऽस्मानुद्दिश्य दास्यति ॥

—विष्णु ३।१४।२२-२३

पितरों की यह भावना नितान्त सुन्दर है। इन श्लोकों का आशय है—कि हमारे कुल में क्या कोई ऐसा मतिमान् धन्य पुरुष उत्पन्न होगा जो वित्त की लोलुपता को छोड़ कर हमें पिण्डदान देगा। तथा जो सम्पत्ति होने पर हमारे उद्देश्य से ब्राह्मणों को रत्न, वस्त्र, यान और सम्पूर्ण भोग सामग्री देगा। वित्त-

---

१. ब्राह्मणान्न परीक्षेत क्षत्रियो दानधर्मवित् ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये तु न्याय्यमाहुः परीक्षणम् ॥

—अनुशासन ९०।२, (हेमाद्रिद्वारा उद्धृत)

२. न ब्राह्मणान् परीक्षेत सदा देये तु मानवः ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये च श्रूयते वै परीक्षणम् ॥

— वायु० ८३।५१

३. ये नव श्लोक वाराहपुराण १३।४०-५१ में भी अक्षरशः समान ही हैं। ३।१४।२४-३० श्लोक श्राद्धक्रियाकौमुदी में उद्धृत हैं तथा व्याख्यात भी हैं।

शाठ्य की निन्दा एकादशी-व्रत के अनुष्ठान के अवसर पर पद्मपुराण में भी की गई है (पद्म १।९।१८१; ६।३९।२१)। तीर्थस्थ ब्राह्मणों की पात्रता, अपात्रता का भी विचार पुराणों ने हेय माना है। ब्राह्मण की योग्यता का विचार पुराणों की सामान्य दृष्टि से सर्वदा ओझल रहता है। वायु पुराण ने गया तीर्थ के ब्राह्मण के कुल, शील, विद्या, तथा तप के परीक्षण को अनावश्यक बतलाया है। ब्राह्मण के पूजन मात्र से ही मुक्ति प्राप्त होती है[1]। वराह-पुराण ने इसी प्रकार मथुरा के ब्राह्मणों को पात्रता के समीक्षण से बहिर्भूत ही रखा है[2]। इस प्रकार पुराणों ने महाभारत में निर्दिष्ट दोनों नियमों का अपवाद उपस्थित किया है।

ब्राह्मणों के सद्गुणों को अपवाद मानने में पुराणों का एक गम्भीर तात्पर्य लक्षित होता है जिसे काणे महोदय ने अपने ग्रन्थ में स्फुटीकृत किया है। बौद्ध धर्म को राजकीय आश्रय प्राप्त होने पर वैदिक धर्म की रक्षा की समस्या मनीषियों के सामने प्रस्तुत हुई। ब्राह्मण ही ऐसा वर्ग था जो वैदिक धर्म के संरक्षण का महनीय कार्य करता था, परन्तु उसके योगक्षेम की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि उसकी रक्षा की व्यवस्था राजा या सम्पन्न गृहस्थ नहीं करता, तो वेद का संरक्षण क्योंकर सम्पन्न हो सकता है ? इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर ही—अपने युग की एक विषम समस्या के सुलझाने के निमित्त ही पुराणों ने ऐसी व्यवस्था दी है। तभी तो पद्मपुराण का यह वचन सुसंगत होता है—

> **तीर्थेषु ब्राह्मणं नैव परीक्षेत कथंचन।**
> **अन्नार्थिनमनुप्राप्तं भोज्यं तं मनुरब्रवीत् ॥**
>
> —पद्म, ५।२९।२१२

इसी तात्पर्य की मुख्यता को ध्यान में रखकर पुराणों ने दान, श्राद्ध, तीर्थयात्रा तथा पवित्र नदियों में स्नानादि व्रत, भक्ति, अहिंसा, भगवन्नामकीर्तन आदि को सद्गृहस्थों के लिए आवश्यक कर्तव्यों के अन्तर्गत स्वीकार किया है।

पूर्त धर्म

वैदिक समाज मे इष्टापूर्त की महिमा विशिष्ट रूपेण मान्य तथा ग्राह्य है। 'इष्टापूर्त' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के एक मन्त्र में (१०।१४।८) उपलब्ध

---

१. न विचार्यं कुलं शीलं विद्या च तप एव च।
पूजितैस्तैस्तु राजेन्द्र ! मुक्तिं प्राप्नोति मानवः ॥ —वायु ८२।२७

२. अनृग् वै माथुरो यत्र चतुर्वेदस्तथाऽपरः।
वेदैश्चतुर्भिर्न च स्यान्माथुरेण समः क्वचित् ॥ —वराह १६५।५५

होता है, परन्तु इसकी व्याख्या या अर्थ-संकेत वहां नहीं मिलता। पुराणों में इन शब्दों की व्याख्या मिलती है जिससे इष्ट वेद द्वारा प्रतिपाद्य कर्म है तथा पूर्त पुराणों द्वारा प्रशंसित कर्म है—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव साधनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते॥
वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमर्थिभ्यः पूर्तमित्यभिधीयते॥

मार्कण्डेय, १६।१२३, १२४ तथा अग्नि, २०९।२-३
=अत्रि संहिता, ४३, ४४।

तात्पर्य यह है कि जनता के कल्याण के लिए वापी, कूप, तालाव का खोदवाना, मन्दिर का निर्माण करना, याचकों को अन्न प्रदान करना 'पूर्त' कहलाता है। और इसी धर्म का अनुष्ठान पुराणों के द्वारा वहुशः प्रशंसित है। पुराणों में ऐसे वहुत से विचार हैं जो विल्कुल आधुनिक प्रतीत होते हैं, जैसे समाज की सेवा तथा आर्तों—पीडितों के दुःख का अपनयन सर्वश्रेष्ठ धर्म के रूप में परिगणित किया गया है। परोपकार को ही मुख्य धर्म वतलाने वाले कतिपय पुराण-वचन द्रष्टव्य हैं[1]।

अवतारवाद पुराणों का महनीय दार्शनिक सिद्धान्त है जिसका विस्तृत विवेचन पीछे किया गया है। अवतार के साथ ही भक्ति का सिद्धान्त भी पुराण में वैशद्येन प्रतिपादित है। भक्ति एक वैदिक तत्त्व है और इसके ऊपर किसी वाहरी प्रभाव को खोज निकालना नितान्त भ्रान्त है—इसकी सूचना अन्यत्र दी गई है। इसी से सम्वद्ध **व्रतों** का भी पुराणों में बड़ा विस्तार है। वर्ष के कतिपय मास जैसे वैशाख, अगहन तथा माघ आदि नितान्त पवित्र माने जाते हैं। तिथियों में एकादशी तो वैष्णवों के लिए तथा प्रदोष व्रत शैवों के लिए नितान्त उपादेय माने जाते हैं।

---

१. न स्वर्गे ब्रह्मलोके वा तत् सुखं प्राप्यते नरैः।
यदार्तजन्तुनिर्वाण दानोत्थमिति मे मतिः॥

मार्कण्डेय, १५।५७.

प्राणिनामुपकाराय यथैवेह परत्र च।
कर्मणा मनसा वाचा तदेव मतिमान् वदेत्॥

—विष्णु, ३।१२।४५

जीवितं सफलं तस्य यः परार्थोद्यतः सदा॥

—ब्रह्म, १२५।३६

दान का भी वैशद्येन विवरण पुराण का अपना विषय है। निबन्धकारों में अन्यतम बल्लालसेन ने अपने दानसागर में दान का बड़ा ही विशद तथा प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है जिसमें पुराणों के आवश्यक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। षोडश महादानों का विशिष्ट वर्णन भी अनेक पुराणों में उपलब्ध होता है।

श्राद्ध का विषय भी बड़ा उपादेय माना जाता है। तीर्थों में श्राद्ध का विधान आवश्यक माना जाता है। गरुड पुराण का उत्तर खण्ड प्रेतकल्प के नाम से विख्यात है (३५ अध्यायों में) जिसमें और्ध्वदेहिक क्रियाओं से सम्बद्ध हिन्दू-भावनाओं का एक विस्तृत प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। श्राद्ध के विषय में सर्वमान्य होने से गयातीर्थ की महिमा प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठित है। महाभारत के वनपर्व में गया तथा वहां के अक्षयवट का गौरव बड़ी सुन्दरता से वर्णित है। वहाँ पितृगणों का वह लोकप्रिय वचन भी उद्धृत है जिसमें वे लोग गया में श्राद्ध की संस्तुति करते हैं—

> एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ।
> यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥
>
> —वनपर्व ८४।९७

तीर्थ-महात्म्य

पुराणों में तीर्थों का महिमा का विपुल वर्णन मिलता है। यह इतना साङ्गोपाङ्गरूप से वर्णित है कि उस प्रदेश का विस्तृत भौगोलिक चित्र रुचिरता से प्रस्तुत किया जा सकता है। तीर्थयात्रा के पौराणिक प्रसंग को भूगोल का पूरक मानना चाहिये। उदाहरणार्थ स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड का समीक्षण कीजिये। रेवा—नर्मदा के तीर पर वर्तमान तीर्थों का यह सांग विवरण उस प्रदेश के भौगोलिक वृत्त की सर्वथा पूर्ति करता है। काशीखण्ड की भी दशा ऐसी ही है। इस खण्ड में काशीस्थ शैवलिंगों का इतना सुचारु वर्णन है कि उसकी सहायता से काशी के प्रख्यात स्थानों का स्थल-निर्देश भली भांति आज भी किया जा सकता है। किसी स्थान पर किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा की गई तपश्चर्या से परिपूत स्थलविशेष की संज्ञा 'तीर्थ' है। 'तीर्थ' का मूल अर्थ है वह स्थान जहां पर किसी नदी को पार किया जा सकता है। ऐसे स्थानों पर जनता का एकत्र होना स्वाभाविक है। धीरे-धीरे नदीतट होने से पवित्रता की दिव्य भावना से मण्डित होने पर वही स्थान धार्मिक तात्पर्य वाले 'तीर्थ' के रूप में परिगृहीत हो जाता है। तीर्थ मूलतः नदी से सम्बद्ध है। तदनन्तर अन्य भी पवित्र स्थल जो पर्वतों के ऊपर भी वर्तमान रहते हैं तीर्थ की संज्ञा पाने लगते हैं। तीर्थ भारतवासियों को एकता के सूत्र में बांधने वाले साधनों

में अन्यतम है। ऐसा कोई दिव्य सुन्दरता-मण्डित नदी-तीर, पर्वत-शिखर, झील या जल प्रपात नहीं है जहाँ भारतीयता के प्रसारक नहीं पहुँचे हों और पहुँच कर जिन्हें वे तीर्थ के रूप में दिव्यरूप प्रदान न किये हों।

तीर्थ की महिमा का प्रतिपादन महाभारत के समय से ही है। वनपर्व में एक बड़ा दीर्घ अवान्तर पर्व छिहत्तर अध्यायों का है (८० अ०—१५६ अ०) जो तीर्थयात्रा पर्व के नाम से विख्यात है। इन अध्यायों में तीर्थों के तीन वर्णन हैं जिसका भौगोलिक क्षेत्र क्रमशः विस्तृत तथा विस्तीर्ण होता गया है। प्रथम तीर्थों का वर्णन है पुलस्त्य के द्वारा (८० अ०-८५ अ०); दूसरा है धौम्य के द्वारा (८६ अ०-९० अ०) तथा तीसरी और पूर्ण विकसित सूची तीर्थों की है लोमश के द्वारा व्याख्यात (९१ अ०—१५६ अ०)। प्रथम दोनों सूचियों में स्थानों का निर्देशमात्र है तथा धार्मिक चूर्णिका स्वल्प मात्रा में है। तृतीय सूची में अधिकतम स्थलों का ही निर्देश नहीं है, प्रत्युत उनसे सम्बद्ध ऐतिहासिक महत्त्वशाली घटनाओं का भी विस्तृत विवरण तीर्थों के महत्त्व को भूरिशः प्रकट करता है। यथा वनपर्व के १३५ अध्याय में कनखल तीर्थ तथा गंगा का माहात्म्य वर्णित है। वहाँ प्रसंगतः रैभ्याश्रम की सूचना है जहां भरद्वाज के पुत्र यवक्रीत का नाश हुआ था। इसी प्रसंग की व्याख्या में यवक्रीत का वह विश्रुत उपाख्यान यहाँ चार अध्यायों में (१३५ अ०—१३८ अ०) वर्णित है जिसे महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ४।२।६० सूत्र के भाष्य में निर्दिष्ट किया है और जो किसी समय लोगों में नितान्त प्रख्यात था।

पुराणों ने महाभारत की इस शैली को अपनाकर तीर्थों के माहात्म्य वर्णन के अवसर पर प्राचीन आख्यानों का भी विशद उल्लेख किया है। जैसे ब्रह्म-पुराण ने तीर्थों का बड़ा विशाल विवरण है वहाँ प्राचीन आख्यानों का निर्देश करना पुराणकार कभी भूलते नहीं। ब्रह्मपुराण के १३१ अ० में यमतीर्थ के वर्णन-प्रसंग में सरमा के वैदिक आख्यान का-पूरा विवरण दिया गया है। १३६ अ० में विष्णुतीर्थ के प्रसंग में मौद्गल्य का आख्यान वर्णित है। १७१ अ० में उर्वशीतीर्थ के अवसर पर पुरूरवा का आख्यान है। यह तीर्थ वर्णन १०९ अध्याय से प्रारम्भ कर १७८ अ० तक फैला हुआ है। अग्नि-पुराण ने १०९ अ० में तीर्थों की सूची एकत्र देकर इसके अगले अध्यायों में तीर्थ-विशेषों का—गङ्गा, प्रयाग, वाराणसी, नर्मदा, गया—का पृथक्-पृथक् विवरण संक्षेप में दिया है। देवविशेषों से सम्बद्ध तीर्थों की एकत्र सूची पुराणों में उपलब्ध होती है—पितृतीर्थ सूची (मत्स्य २२ अ०), देवीपीठ सूची (मत्स्य १३ अ०) ब्रह्मतीर्थ सूची (प्रभासक्षेत्र १०५ अ०)। अग्निपुराण ने अत्यन्त संक्षिप्त विवरण केवल पूर्वनिर्दिष्ट पांच तीर्थों का ही दिया है। प्रतीत होता है कि ये तीर्थ पञ्चक—गंगा, प्रयाग, वाराणसी, नर्मदा तथा गया—अत्यन्त प्राचीन काल

से ही प्रख्याति पाते आते हैं।[1] धीरे-धीरे यह संख्या बढ़कर समग्र भारतवर्ष को ही अपने में समेटे हुई है।

राजधर्म

पुराणों में राजधर्म का विवरण अनेक स्थलों पर बहुशः उपलब्ध है। राजा की उत्पत्ति प्राचीन काल में क्यों हुई? उसके सहायक कितने अङ्ग तथा उपाङ्ग होते हैं? साम, दाम, दण्ड, भेद राजा के ये चार मुख्य धर्म कब उपयोग में लाये जाते हैं? आदि प्रश्नों का समुचित समाधान पुराणों में किया गया है। मत्स्य-पुराण में (२१९ अ०—२२६ अ०) यह विषय संक्षेप में विवृत है। राजकुमार को शिक्षा-दीक्षा किस प्रकार देनी चाहिये इसका विस्तृत विवरण २१९ अ० में यहाँ दिया गया है। राजा के सात प्रसिद्ध अंग यहाँ भी निर्दिष्ट हैं—स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, दण्ड, कोश तथा मित्र (सहायक राजागण)। साम (२२१ अ०), भेद (२२२ अ०), दण्ड (२२४ अ० तथा २२६ अ०) के प्रयोग के अनन्तर, राजा का साम्य विभिन्न देवों के साथ किस प्रकार न्याय्य तथा उचित है—इस विषय का सुन्दर वर्णन भी यहाँ एक पूरे अध्याय (२२५) में उपलब्ध है। अग्निपुराण (२१८ अ०—२३७ अ०) में भी यह विषय विस्तार से विवृत है।[2] वक्ता हैं पुष्कर जो विष्णुधर्मोत्तर (२।१।७–९) के साक्ष्य पर वरुण के पुत्र हैं तथा बोधव्य हैं परशुराम। यही पुष्करनीति विष्णुधर्मोत्तर के कई अध्यायों में वर्णित है (२।६५–७२; १४५–१६५ अ०)। वक्ता तथा बोधव्य दोनों ही वे ही हैं जैसे अग्निपुराण में। निबन्धकारों ने अपने-अपने निबन्धों में अग्निपुराणस्थ इन प्रकरणों के अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है। अग्नि-पुराण के कई अध्यायों में राम के द्वारा लक्ष्मण जी को प्रतिपादित नीति का विवेचन है (२३८ अ०—२४२ अ० तक)। यहाँ राजधर्म का ही विशेष-रूप से वर्णन है। यह रामनीति कौटिल्य के अर्थशास्त्र का बहुशः अनुसरण करती है। राम के द्वारा प्रतिपादित होने पर भी इसमें उदात्तता तथा महनीयता का नितान्त अभाव है, जिन्हें हम राम के साथ सम्बद्ध मानते आते हैं। तथ्य यह है कि यह कामन्दकीय नीति का सारसंकलन प्रस्तुत करता है जो अग्नि-

---

१. पुराणों में विविध स्थानों पर विवृत तीर्थमाहात्म्य को एकत्र कर काणे महोदय ने बड़ी सुन्दरतया प्रदर्शित किया है। देखिए उनका हिस्ट्री आव धर्म-शास्त्र' चतुर्थ खण्ड जहाँ पुराणों तथा नवीन इतिहास के आधार पर प्रधान तीर्थों के महत्त्वपूर्ण विवरण भी हैं।

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य Political Thought and Practice in the Agni Purana, Purana vol III PP. 35-37

पुराण की संग्राहक शैली के साथ पूर्ण सामञ्जस्य रखता है। गरुडपुराण के कई अध्यायों में (१०८–११५ अ०) से नीतिसार नामक उपन्यस्त प्रकरण इसी विषय से भी संवन्ध रखता है। इसमें धर्म, अर्थ तथा काम अर्थात् पुरुषार्थ से सम्बद्ध फुटकल श्लोकों का संग्रह तो है ही। साथ ही साथ राजधर्म तथा राजतन्त्र से सम्बद्ध श्लोक भी उपलब्ध होते हैं। इस नीतिसार प्रकरण के श्लोक अन्यान्य पुराणों तथा सुभाषित ग्रन्थों से अविकल अथवा किञ्चित् पाठ-भेद के साथ यहाँ उद्धृत किये गये हैं। नीतिसार प्रकरण से अनेक श्लोक गरुड-पुराण का नाम लेकर 'राजनीतिप्रकाश' में उद्धृत किये गये हैं। राज्याभिषेक का प्रसंग अग्निपुराण में आता है, जहाँ अभिषेक के निमित्त अनेक पौराणिक मन्त्र भी उपन्यस्त किये गये हैं (२१८—२१९ अध्याय)। इन प्रकरणों में राजनीति के तथ्य सम्बन्धी वातों का भी अन्वेषण किया जा सकता है, यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों के संक्षेप प्रस्तुत करने के हेतु मौलिकता की विशेष आशा नहीं है।

राजनीतिविषयक वर्णन मत्स्य, अग्नि तथा गरुड के अतिरिक्त मार्कण्डेय जैसे पुराण में तथा और विष्णुधर्मोत्तर जैसे उपपुराणों में भी प्राप्त होते हैं। इन अध्यायों के परिशीलन से पौराणिक राज-धर्म का स्वरूप भली भाँति अभिव्यक्त होता है जो महाभारत अदि ग्रन्थों में प्रतिपाद्य राजनीति से भिन्न नहीं है। राजा के विषय में मत्स्यपुराण एक बड़े पते की वात बतलाता है। वह इस प्रकार है—

> कृपणानाथ वृद्धानां विधवानां च योषिताम्
> योगक्षेमं च वृत्तिं च तथैव परिकल्पयेत् ॥
>
> —मत्स्य २१५।६४

इसका तात्पर्य है कि कृपण, अनाथ, वृद्ध तथा विधवाओं के योगक्षेम तथा वृत्ति का प्रवन्ध करना राजा का महनीय धर्म होना चाहिए। यह श्लोक महा-भारत के एक श्लोक की ओर संकेत करता है जिसमें नारदजी ने युधिष्ठिर से अनाथ, अन्ध तथा अङ्गहीन लोगों की वृत्ति नियत करने का उपदेश किया है—

> कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पङ्गून् व्यङ्गानवान्धवान्
> पितेव पासि धर्मज्ञ ! तथा प्रव्रजितानपि।
>
> —सभापर्व ५।१२४

इस प्रकार के राज्य को, जिसमें वृद्धों अनाथों, लूलों, लँगड़ों की वृत्ति का प्रवन्ध होता है जिससे वे भी संसार में जीवन निर्वाह कर सकते हैं, आजकल की भाषा में 'वेलफेयर स्टेट' अर्थात् कल्याण राष्ट्र कहते हैं। यह आजकल के नितान्त समुन्नत राष्ट्र के विकसित रूप का प्रतीक माना जाता है। आश्चर्य की वात है कि पुराणों ने राष्ट्र का यही समुज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत रखा है

जिसमें किसी दोष के कारण कोई भी प्राणी जीने के अधिकार से वंचित न रह जाय। गरुडपुराण के नीतिसार का प्रकरण अपनी नैतिक शिक्षा के लिए बड़ा ही उपोदय तथा संग्रहणीय है। संस्कृत के नीतिवाक्यों के भीतर शताब्दियों से संचित अनुभव अपनी अभिव्यक्ति पाता है। वाक्य तो होते हैं छोटे, परन्तु उनके भीतर गम्भीर अर्थ भरा रहता है। बुढ़ापे के रूप पहिचानने के लिए यह श्लोक कितना सरवान् है—

अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा।
असम्भोगश्च नारीणां वस्त्राणामातपो जरा॥

यहाँ चार पदार्थों के वार्धक्य या जीर्णता का विवरण है और ये चारों बातें गम्भीर अनुभूति के ऊपर आश्रित हैं। इसी प्रकार गार्हस्थ्य जीवन के आदर्श का संकेत इस छोटे से पद्य में कितनी रुचिरता से दिया गया है :—

यस्य भार्या विरूपाक्षी कश्मला कलहप्रिया।
उत्तरोत्तर वादास्या सा जरा, न जरा जरा॥

—गरुड १०८।२३

पुराणों में नीति के ये स्थल बड़े ही मार्मिक, सारवान् तथा उपादेय हैं[1]।

पुराणों में विज्ञान

लोकोपयोगी अनेक विद्याओं का वर्णन पुराणों में, विशेषतः विश्वकोशीय अग्नि०, गरुड० तथा नारदीय० में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। इन विद्याओं का विवरण इनके प्रतिपादक मौलिक ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। वर्णन है तो संक्षिप्त ही, परन्तु पर्याप्त प्रामाणिक है। लोक-व्यवहार के लिए इतनी भी जानकारी कम उपयोगी नहीं है। कुछ विद्यायें तो इतनी विलक्षण हैं कि उनके मूल ग्रन्थ आज बड़े परिश्रम से खोजे जा सकते हैं। पुराणों ने इन विद्याओं के आचार्यों के भी नाम तथा मत दिये हैं जो अज्ञात या अल्पज्ञात हैं। अतः संस्कृत के वैज्ञानिक साहित्य का भी परिचय पुराणों के गम्भीर अध्ययन से सर्वथा सुलभ है। इसी दृष्टि से भी पुराणों का अध्ययन लोकोपयोगी तथा कल्याणकारी है। इस विषय की स्थूल सामग्री संक्षेप में यहाँ दी गई है।

(१) अश्वशास्त्र—यह प्राचीन विद्या है। सभापर्व के ५।१०९ में अश्वसूत्र तथा हस्तिसूत्र का उल्लेख है। अश्वों की चिकित्सा के निमित्त एक

---

१. द्रष्टव्य Political Thoughts in the Puranas सम्पादक जगदीश लाल शास्त्री (लाहौर)। इस ग्रन्थ में मत्स्य, अग्नि, मार्कण्डेय, गरुड, कालिका तथा विष्णुधर्मोत्तर के राजनीतिपरक अध्याय पूरे रूप में संगृहीत हैं, तथा उनके आधार पर पुराणों के एतद्-विषयक विचार संक्षेप में दिये गये हैं।

स्वतन्त्र आयुर्वेद विभाग था जो 'शालिहोत्र' के नाम से प्रख्यात था। पुराणों से अश्व के सामान्य परिचय, उनके चलाने के प्रकार, उनके रोग और उपचार आदि विषयों की सम्यक् जानकारी हमें हो सकती है। अग्निपुराण (अध्याय २८८) में घोड़ों के चलाने के प्रकारों का बड़ा ही उपयोगी वर्णन है। इस पुराण के २८९-२९० अ० में अश्वों की चिकित्सा संक्षेप में वर्णित है। गरुडपुराण के एक (२०१ अ०) अध्याय में भी यह विषय विवृत हुआ है। इसी के प्रसंग में हस्तिशास्त्र का भी विवरण बड़ा उपयोगी है। सोमपुत्र बुध गजवैद्यक के प्रवर्तक थे—ऐसी पौराणिक अनुश्रुति मत्स्यपुराण (२४।२-३) में निर्दिष्ट है। गजायुर्वेद का वर्णन धन्वन्तरि ने किया था। इसका संक्षिप्त विवेचन गरुड-पुराण (२०१ अ०, ३३-३९ श्लो०) में उपन्यस्त है। अग्निपुराण के २८७ अध्याय में यह विषय विवृत है तथा २९१ अ० में गजशान्ति का उपन्यास है। मत्स्यपुराण में संकेतित सोमपुत्र बुध का निर्देश पालकाप्य ने अपने हस्ति-विद्याविषयक ग्रन्थ में किया है। मत्स्य का कथन इस प्रकार है—

> तारोदर-विनिष्क्रान्तः कुमारश्चन्द्रसन्निभः।
> सर्वार्थविद् धीमान् हस्तिशास्त्र प्रवर्तकः॥
> नाम्ना यत् राजपुत्रीयं विश्रुतं गजवैद्यकम्।
> राज्ञः सोमस्य पुत्रत्वाद् राजपुत्रो बुधःस्मृतः॥
>
> —मत्स्य २४।२-३

मल्लिनाथ के रघुवंश (४।३९) की टीका में 'राजपुत्रीय' से गम्भीरवेदी हस्ती का लक्षण उद्धृत किया है।

अग्निपुराण (२८२ अध्याय) गायों की चिकित्सा का अलग से वर्णन करता है। इस प्रकार पशु-चिकित्सा के त्रिविध प्रकारों का वर्णन पुराणों ने प्रस्तुत किया है।

(२) **आयुर्वेद**—आयुर्वेद एक लोकोपयोगी जनजीवन से नित्यप्रति सम्बद्ध शास्त्र है। फलतः लोक से सम्बन्ध रखने वाले पुराणों में इसकी चर्चा नितान्त स्वाभाविक है। अग्नि तथा गरुड—दोनों पुराणों से यह विषय वैशद्य से चर्चित है। आयुर्वेद के अनेक विभागों में निदान तथा चिकित्सा मुख्य है। इसके निमित्त ओषधियों के स्वरूप का तथा गुण का परिचय होना आवश्यक है। इन पुराणों में ये विषय विस्तार से विवृत हुये हैं। धन्वन्तरि यहाँ वक्ता हैं जो सुश्रुत को उपदेश देते हैं। यह धन्वन्तरि काशी के राजा दिवोदास का ही नामान्तर बतलाया जाता है। सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र बतलाये गये हैं। गरुडपुराण ५६ अध्यायों में (१४६ अ०-२०२ अ०) इस विषय का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत करता है। प्रधान रोगों के जैसे ज्वर, रक्तपित्त, कास, श्वास आदि के निदान वर्णन पहिले किया गया है (१४६ अ०—

१६७ अ०)। ओषधियों के नामों की विस्तृत सूची २०२ अ० में दी गई है तथा १७३ अ०-१९३ अ० में द्रव्यगुण का वर्णन है। गारुडीविद्या अर्थात् सर्पदंश को दूर करने की विद्या भी १९७ अ० में विवृत है, अग्निपुराण में भी इस विषय का उपयोगी उपन्यास किया गया है। अ० २७९-२८१ तक रोगों का, २८३ अ० में नाना रोगों को हरण करने वाली ओषधियों का, २८५ अ० में 'मृत-संजीवनी' नामक सिद्ध-योगों का तथा २८६ अ० में नाना कल्पयोगों का विवरण देकर पुराणकार ने चिकित्साशास्त्र का एक हस्तामलक ही मानो यहां प्रस्तुत कर दिया है। इतना तो निश्चय है कि इन पुराणों ने उपयोगी विद्याओं के सार-संकलन की अपनी प्रक्रिया के अनुसार ही यह विषय विवेचन किया है जो प्रामाणिक होने के साथ ही साथ नितान्त व्यवहारोपयोगी भी है।

वृक्षायुर्वेद भी भारत जैसे कृषिप्रधान देश के लिए तो सर्वोपरि उपादेय शास्त्र है। इसमें वृक्षों, लताओं तथा गुल्मों में लग जाने वाले रोगों की दवाओं का वर्णन है। अग्निपुराण के एक विशिष्ट अध्याय (२८२ अ०) ही ने इस विषय का प्रामाणिक, परन्तु संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। यह भारतवर्ष की एक प्राचीन विद्या है। बृहत्-संहिता की उत्पलकृत टीका (५४ अ०) में काश्यप, पराशर, सारस्वत आदि इस विद्या के प्राचीन आचार्यों के नाम निर्दिष्ट हैं तथा वचन भी उद्धृत किये गये हैं।

रत्नपरीक्षा— रत्नों की परीक्षा का विषय भी किन्हीं पुराणों में वर्णित है। गरुडपुराण में यह विषय बारह अध्यायों में काफी विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है (अध्याय ६८ ८० अ०) रत्नों का प्रथमतः विभाजन किया है और तदनन्तर उनके दोषों-गुणों का विवरण है जिससे दुष्ट रत्नों का त्याग कर निर्दुष्ट रत्न का ग्रहण किया जाय। वज्र (६८ अ०), मुक्ताफल (६९ अ०), पद्मराग (७० अ०), मरकत (७१ अ०), इन्द्रनील (७२ अ०), वैदूर्य (७३ अ० तथा ७६ अ०) पुष्पराग (७० अ०), कर्केतन (७५ अ०), पुलक (७७ अ०) रुधिर रत्न (७८ अ०), स्फटिक (७९) तथा विद्रुम (८० अ०)—इन रत्नों की परीक्षा तत्तत् अध्यायों में की गई है। अग्निपुराण के २६४ अ० मे यही विषय वर्णित है, परन्तु बहुत ही संक्षेप में पन्द्रह श्लोकों में केवल सामान्य निर्देश ही किया गया है। गरुड़ का विवरण इसकी अपेक्षा विस्तृत, विशद तथा अधिक उपादेय है। अन्य पुराणों में भी जहां यह विषय आया है उनका उल्लेख भोजराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'युक्तिकल्पतरु' में विशेष भाव से किया है[1]।

---

१. द्रष्टव्य 'युक्तिकल्पतरु' (कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज में प्रकाशित, कलकत्ता, १९१६)

वास्तुविद्या—

मन्दिर तथा राजप्रासाद के निर्माणविधि को वास्तु शास्त्र के नाम से पुकारते हैं। यह बहुत ही उपयोगी विद्या है। सामान्य गृहस्थों के ही लिए तो कम, परन्तु राजाओं के लिए अत्यधिक। मत्स्यपुराण ने इस विषय का बड़ा ही विस्तृत वर्णन अठारह अध्यायों में दिया है (२५२ अ०—२७० अ०)। अग्निपुराण में भी यह विषय अनेक अध्यायों में विकीर्ण रूप से प्रस्तुत किया है (४० अ०; ९३–९४ अ०, १०५–१०६ अ०, २४७ अ०)। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी इन विषयों का विवेचन है (२।२९–३१)। संक्षिप्त विवेंचन गरुड में भी उपलब्ध होता है (१।४६)। इन सब से विस्तृत विवेचन होने के कारण मत्स्य का विवरण विशेष महत्त्व रखता है। प्रतीत होता है कि मत्स्य ने किसी विशिष्ट वास्तुशास्त्रीय निबन्ध का सार अपने अध्यायों में प्रस्तुत किया है। यहां चार विषयों का विवेचन पुराणकार करता है :–(१) वास्तुविद्या के मूल सिद्धान्त; (२) स्थान का चुनाव तथा उस पर निर्माण की रूपरेखा; (३) देवों की मूर्तियों का निर्माण तथा (४) मन्दिर तथा राजप्रासादों की रचना। मत्स्य के २५२ अ० में इस शास्त्र के १८ आचार्यों के नाम दिये गये हैं (भृगु, अत्रि, विश्वकर्मा, मय, नारद आदि); इनमें से कतिपय नाम काल्पनिक हो सकते हैं, परन्तु जैसा अन्य स्रोतों से सिद्ध होता है अनेक नाम वास्तविक हैं। इन आचार्यों ने वास्तव में इस शास्त्र के विषय में ग्रन्थों का प्रणयन किया था[1]।

गृह निर्माण का काल (२५३ अ०), भवन निर्माण (२५४ अ०) स्तम्भ का मान निर्णय (२५५ अ०) आदि विषयों का विवरण देने के अनन्तर इस पुराण ने देवप्रतिष्ठा की विधि तथा प्रासाद-निर्माण की विधि का विवेचन विस्तार से किया है। इसी प्रसंग में प्रतिमा-लक्षण की भी चर्चा पुराणों में है। अग्निपुराण ने ४९–५५ अध्यायों में पूज्य देवता की प्रतिमाओं के लक्षण तथा निर्माण का विवरण दिया है। मत्स्य ने भी यही विषय २५८–२६४ अ० में दिया है[2]। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के तृतीय खण्ड में भी यही विषय विवृत है।

---

१. श्री तारापद भट्टाचार्य ने वास्तु विद्या के अपने अनुशीलन Canons of Indian Architecture नामक ग्रन्थ में इन अठारहों आचार्यों की ऐतिहासिकता का तथा उनके ग्रन्थों का समीक्षण प्रस्तुत किया है (१९४७ ई० में प्रकाशित)

२. मत्स्य के इन परिच्छेदों की विस्तृत तथा चित्रसमन्वित व्याख्या के लिए द्रष्टव्य डा० वासुदेवशरण अग्रवाल रचित मत्स्यपुराण—ए स्टडी–नामक अंग्रेजी ग्रन्थ (पृष्ठ ३४२–२७०)। इन पृष्ठों में यह विषय बड़ी सुन्दरता तथा विशदता के साथ विवेचित किया गया है।

पुराणों के अतिरिक्त यह विषय मौलिकरूप से मानसार, चतुर्वर्ग चिन्तामणि, सूत्रधारमण्डन, रूपमण्डन तथा बृहत्संहिता (५८ अ०) में विस्तार से दिया गया है।

ज्योतिष—ज्योतिष का भी विवरण पुराणों में यत्रतत्र उपन्यस्त है, खगोल तो भूगोल के साथ संवलित होकर अनेक पुराणों में अपना स्थान रखता यथा श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध में (१६ अ०-२५ अ०) और इसी के अनुकरण पर देवीभागवत के स्कन्ध ८ (५ अ०—२० अ०) में। गरुडपुराण में पाँच अध्याय (५९ अ०— ६४ अ०) इसी विषय के वर्तमान हैं जिनमें फलित ज्योतिष का ही मुख्यतया विवरण है। नक्षत्रदेवताकथन, योगिनीस्थिति का निर्णय, सिद्धियोग, अमृतयोग, दशा विवरण, दशाफल, यात्रा में शुभाशुभ का कथन, राशियों का परिमाण, विभिन्न लग्नों में विवाह के फल आदि विषयों का विवरण इन अध्यायों में दिया गया है। नारदीयपुराण के नक्षत्रकल्प में भी (१.५५,५६) नक्षत्र सम्बन्धी बातें दी गई हैं। इस पुराण के ५४ अ० में गणित का विवरण है। अग्निपुराण के कतिपय अध्यायों में (१२१ अ०) शुभाशुभ विवेक के विषय में वर्णन उपलब्ध है।

सामुद्रिक शास्त्र—स्त्री-पुरुषों के शारीरिक लक्षणों के विषय में किसी समुद्र नामक प्राचीन आचार्य का ग्रन्थ था। आज भी सामुद्रिकशास्त्र के नाम से एक ग्रन्थ उपलब्ध है, परन्तु यह उतना प्राचीन नहीं प्रतीत होता। स्त्री-पुरुषों के विभिन्न अंगों के स्वरूप को देखकर, उच्चता-ह्रस्वता-दीर्घता-लघुता आदि परीक्षाकर उनके जीवन की दिशा को बतलाना इस विद्या का अंग है। सुन्दरकाण्ड के एक विशिष्ट सर्ग में रामचन्द्र के अंगविन्यास का विवरण बड़ी सचेष्टता से दिया गया है। यह अंगविद्या (प्राकृत अंग बिज्जा) का विषय है। अंगविद्या सामुद्रिक विद्या के साथ सम्बद्ध एक प्राचीन-विद्या थी जिसके द्वारा नर-नारी के शरीर का विस्तृत वर्णन शुभ या अशुभ सूचना के साथ उपस्थित किया जाता था। वीरमित्रोदय के 'लक्षणप्रकाश' में मित्रमिश्र ने इस विद्या से सम्बद्ध प्रचुर सामग्री प्राचीन आचार्यों के वचनों के उद्धरण के साथ उपस्थित की है। पुराणों ने अंगविद्या का भी संकलन अपने अध्यायों में किया है। अग्निपुराण के २४३-२४५ अध्यायों में तथा गरुडपुराण के १।६३-६५ अध्यायों में यही विद्या प्रपंचित है। जैनधर्म में अनेक ग्रन्थ इसी अंगविद्या (=अंगविज्जा) से सम्बन्ध रखने वाले उपलब्ध हुए हैं जिनमें एक प्राकृत ग्रन्थ प्रकृत ग्रन्थमाला (काशी) से हाल में ही प्रकाशित हुआ है।

धनुर्विद्या

प्राचीन काल में यह विद्या अत्यन्त प्रख्यात थी, परन्तु देश के परतन्त्र हो जाने के कारण इस विद्या से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम ही यत्र-तत्र उपलब्ध होते

हैं। प्रपंचहृदय में इस शास्त्र के वक्तारूप में ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, मनु तथा जमदग्नि के नाम निर्दिष्ट हैं। महाभारत के अन्य पर्वों में इस विद्या के आचार्यों नाम संस्मृत है, अगस्त्य का नाम आदिपर्व में (१५२।१०, कुम्भकोण सं०) तथा भरद्वाज का नाम शान्तिपर्व में (२१०।२१) धनुर्विद्या के आचार्यरूप में उल्लिखित है। जमदग्नि का उल्लेख डल्हण करते हैं। अग्निपुराण के चार अध्यायों में (२४९-२५२ अ०) इस विद्या का सार संकलित किया गया है। मधुसूदन सरस्वती ने 'प्रस्थानभेद' में विश्वामित्रकृत धनुर्वेद का उल्लेख किया है, परन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।[1]

पुराणों में वर्णित विचित्र विद्यायें—

पुराणों में ऐसी विद्यायें आख्यानकों के प्रसंग में वर्णित हैं जिन पर आधुनिक मानव प्रायः विश्वास नहीं करता, परन्तु उस युग में वे सच्ची थीं तथा उनका उपयोग जनसाधारण के बीच किया जाता था। संस्कृत में 'मन्त्र', शास्त्र, माया और विज्ञान तथा पाली में मन्त और विज्जा विद्या के ही पर्यायवाची शब्द हैं। इन विद्याओं में से कुछ का संकेत यहां दिया जाता है—

(१) **अनुलेपन विद्या**—मार्कण्डेय (अ० ६१, ८-२० श्लो०) में ऐसे विशिष्ट पादलेप का संकेत है जिसे पैर में लगाने से आधे दिन में ही सहस्र योजन की यात्रा करने की शक्ति आती थी। इसके उपयोक्ता एक ब्राह्मण की चर्चा है जिसने एक अन्य ब्राह्मण को यह पादलेप दिया। इसके प्रभाव से वह हिमालय पहुंच गया, परन्तु सूरज की धूप के कारण तप्त बरफ पर पैर रखने से वह लेप धुल गया जिससे यात्रा की वह अलौकिक शक्ति नष्ट हो गई।

(२) **स्वेच्छारूपधारिणी विद्या**—मार्कण्डेय (द्वितीय अ०) में इसका सुन्दर दृष्टान्त है। जब कन्धर ने अपने भ्राता कंक के वध का बदला चुकाने के लिए विद्युद्रूप राक्षस का वध किया, तब उसकी पत्नी मदनिका ने कन्धर के निकट आत्मसमर्पण किया। मदनिका को यह विद्या आती थी जिससे स्वेच्छया अभीष्ट रूप का धारण किया जाता था। वह कन्धर के घर में आकर यक्षिणी बन गई (द्वितीय अ०)। महिषासुर ने स्वेच्छा से सिंह, योद्धा, मतंग तथा महिष का रूप धारण किया था इस विद्या के प्रभाव से (मार्क० ८३।२०; स्कन्द ब्रह्मखण्ड ७।१५-२७)। पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड में राजा धर्ममूर्ति की प्रशंसा में कहा गया है कि वह 'यथेच्छरूपधारी' था (२१।३)।

(३) **अस्त्रग्राम हृदय विद्या**—इसके द्वारा अस्त्रों का रहस्य जाना जाता था जिससे शत्रुओं का पराजय अनायास होता था। मनोरमा नामक विद्याधरी

---

१. द्रष्टव्य डा० रामशंकर भट्टाचार्य: अग्निपुराण विषयानुक्रमणी पृ० ५६-५७ जहाँ अनेक उल्लेख दिये गये हैं।

के इस विद्या के ज्ञान की कथा मार्कण्डेय (६३ अ०) में दी गई है जिसने अपने आक्रमणकारी राक्षस से मुक्ति पाने के निमित्त राजा स्वरोचिष् को यह विद्या दी थी। वहां इस विद्या के उपदेशक्रम का भी वर्णन है। रुद्र · स्वायम्भुव मनु—वसिष्ठ—चित्रायुध (इसी विद्याधरी का मातामह)—इन्दीवराक्ष (इस विद्याधरी का पिता)—मनोरमा (मार्कं० ६३।२४-२७)। मनोरमा ने इसे पात्रान्तरित करते समय जलस्पर्श कर आगम और निगम के साथ इसे राजा स्वारोचिष् को दिया।

(४) **सर्वभूतरुत विद्या**—इस विद्या के प्रभाव से मनुष्य सभी प्रकार के अमानवीय जीवजन्तुओं की ध्वनियों का अर्थ समझ लेता है। विद्याधर मन्दार की कन्या विभावरी ने यह विद्या राजा स्वरोचिष् को दहेज में दी थी (मार्कं० ६४।३)। मत्स्यपुराण (२०।२५) राजा ब्रह्मदत्त को इस विद्या का ज्ञाता बतलाता है जिसने नर-मादा चीटियों के परस्पर मनोरञ्जक प्रेमालाप को समझ लिया था। इसी राजा के विषय में इस घटना का उल्लेख पद्मपुराण (सृष्टिखण्ड १०।८५) भी करता है। आजकल बन्दरों की बोली समझने तथा उसका रेकार्ड कर उपयोग करने वाले जर्मनी के वैज्ञानिकों की बातें सुनी जाती हैं। सम्भव है भविष्य में अन्य पशुओं की बोलियां पर भी इसी प्रकार के अनुसन्धानों में सफलता मिले।

(५) **पद्मिनी विद्या**—इस विद्या के प्रभाव से नधियों को वश में किया जाता था जिससे इसके ज्ञाता को कभी भी धन की कमी नहीं होती थी। कलावती के द्वारा राजा स्वारोचिष् की इसके दान की कथा मार्क० (६४।१४) में दी गई है।

(६) **रक्षोघ्न विद्या**—यज्ञों को अपवित्र बनाने वाले राक्षसों को दूर करने की विद्या। मार्कं० ७०।२१ में बलाक राक्षस का हनन इस विद्या के द्वारा वर्णित है।

(७) **जालन्धरी विद्या**- महर्षि वाल्मीकि ने कुशलव को इस विद्या की शिक्षा दी थी (पद्मपुराण—पातालखण्ड ३७।१३)। इसके रूप का ठीक परिचय नहीं मिलता। सम्भवतः अन्तर्धान से इसका सम्बन्ध हो।

(८) **विद्यागोपाल मन्त्र**—भगवान् शंकर ने काश्यपवंशी पुण्यश्रव मुनि के पुत्र को यह मन्त्र दिया था (पाताल खण्ड ४१।१३२) इस मन्त्र के प्रभाव से, जिसमें इक्कीस अक्षर होते हैं, साधक को वाक्-सिद्धि प्राप्त होती थी।

(९) **परा बाला विद्या**—सर्वसिद्धि प्रदायिनी इस विद्या के प्रभाव से अर्जुन को कृष्णलीला का रहस्य समझ में आया था। भगवती त्रिपुरा सुन्दरी ने इस विद्या का प्रथम उपदेश अर्जुन को किया था। (पाताल खण्ड ४३।४०)

(१०) **पुरुष प्रमोहिनी विद्या**—इस विद्या के प्रभाव से स्त्रियाँ पुरुषों को मोहित कर अपने वश में कर लेती हैं। यमराज की कन्या **सुनीथा** को रम्भा द्वारा इस विद्या के शिक्षण का वर्णन भूमिखण्ड, (३४।३८) में है जिससे वह प्रजापति अत्रि के पुत्र अंश की धर्मपत्नी तथा वेण की माता बनी (भाग०)। वशीकरण विद्या का वर्णन अग्निपुराण (१२३।२६) में है। इसके कई नुसखे भी दिये गये हैं। भिन्न-भिन्न उद्‌भिद् द्रव्यों एक एक साथ पीस कर तिलक करने का विधान है जिसके लगाने से मनुष्यों को कौन कहे स्वयं देवता भी वश में हो जाते हैं।

(११) **उल्लापन विधान विद्या**—इस विद्या के प्रभाव से टेढ़ी वस्तु सीधी की जा सकती थी। श्रीकृष्ण ने इसी विद्या के बल से मथुरा की प्रख्यात कुबड़ी कुब्जा को सरल, सीधी तथा स्वस्थ बना दिया था (विष्णुपुराण ५।२०।९ - शौरिरुल्लापन विधान वित्)।

(१२) **देवहूति विद्या**—दुर्वासा द्वारा कुन्ती की दी गई विद्या जिससे देवता भी बुलाने पर प्रत्यक्ष होते थे। सूर्य भगवान् के स्मरण करने पर उनके सशरीर प्रकट होने की कथा प्रसिद्ध ही है (भाग० ९।२४।३२)

(१३) **युवकरण विद्या**—स्पर्शमात्र से ही जीर्ण वस्तुओं को युवक बनाने की विद्या। राजा शन्तनु को यह विद्या आती थी जिससे बल पर वह स्पर्शमात्र से ही बूढ़ों को नवयुवक बना देता था (भागवत ९।२२।११)

(१४) **वज्रवाहनिका विद्या**—युद्ध क्षेत्र में शत्रुओं को परास्त करने के लिए यह विद्या अचूक मानी जाती थी (लिंगपुराण ५१ अ०) इसी प्रकार अनेक चमत्कारिणी विद्याओं के संकेत पुराणों में मिलते हैं जिनमें से कुछ के नाम तथा स्थान इस प्रकार हैं— सिंहविद्या (अग्नि ४३।१३), नरसिंहविद्या (अग्नि० ६३।३), गान्धारी विद्या (अग्नि १२४।१२), मोहिनी तथा जृम्भणी विद्या (अग्नि ३२३।४—२०), अन्तर्धान विद्या (भाग० ४।१५।१५), वैष्णवी विद्या या नारायण कवच (भाग० ६।८), त्रैलोक्यविजय विद्या (ब्र० वै० गणेश खण्ड ३०।१—३२) आदि[1]।

पुराणों के गम्भीर अनुशीलन से यदि इन विद्याओं के स्वरूप का परिचय मिल सके, तो इस वैज्ञानिक युग में नवीन चमत्कार आज भी दिखलाये जा सकते हैं।

१ द्रष्टव्य कल्याणांक फरवरी १९५३ पृष्ठ १३२—१३९

चतुर्द्वीपी भूगोल

सप्तद्वीपी भूगोल

राय कृष्णदास जी के सौजन्य से